

शृंगार प्रकाश

लेखक: डॉ. वी. राघवन

अनुवादक: डॉ. पी. डी. अग्निहोत्री



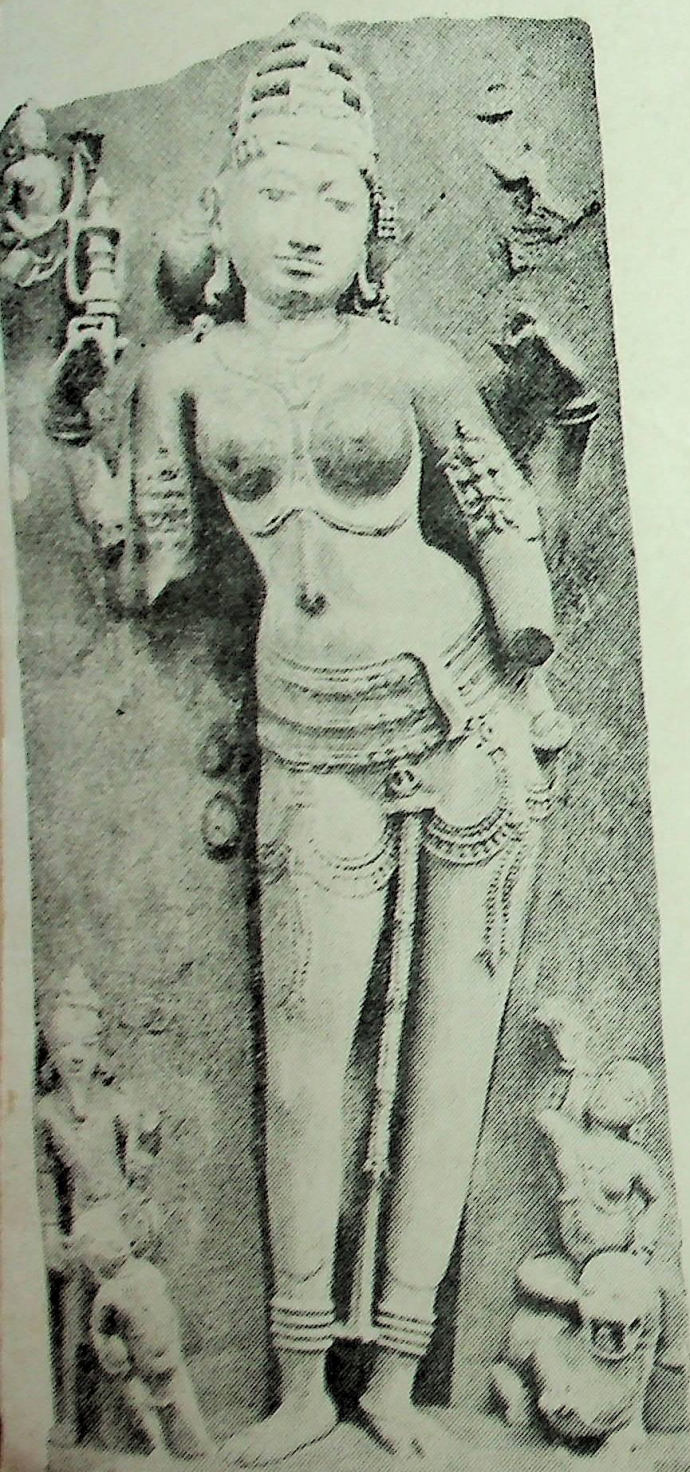
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

॥ सूर्योदयशीतोदयश्च ॥

“स्वहस्तोऽयं श्री-भोजदेवस्य”

भोज के बाँसवाड़ा प्लेट्स, एपि० इण्डि० XI पृ० 183

भोजकृत शृङ्गार-प्रकाश
(एक अध्ययन)



“श्रीमद्-भोज-नरेन्द्र-
चन्द्र-नगरी-विद्या-
धरी-बाग्देवी”

(राजा भोज की
राजधानी धारा
नगरी के मरुस्वती-
मन्दिर की विद्या-
देवी की मूर्ति)

ध्वनिर्वर्णाः पवं वाक्यमित्यास्पद्य चतुष्टयम् ।

यस्याः सूक्ष्मावि भेदेन वाग्देवी तावुपास्महे ॥

भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण-1-1 ।

महाराज भोजदेव ने सन् 1035 ई. में अपनी राजधानी धारानगरी के भोजशाला-सरस्वती-मन्दिर में वाग्देवी की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी । यह बात मूर्ति की वेदिका पर अभिलिखित है । (अभिलेख के खण्डित पाठ के लिये देखिये-रूपम्, कलकत्ता 1924) अर्जुन-वर्मा के एक शिलालेख (एपि. इण्डि. VIII पृ. 96 तथा आगे) में इस मन्दिर का भारती-भवन तथा शारदा देवी-सदम के नाम से उल्लेख है । बाद में यह मन्दिर भ्रष्ट कर मस्जिद के रूप में परिणत कर दिया गया । अब यह मन्दिर कमालमौला मस्जिद कहलाता है । मन्दिर में पूजा जाने वाली सरस्वती की मूर्ति अब ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन में है और पिछले पृष्ठ पर उसका चित्र म्यूजियम न्यासियों (ट्रस्टियों) की अनुमति से ही छपा गया है ।

“एतस्मिन् शृङ्गारप्रकाशे सुप्रकाशमेव अशेषशास्त्रार्यसम्पदुपनिषवाम् अखिल-
कलाकाव्यौचित्यकल्पनारहस्यानां च सन्निवेशो दृश्यते ।”

शृ० प्र० XI पृ० 436, जिल्द II—मद्रास पाण्डुलिपि ।

आमुख

मैंने अपने विश्वविद्यालय के अधिकारियों की अनुमति से सन् 1940 और 1945 में भोजकृत शृङ्गार प्रकाश के दो भाग प्रकाशित किये थे। इनमें 19 परिच्छेद और 548 पृष्ठ थे। दुर्भाग्यवश मुद्रणों की आर्थिक स्थिति के अचानक विगड़ जाने के कारण पुस्तक का मुद्रण पूरा न हो सका। मुद्रण के पुनः प्रारम्भ करने का अर्थ था पूरी पुस्तक को छापना, क्योंकि पूर्व प्रकाशित दोनों भागों की प्रतियाँ सीमित संख्या में छापी गयी थीं, और शीघ्र ही दुर्लभ हो गयीं थीं। पुस्तकों के बारे में लगातार मांग आ रही थी किन्तु पुस्तक के बड़े आकार, मुद्रण की बढ़ती हुई लागत और कागज मिलने में कठिनाई, इन सब कारणों से मैंने तो इसके प्रकाशन की आशा ही छोड़ दी थी।

यह अत्यन्त सन्तोष की बात है कि कम से कम अब मैं सारी पुस्तक को एक जिल्द के रूप में प्रकाशित कर पाया हूँ। उन लोगों में जो इस कृति में विशेष उत्साह से रुचि ले रहे हैं उनमें सुप्रसिद्ध विद्वान् और संरक्षक मैसूर के महाराज हिज्जहाइनेस श्री जय चामराज वाडियार के नामोल्लेख का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। इन प्रत्यक्ष भोज की उदारता के बिना प्राचीन भोज के इस विशाल ग्रन्थ पर मेरे पूर्ण समीक्षा ग्रन्थ का इस रूप में प्रकाशन शायद ही सम्भव हो पाता।

पूरी कृति को इस प्रकार एक जिल्द में प्रकाशित करने के लिये मुझे मूल पुस्तक के कुछ अध्यायों को काट छाँटकर और कुछ को छोड़कर ग्रन्थ का कलेवर छोटा कर देना पड़ा है। उदाहरण के लिये कुछ प्राचीन राम-सम्बन्धी रूपकों को ले सकते हैं जिनका उपयोग मैंने उस विषय के एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में कर लिया है।

अपने ग्रन्थ में मैंने बहुतसी पाण्डुलिपियों से सामग्री ली है। इनमें से कुछ पाण्डुलिपियाँ, इस ग्रन्थ के लिखने के बाद प्रकाशित हो गयी हैं। सन्दर्भ के रूप में जहाँ एक ओर इन पाण्डुलिपियों के मूल उद्धरण एवं उनकी पृष्ठ संख्या को कायम रखा गया है वहाँ दूसरी ओर उनके प्रकाशित संस्करणों के सन्दर्भ भी (विशेषतः अन्त की सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची में) जोड़ दिये गये हैं। कुछ ऐसे ग्रन्थों का भी, जो लेखन के समय में उपलब्ध ही थे, उपयोग कर लिया गया है।

1953-54 में इंग्लैण्ड-यात्रा के समय मंगल के रूप में मैंने जो पहला काम वहाँ किया, वह था ब्रिटिश म्यूजियम में जाकर सरस्वती की उस मूर्ति का दर्शन, जो कभी धार में महाराज भोज के विद्या-भवन में प्रतिष्ठित थी। इसके पश्चात् मैंने धार में जाकर उस विनष्ट मन्दिर को प्रत्यक्ष देखा। मैंने इस ग्रन्थ में वाग्देवी और उनके उस मन्दिर का चित्र प्रस्तुत किया है जो उनके सामने विद्यमान हैं। इस स्थान में भोज की सभा जमती थी और यहीं शृङ्गार-प्रकाश लिखा गया था।

मेरा कर्तव्य है कि मैं मैसूर के महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ। मेरी छात्रा कुमारी डी० सी० सरस्वती, एम० ए०, पी-एच० डी० ने शब्द-तालिका प्रस्तुत करने तथा उन्होंने और मेरे पुत्र आर० कालिदास ने इनके प्रूफ देखने में मेरी सहायता की। ब्रिटिश म्यूजियम के अधिकारियों ने मुझे सरस्वती का चित्र प्रकाशित करने की अनुमति दी। आर्कि-यॉलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के डा० आर० सुब्रमण्यम् ने मेरी धार यात्रा, तथा भोज-शाला के चित्र प्राप्त करने में मेरी सहायता की। ये सब मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। अडयार का वेदान्त प्रेस मुद्रण में श्रेष्ठता के लिये प्रसिद्ध है और मुझे इसके व्यवस्थापक श्री के० राम-नाथन् का उनके सहयोग के लिए आभार प्रकट करना चाहिये। पुस्तक के बाह्य आवरण पर मैंने सांकेतिक रूप में भोज के आदर्श और रस-सिद्धान्त को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसकी रूप रेखा बनाने और उसे कार्य रूप में देने में मुझे मेरे पुत्र आर० चारुदत्तन् तथा श्री ई० कोदण्डरन् ने सहायता मिली है।

विद्वज्जगत् ने दीर्घकाल से मुझे भोज के शृङ्गार-प्रकाश से सम्बद्ध कर रखा है। इसके साथ मेरी जीवन भर मंत्री रही है। विद्वज्जगत् मुझ से इस ग्रन्थ के संपूर्ण संस्कृत पाठ के सम्पादित करने की आशा करता है। मुझे प्रसन्नता है कि मैं इतना कह सकता हूँ कि प्रोफेसर डी० एच० एच० इंगल्ब्रूस् की सहायता से मैं शीघ्र ही संस्कृत पाठ का प्रकाशन पूरा करूँगा। इसके सुप्रसिद्ध हावर्ड ओरियण्टल सीरीज संस्करण के पाठ के साथ मेरी संस्कृत टिप्पणियाँ भी जुड़ी रहेंगी।

मद्रास, सितम्बर, 13, 1963

पुनर्वसु

बी० राघवन्

आमुख

(प्रथम आंशिक प्रकाशन के लिये)

यह भोजकृत शृङ्गार-प्रकाश शीर्षक शोध-निबन्ध मद्रास विश्वविद्यालय की पी-एच० डी. डिग्री के लिए प्रस्तुत किया गया था। यह मद्रास विश्वविद्यालय में सितम्बर (1931) से सितम्बर 1934 तक प्रेसिडेंसी कॉलेज मद्रास के संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के प्रोफेसर महामहोपाध्याय प्रोफे० यस० कुप्पुस्वामी शास्त्री, एम० ए० आई० ई० यस० के निर्देशन में मेरे शोध छात्र के रूप में किये गए अनुसन्धान का परिणाम है।

भोज के शृङ्गार-प्रकाश में 36 अध्याय हैं और फुलस्केप आकार की पाण्डुलिपि के 1908 पृष्ठ हैं। यह ग्रन्थ समग्र संस्कृत साहित्य के महत्तम ग्रन्थों में एक है और अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में तो यह सबसे बड़ा ग्रन्थ है। यद्यपि मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मेनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी के खोजी दल द्वारा पुस्तकालय के लिये इसकी एक हस्तलिखित प्रसस्त करने के साथ सन् 1920 में ही यह महान् ग्रन्थ प्रकाश में आ गया था तथापि अब तक कहीं भी इसका पूर्ण रूप से न तो विश्लेषण किया गया और न विवेचनात्मक समालोचन ही। अब तक भोज के शृङ्गार-प्रकाश पर कुल प्रकाशित सामग्री है—

(1) मेलकोट (Melkeote) के हिज होलीनेस श्री यदुगिरिस्वामी द्वारा प्रकाशित कुछ अध्याय 2—डा० ए० शङ्करन् के 'थिअरीज आफ रस एण्ड ध्वनि' नामक ग्रन्थ में एक छोटा-सा परिच्छेद और 3—गायकवाड़ ओरियण्टल सोरिज के अन्तर्गत प्रकाशित शारदातनय के भावप्रकाश की श्री के० यस० रामस्वामी शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका में एक अनुच्छेद (Paragraph)। संस्कृत काव्य-शास्त्र पर विवेचन के अतिरिक्त भोज की इस विशाल कृति के 1908 पृष्ठों में संस्कृत के अध्ययन की प्रायः सभी शाखाओं से सम्बन्धित हजारों महत्वपूर्ण बातें बिखरी पड़ी हैं। शोध-प्रबन्ध शृङ्गार-प्रकाश की संपूर्ण विषय वस्तु पर व्यापक समीक्षणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। जिस पाण्डुलिपि के आधार पर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है उसका वर्णन पाण्डुलिपि-सामग्री (Manuscript Material) शीर्षक प्रारम्भिक परिच्छेद में किया गया है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का शीर्षक है 'भोजकृत शृङ्गार-प्रकाश' तथापि मैंने शायद ही कहीं अपने को एक ग्रन्थ तक सीमित रखा है। इस ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में भोज की मान्यताओं के अनुसार साहित्य-समीक्षा के व्यापक परिवेश में विविध मतों के विकास का विशद वर्णन है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन न्यू इण्डियन एण्टिकेरी के सम्पादक डा० एस० एम० कामे और प्रोफे० पी० के० गोदे की निर्व्याज श्रद्धा के कारण हो सका है। मैं इस अवसर पर इन दोनों एवं इसके प्रकाशक दि कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई के प्रति आभार व्यक्त

करता हूँ । प्रोफेसर महामहोपाध्याय यस० कुप्पुस्वामी शास्त्री के निर्देशन में मुझे अनु-
संधान कार्य करने की अनुमति प्रदान करने के लिए मद्रास विश्वविद्यालय का धन्यवाद
करता हूँ । यदि मेरे निर्देशक ने पद-पद पर मेरा पथ-प्रदर्शन न किया होता तो मेरे लिये
'शृङ्गार-प्रकाश' और 'अभिनव-भारती' जैसे दुर्गम शास्त्रीय विपिन में मार्ग पा सकना
सम्भव न हो सकता ।

स्वबुद्धि-मृत्तिकाश्वेन समतारि नदी कथम् ।
ननु पोतायितं प्रेम्णा गुरुपादाम्बुजन्मनाम् ॥

मद्रास विश्वविद्यालय
15 जुलाई, 1939

वी० राघवन्

प्राक्कथन

यह शोध-प्रबन्ध अलंकार-शास्त्र के अप्रकाशित ग्रन्थ 'शृङ्गार-प्रकाश' का समग्र एवं शास्त्रीय समीक्षण है जो अलंकार-शास्त्र का विश्व-कोष कहा जा सकता है। इस विशाल ग्रन्थ में भोज ने संस्कृत ग्रन्थों में मिलने वाले भारतीय चिन्तन के सभी महत्वपूर्ण शास्त्रीय और अशास्त्रीय विचारों को साहित्य एवं साहित्यिक समीक्षा में अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। इस कार्य के लिये भोज ने जिस पद्धति को ग्रहण किया है वह समस्त उपयोगी ज्ञातव्य वस्तुओं का चयन। सौभाग्य से भोज के विशाल चिन्तन और बृहत् कृति को डा० राघवन् के विशाल बृहत् प्रबन्ध के रूप में ऐसी प्रकाशक्षेपिका प्राप्त हुई है जो संस्कृत समीक्षा के विकास के मार्ग को आगे और पीछे दूर-दूर तक आलोकित करती है।

जब यह पूरा ग्रन्थ प्रकाशित होगा तो विद्वत्समाज को पता चलेगा कि आज से सहस्र वर्ष पूर्व भोज का मस्तिष्क संस्कृत साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में किस प्रकार गतिशील था और आधुनिक युग में उसी क्षेत्र में डा० राघवन् जैसे बहुश्रुत एवं उत्कृष्ट विद्वान ने क्या कार्य किया है।

मद्रास, 9 जुलाई, 1939

एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री


(हिंदू विश्वविद्यालय)
मद्रास
प्रमुख, विश्वविद्यालय, हिंदू विश्वविद्यालय

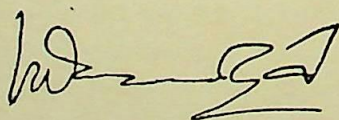
प्राक्कथन

छात्रों में मौलिक प्रतिभा के श्रेष्ठतम विकास और आविष्कारक चेतना के परिष्कार के लिए आवश्यक है कि अध्ययन प्रक्रिया के दौरान उन पर विषय की सहज संप्रेषणीयता में भाषा के अतिरिक्त दबाव को बाधक न बनने दिया जाय। स्कूल स्तर पर मातृभाषा और उच्च शिक्षा के स्तर पर अंग्रेजी का प्रयोग विषमता मूलक है। विश्वविद्यालयीन स्तर पर अंग्रेजी माध्यम होने से उन विशिष्टवर्गीय अत्यल्प छात्रों को ही अधिक लाभ मिल पाता है जिनकी स्कूली शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से हुई है। जबकि सामान्य छात्र पिछड़ जाते हैं। सुखद है कि शासन और शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान इस विषमता की ओर गया और उन्होंने निर्णय लिया कि विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से सुलभ करायी जाये।

उच्च शिक्षा में माध्यम परिवर्तन में सबसे बड़ी कठिनाई सम्बन्धित विषयों में पाठ्य ग्रन्थों के अभाव की थी। इस निमित्त केन्द्र सरकार ने पुस्तकों के प्रकाशन के लिए प्रत्येक राज्य को एक करोड़ रुपये का अनुदान उपलब्ध कराया है। केन्द्र प्रवर्तित इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य पुस्तकों के निर्माण के लिए स्थापित अकादमियों ने इस दिशा में सार्थक पहल की है। मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ने विगत १० वर्षों में विज्ञान, इंजीनियरी, आयु-विज्ञान, कृषि, विधि, कला और मानविकी आदि संकायों के विभिन्न २५ विषयों में २७५ से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित करके हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर की मानक पाठ्य पुस्तकों के अभाव की कुछ सीमा तक पूर्ति की है।

राज्य शासन द्वारा स्थापित इस अकादमी के ग्रन्थ लेखन कार्यक्रम में प्रदेश के प्राध्यापकों की सक्रिय भागीदारी रहती है। अकादमी मानक पाठ्य पुस्तक के लेखन के सन्दर्भ में शैक्षकीय प्रतिभाओं के सृजनात्मक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रही है।

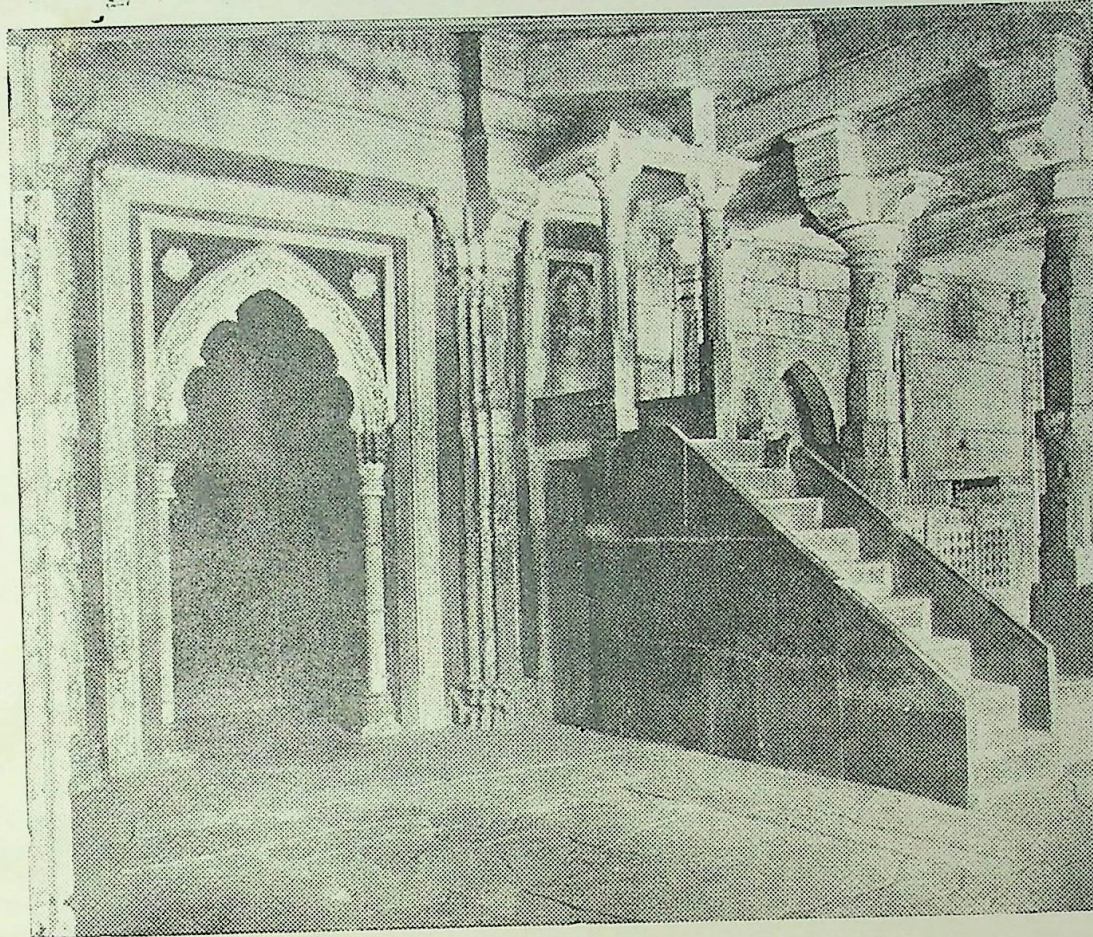
विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और सार्वजनिक ग्रन्थालयों से यह आशा की जाती है कि वे अकादमी के प्रकाशनों को अपने यहाँ समुचित स्थान देकर माध्यम परिवर्तन की प्रक्रिया में वांछित योगदान करें। प्राध्यापकों से भी यही अपेक्षा है कि वे अकादमी की पुस्तकों अपनाने के लिए छात्रों को प्रेरित करेंगे, एवं श्रेष्ठ उपयोगी और प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन के कार्य में अकादमी को अपना रचनात्मक सहयोग देंगे।



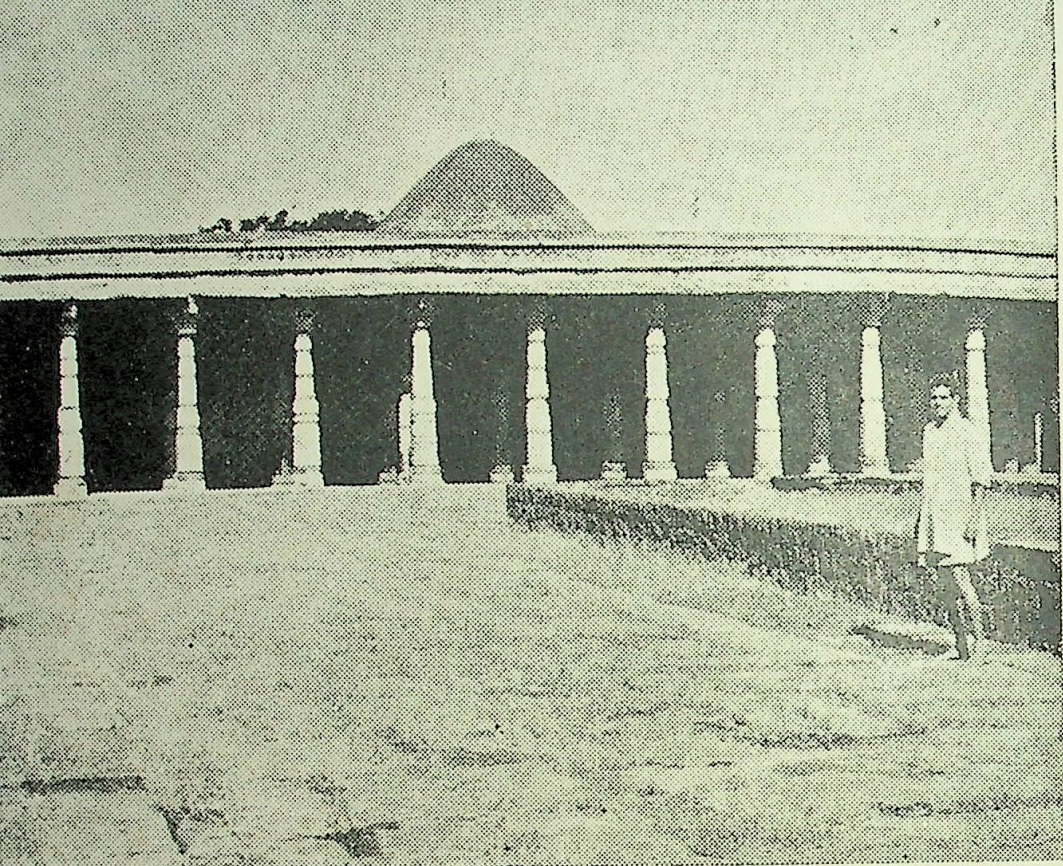
(माधवलाल दुबे)

शिक्षा मन्त्री एवं अध्यक्ष

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल



भोजशाला मन्दिर
भीतरी भाग का चित्र, जहाँ वाग्देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित थी ।



धार में भ्रष्ट किये हुये भोज के विद्या-मन्दिर (भोजशाला) के पृष्ठ भाग का
 प्रमुख कक्ष जिसमें वाग्देवी की मूर्ति स्थित थी ।

भोजकृत

शृङ्गार प्रकाश

का

समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक

डा. बी. राघवन्, एम. ए., पी-एच. डी.

अनुवादक

डा. प्रभुदयालु अग्निहोत्री, एम. ए., पी-एच. डी.



मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

© Dr. V. Raghavan, 1963

प्रकाशक : मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

संस्करण : १९८१

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक : विजय प्रिन्टर्स, उज्जैन

अनुक्रम

आमुख

प्राक्कथन

परिच्छेद

(1)	पाण्डुलिपि सामग्री	1
(2)	पाण्डुलिपि में खण्डित पाठ (शृं. प्र.)	2
(3)	शृङ्गारप्रकाश के लेखक के रूप में भोज	5
(4)	शृङ्गारप्रकाश की ग्रन्थ योजना, उसका क्षेत्र और विषय-वस्तु	9
(5)	शृङ्गारप्रकाश के छत्तीस परिच्छेदों के, वर्ण-विषय की विस्तृत जानकारी	14
(6)	सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश	60
(7)	काव्य और नाट्य	77
(8)	साहित्य	89
(9)	उक्ति	117
(10)	भोज और वक्रोक्ति	127
(11)	भोज और स्वाभावोक्ति,	149
(12)	भोज, ध्वनि और आनन्दवर्धन	156
(13)	भोज और औचित्य	208
(14)	रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति	213
(15)	दोष	233

संस्कृत

संस्कृत

संस्कृत

संस्कृत

1	संस्कृत	(1)
2	संस्कृत	(2)
3	संस्कृत	(3)
4	संस्कृत	(4)
5	संस्कृत	(5)
6	संस्कृत	(6)
7	संस्कृत	(7)
8	संस्कृत	(8)
9	संस्कृत	(9)
10	संस्कृत	(10)
11	संस्कृत	(11)
12	संस्कृत	(12)
13	संस्कृत	(13)
14	संस्कृत	(14)
15	संस्कृत	(15)
16	संस्कृत	(16)
17	संस्कृत	(17)
18	संस्कृत	(18)
19	संस्कृत	(19)
20	संस्कृत	(20)
21	संस्कृत	(21)
22	संस्कृत	(22)
23	संस्कृत	(23)
24	संस्कृत	(24)
25	संस्कृत	(25)
26	संस्कृत	(26)
27	संस्कृत	(27)
28	संस्कृत	(28)
29	संस्कृत	(29)
30	संस्कृत	(30)
31	संस्कृत	(31)
32	संस्कृत	(32)
33	संस्कृत	(33)
34	संस्कृत	(34)
35	संस्कृत	(35)
36	संस्कृत	(36)
37	संस्कृत	(37)
38	संस्कृत	(38)
39	संस्कृत	(39)
40	संस्कृत	(40)
41	संस्कृत	(41)
42	संस्कृत	(42)
43	संस्कृत	(43)
44	संस्कृत	(44)
45	संस्कृत	(45)
46	संस्कृत	(46)
47	संस्कृत	(47)
48	संस्कृत	(48)
49	संस्कृत	(49)
50	संस्कृत	(50)
51	संस्कृत	(51)
52	संस्कृत	(52)
53	संस्कृत	(53)
54	संस्कृत	(54)
55	संस्कृत	(55)
56	संस्कृत	(56)
57	संस्कृत	(57)
58	संस्कृत	(58)
59	संस्कृत	(59)
60	संस्कृत	(60)
61	संस्कृत	(61)
62	संस्कृत	(62)
63	संस्कृत	(63)
64	संस्कृत	(64)
65	संस्कृत	(65)
66	संस्कृत	(66)
67	संस्कृत	(67)
68	संस्कृत	(68)
69	संस्कृत	(69)
70	संस्कृत	(70)
71	संस्कृत	(71)
72	संस्कृत	(72)
73	संस्कृत	(73)
74	संस्कृत	(74)
75	संस्कृत	(75)
76	संस्कृत	(76)
77	संस्कृत	(77)
78	संस्कृत	(78)
79	संस्कृत	(79)
80	संस्कृत	(80)
81	संस्कृत	(81)
82	संस्कृत	(82)
83	संस्कृत	(83)
84	संस्कृत	(84)
85	संस्कृत	(85)
86	संस्कृत	(86)
87	संस्कृत	(87)
88	संस्कृत	(88)
89	संस्कृत	(89)
90	संस्कृत	(90)
91	संस्कृत	(91)
92	संस्कृत	(92)
93	संस्कृत	(93)
94	संस्कृत	(94)
95	संस्कृत	(95)
96	संस्कृत	(96)
97	संस्कृत	(97)
98	संस्कृत	(98)
99	संस्कृत	(99)
100	संस्कृत	(100)

प्रस्तावना

कला और साहित्य के क्षेत्र में धारानगरी के परमार वंशीय राजाओं का अवदान बहुत महत्वपूर्ण है। उनके द्वारा बनवाये हुए अनेक मन्दिर और जलाशय आज भी इस वंश की यशोगाथा कह रहे हैं। इस काल की अनेकों कला-कृतियाँ मध्यभारत के क्षेत्र में विखरी पड़ी हैं। ये नृपति विद्वानों और कलाकारों के आश्रयदाता होने के साथ-साथ स्वयं भी श्रेष्ठ विद्वान्, कवि और कला-दृष्टि सम्पन्न थे।

परमार वंशीय शासकों में महाराज भोज का नाम मूर्धन्य है। वह जैसे शूर और कुशल योद्धा थे, वैसे ही निखिल-शास्त्र-निष्णात कला पारखी भी उनकी गुण ग्राहकता की चर्चा से आकृष्ट होकर देश के कोने-कोने से बड़े-बड़े विद्वान्, कवि और कलाकार धारानगरी के उनके दरबार में आते और यथेच्छ धन एवं सम्मान पाकर अनेक बार लम्बी अवधि तक वहीं रुक जाते थे। उनके सहकार से भोज ने लगभग 64 ग्रन्थों का निर्माण किया था और इतने ही विरुद्ध उन्हें विद्वानों ने प्रदान किये थे। उनका प्रत्येक विरुद्ध या उपाधि उनके नाम से प्रसिद्ध किसी न किसी ग्रन्थ पर आश्रित है। कौन सा ऐसा विषय है जो भोजराज की लेखनी का स्पर्श पाकर जीवन्त नहीं हो उठा। समराङ्गण सूत्रधार जैसे वस्तु एवं मूर्ति-कला के कृत्य, कल्पतरु जैसे धर्म-निबन्ध एवं शृङ्गार-प्रकाश और सरस्वतीकण्ठाभरण जैसी साहित्य शास्त्रीय कृतियों ने उन्हें सदा-सदा के लिए अमर बना दिया है।

‘शृङ्गार-प्रकाश’ उनकी श्रेष्ठ साहित्य शास्त्रीय कृति है जिसमें अपने समस्त पूर्व-गामी प्राचार्यों के मतों का संग्रहण कर उन्हें अपने ढंग से अपनी शैली और नवीन वर्गीकरणों के साथ प्रस्तुत किया है। इसकी विवेचना में उनकी मौलिकता आज भी विशिष्ट सम्मान के साथ स्वीकार की जाती है। शृङ्गार-प्रकाश शास्त्रीय समीक्षा का विशाल सागर है। उसकी चर्चा के बिना प्राचीन साहित्य शास्त्रीय चर्चा पूर्ण नहीं मानी जाती।

इस महान् ग्रन्थ पर संस्कृत के मूर्धन्य अधिकारी विद्वान् डा० वी० एस० राघवन् ने जब अपना अनुशीलन प्रस्तुत किया था तो समग्र साहित्य जगत् में उसकी प्रशंसा हुई थी। यह अनुशीलन न केवल शृङ्गार-प्रकाश अपितु संस्कृत समीक्षा शास्त्र को नवीन तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करता है। ग्रन्थ की महत्ता को देखकर हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों की समन्वय समिति ने इसका अनुवाद कराने का निर्णय किया और यह भार मध्यप्रदेश की अकादमी को सौंपा। अकादमी के अनुरोध पर संस्कृत के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् एवं समीक्षक डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री ने डा० राघवन् की कृति के प्रथम खण्ड का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया है। मेरा विश्वास है कि साहित्यिक जगत् में इस प्रयास का उचित स्वागत होगा।

संचालक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल

... ..
... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

प्रथम परिच्छेद

पाण्डुलिपि सामग्री

भोजकृत शृङ्गार-प्रकाश का यह मेरा अध्ययन मुख्यतः गवर्नमेंट ओरियण्टल मेन्यु-स्क्रिप्ट लाइब्रेरी मद्रास, आर. सं. 3252 की शृङ्गार-प्रकाशीय पाण्डुलिपि की चार जिल्दों पर आधारित है। मैं उनका विवरण नीचे दे रहा हूँ।

प्रथम जिल्द (1-39-52) में प्रथम से षष्ठ परिच्छेद तक एवं सप्तम परिच्छेद का कुछ प्रारम्भिक भाग है। पृष्ठ 437।

शृङ्गार-प्रकाश के इस भाग-प्रथम से षष्ठ परिच्छेद तक-के सम्बन्ध में मैंने मूल पाठ एवं सामान्य त्रुटित अंशों की पूर्ति के लिए 1 से 6 परिच्छेद तक की उस प्रति का आश्रय लिया जो संग्रहालयाध्यक्ष म.म. प्रोफेसर एस. कुप्पुस्वामी शास्त्री तथा मद्रास गवर्नमेंट ओरियण्टल मेन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी के कार्यकर्त्ताओं ने तैयार की थी और जिसे वे मुद्रणार्थ भेजना चाहते थे। यह मुद्रण प्रति भी उपर्युक्त पुस्तकालय में सुरक्षित है और मलाबार की तीन ताड़पत्र पोथियों से तैयार की गयी है। मैंने उपर्युक्त अंशों के उद्धरण इसी से लिये हैं। यह मुद्रण प्रति 555 पृष्ठों की है।

द्वितीय जिल्द (1-39-53) में प्रथम जिल्द में प्राप्त सप्तम परिच्छेद के अंश के आगे से लेकर बारहवें परिच्छेद तक है। इसमें 553 पृष्ठ हैं। प्रारम्भ भाग के कुछ अप्राप्त अंशों को छोड़कर नवम, दशम और एकादश परिच्छेद शृङ्गार-प्रकाश के इस भाग की दूसरी पाण्डुलिपि में भी उपलब्ध हैं। यह प्रति एक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि से उतारी गयी है। ताड़पत्र-प्रति त्रिवेन्द्रम के संस्कृत पाण्डुलिपि प्रकाशनाध्यक्ष के पुस्तकालय में है। [आर. 3785 टी. 2.158] मद्रास गवर्नमेंट ओरियण्टल मेन्युस्क्रिप्ट लायब्रेरी]। इस उतारी हुयी प्रति के नवम, दशम और एकादश परिच्छेदों के पाठ ठीक नहीं हैं किन्तु इसका उपयोग अपनी पाण्डुलिपि के छोटे-छोटे रिक्त स्थानों को भरने के लिए किया है।

तृतीय जिल्द (1-39-54) में त्रयोदश (प्रारम्भ का कुछ अंश छोड़कर) से तेईसवें परिच्छेद तक है। इसमें 408 पृष्ठ हैं।

चतुर्थ जिल्द (1-39-55) में तेईसवें से लेकर छत्तीसवें परिच्छेद तक है। इसमें 510 पृष्ठ हैं।

इन चारों जिल्दों की कुल पृष्ठ संख्या 1908 है $(437 + 553 + 408 + 510)$ ।

द्वितीय परिच्छेद

पाण्डुलिपि में खण्डित पाठ (शृ. प्र.)

ग्रन्थपात

प्रथम जिल्द

1. पृष्ठ 25-28 और 30-31 : इन पृष्ठों में बहुत-सी पङ्क्तियाँ अप्राप्त हैं।
2. पृष्ठ 31 एक और रिक्त स्थान : वह अंश जिसमें अन्तिम दो रिक्त स्थान हैं, अव्यय एवं उसके प्रकारों का निरूपण करता है।

उपर्युक्त रिक्त पाठों की पूर्ति परिच्छेद 1 से 6 तक की प्रेस कापी में कर दी गयी है।

द्वितीय जिल्द

3. पृष्ठ 398 : दो पङ्क्तियाँ अप्राप्त हैं।
4. पृष्ठ 400, 401, 403, 404 और 409 : पङ्क्तियों में थोड़ा स्थान रिक्त है। पृष्ठ 403 और 404 पर एक भी पूरी पङ्क्ति उपलब्ध नहीं है। इनमें संख्या 3 और 4 के रिक्त स्थान सरस्वती-कण्ठाभरण के इसी विषय के अंशों के पाठ तथा शृंगार प्रकाश की अन्य प्रति के परिच्छेद 9-11 से भरे जा सकते हैं। यह प्रति पुस्तकालय में विद्यमान है।

तृतीय जिल्द

5. प्रारम्भिक अंश अर्थात् तेरहवें परिच्छेद का प्रारम्भिक भाग इस जिल्द में नहीं है। सम्भवतः अनुपलब्ध अंश परिमाण में कम ही है। इसमें शृंगार को अहङ्कारवत् बतलाया है। चार पुरुषार्थों के समान इसके भी चार प्रकार हैं — प्रवृत्ति, वृत्ति, रीति एवं नायक-नायिका-भेद आदि। चारों शृङ्गारों में से प्रत्येक के लिए एक वृत्ति है। इस त्रुटित अंश से कोई हानि नहीं है क्योंकि इस विषय का विवेचन इसी ग्रन्थ के अगले परिच्छेदों में और व्यापक रूप से किया गया है।

6. पृष्ठ 1-16, 28 और 56-58 : अधिकांश पङ्क्तियों में छोटे रिक्त स्थान हैं।
7. पृष्ठ 210 : इस भाग में मानसिक एवं वाचिक अनुभावों का निरूपण है। इस विच्छिन्नता के कारण पृष्ठ 210 पर हाव से होकर गाम्भीर्य तक के मानसिक एवं आलाप से लेकर अतिदेश तक के वाचिक अनुभावों के उदाहरण नष्ट हो गये हैं। पृष्ठ 211 पर हम लेखकों को 210 वें पृष्ठ के हाव से सीधे अतिदेश तक उछल कर पहुँचा हुआ पाते हैं। स्वयं पाण्डुलिपि में लिखा है कि मूल का एक पत्र (दो पृष्ठ) कोरा था (अत्र मातृकायामेकं पुटं शून्यं दृश्यते)।

8. पृष्ठ 236 : सांवेगिक कटाक्षों के कान्त आदि 36 प्रकारों में से कुछ के उदाहरण अनुपलब्ध हैं। पाण्डुलिपि में भी कहा है कि यहाँ मूल प्रति में ही दो पन्ना खाली थे—(अत्र मानुकायां पुटद्वयं शून्यं दृश्यते)।

9. पृष्ठ 238 : रिक्त स्थान धर्म श्रृङ्गार के परिच्छेद में है और यह पृष्ठ के अन्त के समीप है। इस रिक्त स्थान से कायिक पुण्य के तीन प्रकार खो गये हैं। इससे धर्म के प्रारम्भिक पाँच प्रकारों के निवृत्ति जैसे उदाहरण निवृत्ति धर्म के दस प्रकारों के उपसंख्यान के साथ अप्राप्य हो गये हैं।

चतुर्थ जिल्द

इस चतुर्थ जिल्द में ही सबसे अधिक त्रुटित अंश मिलता है—

10. पृष्ठ 494 : इस पाण्डुलिपि में सबसे रिक्त स्थान यहाँ है। यह पच्चीसवें परिच्छेद की समाप्ति के पास है। इससे 25 वें परिच्छेद का अन्तिम भाग, सारा 26 वाँ परिच्छेद एवं 27 वें का प्रारम्भ ही लुप्त हो गया है। इसलिए यहाँ तिगुनी क्षति हुई है।

(अ) 25 वें परिच्छेद के नष्ट भाग ज्ञान के कुछ ऐसे मौखिक स्रोतों का वर्णन करता है जिनसे पूर्वानुराग उत्पन्न होता है। ज्ञान के साधन दो वर्गों में विभक्त हैं—दर्शन और श्रवण। प्रथम में प्रत्यक्ष पर आश्रित कुछ प्रमाण आते हैं और द्वितीय में शब्द। इसके अन्तर्गत शब्द, ऐतिह्य, श्रुतानुमान, श्रुतोपमान श्रुतार्थापत्ति और श्रुतसम्भव है। ऐतिह्य से लेकर पाँच का सोदाहरण निरूपण अप्राप्त है।

(इ) पूरा 26 वाँ परिच्छेद खो गया है। इसमें विवेचित विषयों का ठीक-ठीक पता लगाना सम्भव नहीं है किन्तु सामान्यतः यह अनुमान किया जा सकता है कि नष्ट परिच्छेद पूर्वानुराग के किन्हीं पक्षों के निरूपण से सम्बन्धित था।

(उ) 27 वें परिच्छेद का पूर्वार्ध खो गया है। पता नहीं इसमें किन विषयों पर चर्चा थी। जहाँ से पाठ मिलता है वहाँ संकेत, अभिसार जैसे विषयों का वर्णन है। अन्तिम पङ्क्तियों से पता चलता है कि पूरे परिच्छेद में अभियोग का विवेचन था।

11. पृष्ठ 574 : यहाँ अवश्य ही मूल प्रति के पृष्ठ उलट-पुलट हो गये हैं। इस भाग में 29वें परिच्छेद की समाप्ति का उल्लेख है जिसमें अनुराग की 48 अवस्थाओं—दूत-संप्रेषण आदि का वर्णन था। सम्पूर्ण विषय का शीर्षक है ‘दूत-सम्प्रेषणादि’। यही नाम इस परिच्छेद का रहा होगा। पृष्ठ 574 के आसपास कहीं 29 वाँ परिच्छेद समाप्त हो गया होगा। 48 विषयों वाले इस परिच्छेद के अन्तिम शीर्षक हैं इतिवृत्ताख्यान और समीहित सिद्धि। रिक्त स्थान से पूर्व ये लगभग समाप्त हो चुके हैं और अन्तिम भाग एवं समाप्ति-सूचक वाक्य खो गये हैं।

12. पृष्ठ 574 से 578 तक : इन पृष्ठों में मान से सम्बन्धित बातों का वर्णन है किन्तु

ये 30 वें परिच्छेद का प्रारम्भ भाग नहीं है यद्यपि 30 वाँ परिच्छेद भी मान विषयक है। इस परिच्छेद का वास्तविक प्रारम्भ मैंने 578 वें पृष्ठ के अन्त में निश्चित किया है। यह परिच्छेद 649 पृष्ठ तक चलता है।

पृष्ठ 613 : 574 और 578 पृष्ठ के बीच का मैटर पृ० 613-14 पर आना चाहिए। वहाँ रिक्त स्थान है और गत परिच्छेद के अन्तिम भाग के पत्र बदल गये हैं। ऊपर यह बात कही जा चुकी है। मान शीर्षक के अन्तर्गत भी कुछ भाग पन्नों की अव्यवस्था में खो गया है।

13. पृष्ठ 622 : यहाँ थोड़ा-सा स्थान खाली है जिससे मान-हृदयादि 6 स्थानों के उदाहरण खो गये हैं।

14. पृष्ठ 678 और 831-34 : इन पृष्ठों पर पंक्तियों के बीच-बीच में स्थान खाली है।

15. पृष्ठ 840 : इसमें पूर्वानुराग-विप्रलम्भ के बाद अनुराग की 64 कोटियों में 6 उदाहरण अनुपलब्ध हैं।

16. पृष्ठ 913-17 : कुछ पंक्तियों में यत्र-तत्र स्थान रिक्त है।

17. पृष्ठ 915-16 : 36 वें परिच्छेद अर्थात् ग्रन्थ के अन्त में अपेक्षाकृत बड़ा स्थान खाली है। यहाँ पाठ के त्रुटित होने के कारण प्रेम की सम्पूर्ण और अनुबन्ध कोटियों के निर्णायक 12 अनुबन्धों में 7 अनुबन्धों के उदाहरण लुप्त हो गये हैं। संभोग की चतुर्थ श्रेणी-सम्यक् और प्रकर्ष का निर्माण करने वाले प्रेमपाक के 12 प्रभेदों की गणना तथा उनमें से 8 के उदाहरण लुप्त हैं।



भोज

भोज¹ को ज्ञान की प्रायः प्रत्येक शाखा² पर ग्रन्थ लिखने का गौरव प्राप्त है। आधुनिक विद्वान् जब इतनी भारी भरकम ग्रन्थ-सूची को एक ही लेखक के नाम से सम्बद्ध पाते हैं तो उनके मन में इन ग्रन्थों के एक ही व्यक्ति द्वारा लिखित होने के विषय में सन्देह होता है और जब वे देखते हैं कि यह लेखक राजा था तो वे सुतराम् मान लेते हैं कि ये ग्रन्थ उसके दरबारी कवियों द्वारा लिखे गये होंगे और कवियों ने अपना नाम छिपाकर अपने बदले अपने आश्रयदाता शासक को उनका यशोभागी बनने का अवसर दिया होगा।

1. भोज के काल के लिए एपि० इण्डि०। पृष्ठ 230-33 देखें। वूलर-भोज ने सन् 1010 ई० के लगभग या इसके कुछ पश्चात् शासन-सूत्र सम्हाला होगा। इनके राजमृगाङ्क की तिथि 1042 ई० है। उनकी मृत्यु 1062 ई० में हुयी।

‘इन्स्क्रिप्शन्स आफ नार्दन इण्डिया में 132 वें तथा 133 वें अभिलेख 1055 और 1056 ई० के हैं। उनमें भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का उल्लेख है। अभिलेख सं० 108 और 110 भोज के ही हैं। इनकी तिथि 1019 ई० है। (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी सं० 41 तथा ऐपि. इण्डि० सं० 11) अभिलेख सं० 111 भी, जिसकी तिथि 1021 ई० है, भोज का ही है।

2. भोज के सरस्वती-कण्ठाभरण के टीकाकार ‘आजद’ के अनुसार भोज ने 84 ग्रन्थ लिखे थे और इनके नाम उनके ही विरुद्धों के आधार पर रखे गये थे। राजमृगाङ्क और समराङ्गण-सूत्रधार आदि के समान सरस्वती-कण्ठाभरण और शृङ्गार-प्रकाश भी भोज के विरुद्ध थे।

“इहहि शिष्ट-शिरोमणि-निखिल-निरवद्य विद्या-निर्माणापूर्वप्रजापति-प्रचण्ड-भुजदण्ड-पराक्रमाजित-चतुरशीति-विरुद्ध-प्रकाशित-स्वकृत-ग्रन्थ-समाजः श्रीभोजराजः शास्त्रारम्भे” इत्यादि ॥ पृष्ठ 37

डेस्क्रिप्शन आफ मेन स्क्रिप्ट्स इन जैन भण्डार्स ऐट पत्तन-जिल्द 1, ताड़पत्र, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज 76।

चन्द्रप्रभ-सूत्र-कृत प्रभावक-चरित के (निर्णय सागर संस्करण। पृष्ठ 300) श्लोक सं० 75-78 विभिन्न विषयों पर भोज के ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं

भोज-व्याकरणं होतुं शब्दशास्त्रं प्रवर्तते ॥
 असौ हि मालवाधीशो विद्वच्चक्र-शिरोमणिः ।
 शब्दालङ्कार-दैवज्ञ-तर्कशास्त्राणि निर्ममे ॥
 चिकित्सा-राजसिद्धान्त-तरुवास्तूदयानि च ।
 अङ्क-शाकुनकाध्यात्म-स्वप्न-सामुद्रिकाण्यपि ॥
 ग्रन्थान्निमित्त-व्याख्यान-प्रश्नचूडामणीनिह ।
 विवर्त्ति चाय सद्भावेऽर्थशास्त्रं मेघमालया (?) ॥

यह तो कहा नहीं जा सकता कि स्वयं ग्रन्थ लिखकर उन्हें अपने आश्रयदाता राजा के नाम से प्रकाशित करने वाले कवि नहीं हुये। सच तो यह है कि ऐसे लेखकों की संख्या बहुत बड़ी है। ऐसे भी बहुत-से उदाहरण हैं जिनमें परवर्ती और कम प्रसिद्ध लेखकों ने अपने नामों को प्रकट न कर अपनी मूल कृतियों को किन्हीं विख्यात प्राचीन लेखकों के नाम से इसलिए प्रसिद्ध कर दिया जिससे वे कृतियाँ मरने न पायें। इनमें पहली बात अर्थात् अपना नाम हटाकर कृति को उन महान् लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों के नाम से प्रकाशित करना, जिनसे वे उपकृत हों, न केवल प्राचीन भारत और संस्कृत साहित्य में ही मिलती है, अपितु हमारे आज के शोध-जगत् में भी देखी जा सकती है। इस बात को जाने दें, और उपर्युक्त दोनों तथ्यों को स्वीकार कर लें तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि राजाओं में भी कुछ उच्चकोटि के विद्वान् हुये हैं। हम आजकल के लेखकों को देखते हैं जिनमें कुछ तो तरह-तरह के सार्वजनिक क्रिया कलापों में व्यस्त रहते हैं फिर भी नाना विषयों पर मोटे-मोटे पोथों का निर्माण करते हैं। कभी-कभी तो ये ग्रन्थ ज्ञान की परस्पर सम्बद्ध शाखाओं पर भी होते हैं। इन बातों को देखते हुए हम निश्चय ही यह विश्वास कर सकते हैं कि प्राचीन हिन्दू शिक्षण पद्धति और ज्ञान के प्रति हिन्दूओं की प्राचीनकालीन निष्ठा ने ज्ञान के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित बहुसंख्यक ग्रन्थों का निर्माण करने में समर्थ दिग्गज विद्वानों को जन्म दिया था।

अब हम सामान्य समस्याओं को छोड़कर इस बात पर विचार करेंगे कि भोज शृङ्गार प्रकाश के रचयिता हैं या नहीं। शृङ्गार-प्रकाश से परिचित सभी लेखकों ने इसे भोज की कृति कह कर उद्धृत किया है। इस ग्रन्थ में पुरस्कृत विशिष्ट मत भी भोज के कह कर ही उद्धृत किये गये हैं। आलङ्कारिक के रूप में भोज का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। यद्यपि शृङ्गार-प्रकाश का आकार इतना बृहद् है तो भी इसमें सर्वत्र रचना की एकरूपता और अपने समस्त गुण-दोषों के साथ चिन्तन की शैली दृष्टिगोचर होती है और प्रचलित विश्वास का खण्डन करने तथा भोज के विशद ज्ञान एवं पाण्डित्य की सम्भावना को अप्रसिद्ध करने की क्षमता न होने पर हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि शृङ्गार-प्रकाश के रचयिता भोज ही थे।

फिर भी जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आधुनिक विद्वान् इस बात पर विश्वास नहीं करते कि इतने सारे ग्रन्थ महाराजा भोज ने स्वयं लिखे हैं। उदाहरणार्थ-आफ्रेट (Aufrecht) ने कैटेलागस कैटेगोरम् (Catalogus Catagorum) में भोज के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों की सूची देने से पूर्व कहा है कि यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से एक ग्रन्थ भी भोज द्वारा नहीं लिखा गया था। ये ग्रन्थ या तो उनके दरबारी या उनके समकालीन कवियों की कृति हैं। श्री ए. रङ्गस्वामी सरस्वती ने शृङ्गार-प्रकाश के 22-24 अध्यायों के श्री यदु-गिरि स्वामी के संस्करण की भूमिका में कुछ नम्र शब्दों में कहा है कि शृङ्गार-प्रकाश में प्राप्त होने वाले विषय का सूक्ष्म विवेचन तथा भावों के विविध सूक्ष्म पक्षों के उदाहरण के लिए चुने गये सैकड़ों उद्धरण अनेकों विद्वानों के प्रयत्न का परिणाम हैं। इन विद्वानों ने एक प्रमुख के निर्देशन में कार्य किया होगा। प्रस्तुत प्रकरण में यह प्रमुख एक सुसंस्कृत महाराज है (पृ० 7) किन्तु 'सूक्ष्म विश्लेषण' और 'उद्धरणों के चयन' से यह कल्पना तो

नहीं की जा सकती कि यह कृति अनेकों लेखकों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है।

श्रीधर दास के संग्रह-ग्रन्थ 'सदुक्तिकर्णामृत' में प्रथम मञ्जुल-श्लोक अर्धनारीश्वर विषयक है। यह शृङ्गार-प्रकाश से लिया गया है —

अच्छिन्न-मेखलमलद्वध — दृढोपगूढमप्राप्त — चुम्बनमनीक्षित — वक्त्रकान्ति ।

कान्ता-विमिश्र-वपुषः कृत-विप्रलम्भ-संभोग-सख्यमिव पातु वपुः पुरारेः ।

(पृष्ठ 37 — विब्लियोग्राफि का इण्डिका संस्करण, पृष्ठ 22 पंजाब ओरियण्टल सीरीज संस्करण 1)

यह पद्य चित्तप¹ कवि के नाम से उद्धृत है जिसे चित्तप, क्षित्तप, चित्रिम और चिन्नम² भी कहा गया है। सदुक्तिकर्णामृत में इस कवि के नाम से दिये गये लगभग³ 40 पद्यों में से कुछ सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गार-प्रकाश में उद्धृत हैं। इन पद्यों में से बहुतों में राज-प्रशस्तियाँ हैं जिनमें भोज पर बहुत थोड़ी हैं। वल्लभदेश की सुभाषितावली में भोज से सम्बन्धित चित्तप कवि का उल्लेख करने वाला एक पद्य है (पृ० 30 श्लोक 186-पीटर्सन (Peterson का संस्करण) — 'भोज-चित्तप-विलहण प्रभृतिभिः' इत्यादि) चन्द्रप्रभ सूरि के प्रभावक-चरित (नि०सा०सं० भाग 1 पृ० 242 तथा आगे) में चित्तप का भोज के सभा-कवि तथा कर्दमराज के शिष्य के रूप में उल्लेख है। इस सब बातों पर संयुक्त रूप से विचार करने के पश्चात् कोई भी इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेगा कि भोज के राजकवि चित्तप ने शृङ्गार-प्रकाश की रचना की है।

सदुक्तिकर्णामृत में चित्तप के पद्यों की बहुलता और उसका एवं चित्तप का काल-सामीप्य (स्थान-सामीप्य नहीं) किसी भी व्यक्ति को यह स्वीकार करने के लिये प्रेरित करते हैं कि सदुक्तिकर्णामृत की बात में वजन है और उसे प्रामाणिक मानना चाहिये। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कोई पद्यावलि संग्रह किसी बात को सिद्ध करने में प्रमुख प्रमाण नहीं माना जा सकता। भोज और विलहण दोनों को साथ-साथ भोज के प्रशस्ति-गायक कवि ठहराने वाला सुभाषितावली का पद्य-यदि उसका तात्पर्य यह हो कि वे दोनों भोज के दरबार में थे — ऐसी बात कहता है जिसकी शुद्धता काल-क्रम की दृष्टि से संदिग्ध है। इस पद्य से इस सम्भावना का खण्डन नहीं हो जाता कि वे दोनों कवि अपने प्रशस्ति-नायक भोज से पीछे के हुये होंगे और प्रभावक-चरित तो केवल कहानियों की पुस्तक है।

1. यह श्लोक अन्य पद्यावलियों, यहाँ तक कि विलहण की सूक्ति-मुक्तावली में भी नहीं मिलता।
2. देखिये शार्ङ्गधर पद्धति, आफ्टे का कैट० कैट० (1 ला, पृ० 1936), गणरत्न महोदधि — सं० एगेलिङ्ग (Eggeling) पृ० 8 एवं 140 तथा एफ. डब्ल्यू. थामस (F. W. Thomas) द्वारा कवीन्द्र-वचन-समुच्चय की भूमिका — पृ० 37-40।
3. पंजाब ओरियण्टल सीरीज संस्करण-पृ० 5, 14, 15, 22, 89, 186-7, 187, 189-190, 191, 192, 194, 194, 194, 196, 199, 200, 203, 206, 207, 212, 213, 215, 218, 219, 221, 221, 242, 246, 259, 274, 277, 285, 293, 294, 294, 327

और यदि सदुक्तिकर्णामृत का यह कथन ठीक भी हो कि 'अछिन्न-मेखलम्' आदि श्लोक चित्तप कवि का है तो भी इस बात की स्वभावतः सम्भावना की जा सकती है कि भोज ने अपने शृङ्गार-प्रकाश में मङ्गलाचरण के लिए अपनी सभा के किसी कवि के उपर्युक्त श्लोक का उपयोग कर लिया होगा।

शृङ्गार-प्रकाश चाहे भोज ने लिखा हो और चाहे चित्तप या किसी अन्य कवि ने भोज क नाम पर लिख दिया हो, निश्चय ही अत्यन्त मनोरम ग्रन्थ है। ग्रन्थ में विशेष रूप से पाया जाने वाला अहङ्कार-अभिमान-शृङ्गार नामक नवीन रस का प्रतिपादन काव्य-शास्त्र से सम्बन्धित विविध प्रसंगों के निरूपण में महत्वपूर्ण मौलिक उद्भावनायें, उदाहरणों के रूप में उद्धृत विशिष्ट साहित्यांश (जो इसके अभाव में प्रसिद्धि न पा सका हो तो) और सर्वत्र झलकने वाला (यदि उसे आधिकारिक न कहें तो भी) उच्चकोटि का चिन्तन इसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। अब इन सब के उचित निरूपण की ओर बढ़ना समीचीन होगा।



चतुर्थ परिच्छेद

शृङ्गार-प्रकाश की ग्रन्थ योजना, उसका क्षेत्र और विषय-वस्तु

आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम् ।

प्रधान-संविधानाङ्क-नाम्नापि कुरुते कविः ॥

‘वक्रोक्ति-जीवित’ में कुन्तक ने कहा है कि लेखकों को अपने ग्रन्थों का नामकरण इस ढंग से करना चाहिये कि नाम से ही उनके वर्ण्य-विषय एवं मुख्य विचार का पता लग जाय । ग्रन्थों के नाम ‘अभिज्ञान-शाकुन्तल’, ‘मुद्राराक्षस’ आदि के समान सार्थक होने चाहिये । ‘रामाभ्युदय’ और ‘रामचरित’ आदि के समान नहीं । शृङ्गार-प्रकाश का नाम भोज की पूर्व-रचित अपेक्षाकृत बहुत छोटी-सी अन्य कृति ‘सरस्वती-कण्ठाभरण’ के समान नहीं है । शृङ्गार-प्रकाश सार्थक नाम है । इसका उद्देश्य शृङ्गार रस की व्याख्या या निरूपण है । इस विशाल ग्रन्थ का मुख्य भाग अहंकार, अभिमान या शृङ्गाररस विषयक भोज के नवीन मत का प्रतिपादन करता है और ग्रन्थ के नामकरण के लिये भोज इस बात को महत्त्वपूर्ण समझते हैं । इसके अतिरिक्त शृङ्गार रस के इस अहंकार की व्याख्या ग्यारहवें परिच्छेद में तथा पुरुष और स्त्री-विषयक रति पर आधारित निम्नकोटिक शृङ्गार रस की चर्चा तेरहवें, पन्द्रहवें, बीसवें और बाईसवें से छत्तीसवें परिच्छेद तक की गयी है । इस प्रकार इस सम्पूर्ण ग्रन्थ के दो प्रमुख विषय हैं—मुख्य और गौण शृङ्गार । और इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम शृङ्गार-प्रकाश रखा गया है ।

भोज ने ग्यारहवें परिच्छेद में रचना के अन्तिम प्रकार को साहित्य-प्रकाश नाम दिया है और कहा है कि उनका अपना शृङ्गार-प्रकाश इस प्रभेद का उदाहरण है । इस तरह हम शृङ्गार-प्रकाश का नाम साहित्य-प्रकाश भी मान सकते हैं क्योंकि शृङ्गार-प्रकाश की सम्पूर्ण ग्रन्थ-योजना साहित्य शब्द में अन्तर्भूत है । भोज ने अपने परिच्छेद में कहा है कि रस वह परम तत्त्व है जिसके कारण पुरुष रसिक कहे जाते हैं और सहृदय लोग उस रस का ग्रहण नाटक तथा काव्य के माध्यम से करते हैं । शब्द और अर्थ ही सम्पृक्त होकर काव्य कहलाते हैं । ‘शब्दाथौ सहितौ काव्यम्’ । भोज ने ग्रन्थ का प्रारम्भ भामह से उधार ली हुई काव्य की इस मौलिक परिभाषा से किया है । शब्द, अर्थ और साहित्य इन तीन शब्दों से हम अनुमान कर सकते हैं कि यह महान् ग्रन्थ ‘शृङ्गार-प्रकाश’ किस प्रकार आगे बढ़ा है । इस ग्रन्थ में शब्द, अर्थ और साहित्य का विवेचन है । प्रथम छै परिच्छेद विशुद्ध व्याकरण से सम्बन्धित हैं । इनमें शब्द, अर्थ और उनके प्रकारों का विवेचन है । सप्तम परिच्छेद से साहित्य अर्थात् शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा प्रारम्भ होती है । यह सम्बन्ध स्वयं दो

भागों में विभाजित किया जा सकता है—व्याकरणिक सम्बन्ध और काव्यात्मक सम्बन्ध । भोज ने व्याकरणिक भाग को भी चार-चार के दो वर्गों में बाँट दिया है—केवल शब्द-सम्बन्ध-शक्ति और साक्षेप-शब्द-सम्बन्ध-शक्ति । इस प्रकार व्याकरणिक सम्बन्ध आठ हैं —

- (1) अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य और प्रविभाग
- (2) व्येयक्षा, सामर्थ्य, अन्वय और एकार्थीभाव

भोज ने सप्तम और अष्टम परिच्छेद में इनका प्रतिपादन किया है । ग्रन्थ का शेष सम्पूर्ण भाग बचे हुए काव्यात्मक सम्बन्धों के चार भागों — दोषहीन, गुणोपादान, अलंकार-योग और रसावियोग ने लिया है । एक प्रकार से ये चारों प्रतिपाद्य ग्यारहवें परिच्छेद तक समाप्त हो जाते हैं । नवम परिच्छेद में दोषों और गुणों, दशम में अलङ्कारों के तीन भेदों और एकादश में रस का विवेचन है । बारहवें परिच्छेद में रूपक रचना पर विचार किया गया है और यह ग्यारहवें परिच्छेद की विषय-वस्तु के साथ आंशिक रूप से संयुक्त है । ग्रन्थ के शेष सम्पूर्ण भाग में अर्थात् तेरहवें से लेकर छत्तीसवें परिच्छेद तक एक-मात्र रस की चर्चा है । काव्य में शब्द और अर्थ का यह चतुर्थ और सबसे बड़ा साहित्य है । इस प्रकार शृङ्गार प्रकाश के इस गगन-चुम्बी प्रासाद की मूल भित्ति और निर्माण-योजना साहित्य के मूल पर आधारित है, जिसे तीन शब्दों में व्यक्त किया गया है — शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । इस तरह जैसे शृङ्गार-प्रकाश यह नाम किसी भी पाठक को बाहर से इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु का सङ्केत देता है उसी प्रकार 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' द्वारा व्यक्त शब्द और साहित्य-विषयक धारणा उसे ग्रन्थ में प्रवेश करते ही इस बात का सङ्केत दे देती है कि यह ग्रन्थ विषय का विवेचन करता हुआ किस प्रकार आगे बढ़ा है ।

शृङ्गार-प्रकाश काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र दोनों विषयों का ग्रन्थ है । भामह, दण्डी और वामन ने नाटक का उल्लेख किया है और इस विषय के अन्य ग्रन्थों की भी चर्चा की है, किन्तु स्वयं को काव्यशास्त्र तक ही सीमित रखा है । सम्भवतः राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' के प्रथम अधिकरण के प्रारम्भ में दी गयी योजना के अंग-रूप काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र दोनों का विवेचन किया होगा । भट्ट तौत के शिष्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित 'अभिनव-भारती' में दिये गये उद्धरणों से पता चलता है कि तौत के ग्रन्थ 'काव्य-कौतुक' में भी दोनों शास्त्रों का विवेचन किया गया था । यही बात भट्टनायक के 'हृदय-दर्पण' के विषय में कही जा सकती है । किन्तु अब ये ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं । उस समय की सामान्य प्रवृत्ति किसी विशेष मत के प्रतिपादन के लिए विशेष ग्रन्थ लिखने की ओर थी, विषय की समस्त शाखाओं पर व्यापक ग्रन्थ लिखने की ओर नहीं । जिस प्रकार केवल काव्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ थे उसी प्रकार नाट्यशास्त्र पर भी 'दशरूपक' जैसे ग्रन्थों की रचना हुई थी । काव्य और नाट्य दोनों शाखाओं पर एक ही ग्रन्थ लिखने वाले ऐसे लेखकों में जिनके ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, सम्भवतः भोज प्रथम थे । आगे चलकर विश्वनाथ और विद्यानाथ जैसे लेखकों ने भोज की पद्धति का अनुसरण किया । दूसरे कुछ लेखकों ने मम्मट द्वारा 'काव्य-प्रकाश' में, प्रदर्शित आदर्श का अनुगमन कर नाट्यशास्त्र को अपनी कृति से अलग रखा । कुछ कृतियों ने

‘दशरूपक’ का आदर्श अपनाया। इनमें शिङ्ग भूपाल के ‘रसार्णव-सुधाकर’ का नाम लिया जा सकता है जिसमें रस और रूपक के दस भेदों का वर्णन है। साहित्य का ज्ञान-कोष होने के साथ-साथ शृङ्गार-प्रकाश प्रस्थान ग्रन्थ भी है। इसकी रचना विशिष्ट काव्य-सिद्धान्त की स्थापना एवं काव्यास्वादन के लिये हुई थी और इस दृष्टि से यह ग्रन्थ एक सीमा तक ‘ध्वन्यालोक’ और ‘वक्रोक्ति जीवित’ आदि से मिलता-जुलता है। इस ग्रन्थ में भोज ने नवीन रस सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास किया है।

यह भी प्रतीत होता है कि भोज ने भरत का अनुगमन करने का यत्न किया है। भरत के ‘नाट्य-शास्त्र’ का मुख्य उद्देश्य नाट्य का विवेचन करना है फिर भी इसमें काव्य की चर्चा है। भरत के ग्रन्थ में छत्तीस अध्याय हैं और शृङ्गार-प्रकाश में भी। भरत ने एक सीमा तक संस्कृत भाषा और उसके व्याकरण का विवेचन किया है किन्तु भोज ने इन दोनों पर व्यापक प्रकाश डाला है। यह आश्चर्य की बात है कि भोज ने छन्दशास्त्र को सर्वथा छोड़ दिया है जो काव्य शास्त्र से घनिष्ठता के साथ सम्बद्ध है। वे चाहते तो पद-वाक्य-शास्त्र की अपेक्षा अपने ग्रन्थ में छन्दशास्त्र को अधिक औचित्य के साथ स्थान दे सकते थे। आगे चलकर कवि-समय ने अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया और बहुत से अलङ्कार ग्रन्थों में उसके लिये निश्चित स्थान दिया जाने लगा तथा उस पर कई-कई अध्याय लिखे जाने लगे। भोज के पूर्ववर्ती आचार्य राजशेखर के ग्रन्थ ‘काव्य-मीमांसा’ का एक भाग कवि-समय और कवि-शिक्षा है। शृङ्गार-प्रकाश की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में यह कहना भी आवश्यक है कि उसमें प्रतिपादित वाक्य-धर्म, प्रमाण-चर्चा एवं व्याकरण विषयक बातों की अपेक्षा नाट्य-शास्त्र के उन अंगों का विवेचन अधिक उपयुक्त होता जिनका उल्लेख भरत के नाट्य-शास्त्र में मिलता है।

व्याकरण के कुछ ऐसे अंग भी हैं जिन्हें काव्यशास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता। ध्वनि-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के बाद ध्वनि-मार्ग पर जो ग्रन्थ लिखे गये उनका प्रारम्भ सदा ही मुख्या, गौणी और व्यञ्जना नामक तीन शब्द-वृत्तियों से हुआ। भामह, दण्डी और वामन ने अपने ग्रन्थों के प्रारम्भिक भाग में शब्द, अर्थ और भाषाओं की हल्की-सी चर्चा की है। भामह और वामन के ग्रन्थों के अग्रिम अध्याय काव्य रचना में व्याकरणिक प्रयोग की चर्चा पर ही हैं। तर्क-शास्त्र को भी बहिष्कृत नहीं किया गया है और वामन ने दोषों के प्रसङ्ग में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त का विवेचन एक अध्याय में किया है। किन्तु उनमें से किसी ने भी इन पर या अन्य विषयों—जैसे पद, वाक्य और प्रमाण पर भोज के समान व्यापक चर्चा नहीं की है। निम्नलिखित तालिका से पता चलेगा कि शृङ्गार-प्रकाश के छत्तीस अध्यायों में किन-किन विषयों का अन्तर्भाव है विहङ्गावलोकन के लिए नीचे अध्यायों के नाम और उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख किया जाता है।

परिच्छेद 1—6 : शब्द और अर्थ

परिच्छेद 1. प्रकृत्यादि प्रकाशः	}	शब्द
" 2. प्रातिपदिकादि प्रकाशः		
" 3. प्रकृत्यादि शब्दप्रकाशः		

- | | | |
|---|-----------------------------------|--------|
| " | 4. कियार्थ-चतुष्टय प्रकाशः | } अर्थ |
| " | 5. उपाध्यर्थ-चतुष्टय प्रकाशः | |
| " | 6. विभक्त्यर्थादि-चतुष्टय प्रकाशः | |

परिच्छेद 7 से 11 साहित्य; 7 और 8 व्याकरण भाग एवं 9-11 साहित्य का प्रविभाग काव्य ।

- | | | |
|--------------|---|---|
| परिच्छेद 7. | केवल शब्द सम्बन्ध शक्ति प्रकाशः | } अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य और प्रविभाग |
| परिच्छेद 8. | सापेक्ष शक्ति-प्रकाशः | |
| परिच्छेद 9. | दोष-हानिगुणोपादान-प्रकाशः | } दोष और गुण |
| परिच्छेद 10. | अलङ्कार-योग प्रकाशः | |
| परिच्छेद 11. | रसावियोग-प्रकाशः | } रस, दृश्य-श्रव्य-प्रबन्ध-भेद प्रबन्ध में दोष हीन-गुणालङ्कार-रस वियोगादि । |
| परिच्छेद 12. | प्रमुखतः नाट्य और नाट्याङ्ग प्रबन्धाङ्ग-चतुष्टय प्रकाशः | |
| परिच्छेद 13. | रति-प्रकाशः | } रति प्रपञ्चः |
| परिच्छेद 14. | हर्षादि प्रकाशः | |

इसी के साथ रस का संक्षिप्त विवेचन समाप्त होता है और पुनः रस का विस्तृत विवेचन प्रारम्भ होता है ।

परिच्छेद 15. से 17. रति के विभाव और अनुभाव ।

परिच्छेद 15. रत्यालम्बन-विभाव प्रकाशः

परिच्छेद 16. उद्दीपन विभाव प्रकाशः

परिच्छेद 17. अनुभाव प्रकाशः

चार परिच्छेदों के अगले खण्ड में चार पुरुषार्थों के चार शृङ्गारों का विवेचन है ।

परिच्छेद 18. धर्म-शृङ्गार-प्रकाशः

परिच्छेद 19. अर्थ-शृङ्गार-प्रकाशः

परिच्छेद 20. काम-शृङ्गार प्रकाशः

परिच्छेद 21. मोक्ष-शृङ्गार-प्रकाश तथा नायक-नायिका विभाग एवं नायक-नायिका-गुण ।

इसके पश्चात् रतिस्थायी से निष्पन्न होने वाले निम्न शृङ्गार-रस के विप्रलम्भ और सम्भोग इन दोनों पक्षों का विस्तृत विवेचन प्रारम्भ होता है ।

परिच्छेद 22 और 23 सामान्य अनुराग से, 24 से 32 तक विप्रलम्भ और उसके चार भेदों से, तथा 33 से 36 तक सम्भोग और उसके प्रकारों से सम्बन्धित हैं।

- परिच्छेद 22. अनुराग स्थापना प्रकाशः
- परिच्छेद 23. विप्रलम्भ-सम्भोग प्रकाशः
- परिच्छेद 24. विप्रलम्भान्वर्थ प्रकाशः
- परिच्छेद 25. पूर्वानुराग विप्रलम्भ प्रकाशः
- परिच्छेद 26. पूर्वानुराग विप्रलम्भ प्रकाशः
- परिच्छेद 27. पूर्वानुराग विप्रलम्भ प्रकाश; अभियोग विधि प्रकाशः
- परिच्छेद 28. दूतविशेष; दूत कर्मोपवर्णन प्रकाशः
- परिच्छेद 29. दूत संप्रेषणादि (?) प्रकाशः
- परिच्छेद 30. मान प्रकाशः
- परिच्छेद 31. प्रवासोपवर्णन प्रकाशः
- परिच्छेद 32. करुणनिर्णय प्रकाशः
- परिच्छेद 33. सम्भोग-शब्दार्थ प्रकाशः
- परिच्छेद 34. प्रथमानुरागानन्तर-सम्भोग प्रकाशः
- परिच्छेद 35. मानाद्यन्तर-सम्भोग प्रकाशः
- परिच्छेद 36. सम्भोगावस्था प्रकाशः



पंचम परिच्छेद

शृङ्गार-प्रकाश के छत्तीस परिच्छेदों के

वर्ण्य-विषय की विस्तृत जानकारी

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
जायते यत्र काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

प्रथम परिच्छेद : पृष्ठ 1-65

दो मङ्गल श्लोक । प्रारम्भिक दस श्लोक—इनमें भोज ने अपने इस नवीन मत का प्रतिपादन किया है कि अहङ्कार अभिमान-शृङ्गार ही एकमात्र रस है । इसी रस-सिद्धान्त की व्याख्या के लिए थोड़ा-सा गद्य । काव्य और नाटक इसी रस को सहृदयों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं । पृष्ठ 1-4 ।

काव्य नाट्य से बड़ा है; कवि और नाटककार अभिनेता से बड़े हैं । काव्य की परिभाषा; भामह की परिभाषा स्वीकार की है— शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् अर्थात् शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य है । शब्द और उसके बारह भेद; अर्थ और उसके बारह भेद । साहित्य और उसका शब्द एवं अर्थ से सम्बन्ध । यह दो प्रकार का होता है—व्याकरणिक अथवा रचना-सम्बन्ध । इसके दो प्रकार होते हैं—केवल शब्द-सम्बन्ध-शक्तियाँ और सापेक्ष-शब्द-सम्बन्ध-शक्तियाँ । काव्यात्मक सम्बन्ध के चार प्रकार हैं—दोषहान, गुणोपादान, अलङ्कार-योग, और रसावियोग ।

काव्य

शब्द—12 भेद

प्रकृति
प्रत्यय
उपस्कार
उपपद
प्रातिपदिक
विभक्ति
उपसर्जन
समास
पद

अर्थ—12 भेद

क्रिया
काल
कारक
पुरुष
उपाधि
प्रधान
उपस्कारार्थ
प्रातिपदिकार्थ
विभक्त्यर्थ

साहित्य—12 भेद

अभिधा
विवक्षा
तात्पर्य
प्रविभाग
व्यपेक्षा
सामर्थ्य
अन्वय
एकार्थीभाव
दोषहान

वाक्य	वृत्त्यर्थ	गुणोपादान
प्रकरण	पदार्थ	अलङ्कार-योग
प्रबन्ध	वाक्यार्थ	रसावियोग

प्रकृतियाँ (पृष्ठ 4-58 जिल्द 1)

धातु रूप (6 प्रकार)	प्रत्यय रूप (6 प्रकार)	प्रातिपादिक रूप (6 प्रकार)
परिपठित	सुप् प्रत्यान्त	नाम (पृष्ठ 9-10)
अपरिपठित	तिङ् प्रत्ययान्त	अव्यय (पृष्ठ 11-31)
परिपठितापरिपठित	कृत् प्रत्ययान्त	अनुकरण (पृष्ठ 32-34)
प्रत्यय धातु	तद्धित प्रत्ययान्त	कृत् (पृष्ठ 34-35)
नाम धातु	धातु प्रत्ययान्त	तद्धित (पृष्ठ 35)
प्रत्यय नाम धातु (पृष्ठ 4-7)	स्त्री प्रत्ययान्त (पृष्ठ 7-9)	समास (पृष्ठ 35-58) (पृष्ठ 9-58)

ग्रन्थ के इस भाग में व्याकरणिक चर्चा के प्रसङ्ग में समास का लम्बा विवेचन है। समास को परिभाषित कर उसके भेदों की व्याख्या की गयी है।

प्रत्यय (पृष्ठ 58-61)

धातु प्रत्यय	प्रत्यय प्रत्यय	प्रातिपदिक प्रत्यय
6 भेद	6 भेद	6 भेद

उपस्कार (पृष्ठ 61-64)

प्रकृत्युपस्कार	प्रत्ययोपस्कार	उभयोपस्कार
6 भेद	6 भेद	6 भेद

उपपद (पृष्ठ 64-66)

तीन भेदों—तीन उपपद, कृत् उपपद और सुप् उपपद—इनमें से प्रत्येक के 6-6 भेद हैं। उपपद के इस भेद के साथ ही प्रथम परिच्छेद समाप्त होता है।

प्रकृतिप्रत्ययावेवमुपस्कारश्च दर्शितः ।
 क्रमादुपपदस्यापि स्वरूपमुपवर्णितम् ॥
 अव्ययानि निपाताश्च गतयश्च निरूपिताः ।
 कर्मप्रवचनीयाश्च सोपसर्गाः प्रकाशिताः ॥

न केवलेह प्रकृतिः प्रयुज्यते न केवलाः सुप्तिङजण्क्यजादयः ।
 भवत्युपस्कार इहापृथग् द्वयोः द्वयार्थमेवोपपदं प्रयुज्यते ।
 इति महाराजाधिराज श्री भोजदेव विरचिते शृङ्गार-प्रकाशे
 प्रकृत्यादिप्रकाशो नाम प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ॥

द्वितीय परिच्छेद (पृष्ठ 66-159)

प्रातिपदिक के तीन प्रकार; विभक्तावयव, अविभक्तावयव और अनुकरण इन तीनों का क्रमशः 66-132, 132-133 और 133-34 संख्या के पृष्ठों में विवेचन किया गया है। विभक्त (पृष्ठ 134), उपसर्जन (पृष्ठ 135), समास (पृष्ठ 140)। परिच्छेद का अन्त निम्नलिखित श्लोकों से हुआ है।

प्रकृति-प्रत्ययौ त्रेधा त्रिधोपस्कारभक्तयः ।

त्रिधैवोपपद-प्रातिपदिकाभ्यां विभक्तयः ॥

त्रिधोपसर्जनं त्रेधा समास इति कीर्तितः ।

प्रातिपदिक-शब्दोऽयमथान्वाख्याय उच्यते ॥

पदमिह त्रिविधं प्रतिपाद्यते त्रिविधमेव हि वाक्यमथ त्रिधा ।

व्यवहृतिः खलु शब्दनिबन्धनायदनयोरुभयोः प्रतितिष्ठति ॥

इति श्री + + + शृ० प्र० प्रातिपदिकादि प्रकाशो नामः द्वितीय प्रकाशः ॥

तृतीय परिच्छेद-पृष्ठ 160-258

पद — तीन भेद, क्रिया, कारक और उपस्कार। इनमें से प्रत्येक के 6 भेद हैं। (पृष्ठ 160-191)

वाक्य — एकार्थपरः पदसमूहो वाक्यम् (पृष्ठ 191-221); तीन भेद संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। संस्कृत के तीन भेद हैं—श्रुत, आर्ष और लौकिक। मन्त्र और ब्राह्मण को श्रुत कहते हैं, स्मृति और पुराण को आर्ष, एवं वाक्य और शास्त्र को लौकिक। प्राकृत के तीन भेद हैं—सहज, लक्षित और श्लिष्ट। सहज, संस्कृत, सम और देश्य को कहते हैं। यह महाराष्ट्र और शूरसेन से लक्षित है। पैशाच और मगध को श्लिष्ट कहते हैं। अपभ्रंश भी तीन प्रकार की होती है। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। आवन्त्य और लाटीय आदि उत्तम हैं, आभीर, गौर्जर आदि मध्यम और काश्मीर, पौरस्त्य आदि कनिष्ठ (पृष्ठ 192-193)। वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' में प्राकृत और अपभ्रंश का वर्गीकरण उपलब्ध नहीं है। यह भोज का अपना प्रतीत होता है। लक्ष्मीधर की 'षड्भाषा चंद्रिका' में भी यह वर्गीकरण नहीं मिलता।

इसके पश्चात् इनमें से प्रत्येक वाक्य के आख्यात द्वारा ग्यारह भेद बतलाये हैं।

तदेतद् समस्तमपि वाक्यजातम् आख्यातोपाधेः एकादशप्रकारं विप्रथते ।

तद्यथा, एकाख्यातम्, अनेकाख्यातम्, आवृत्ताख्यातम्, अनुवृत्ताख्यातम्,

विपरिणताख्यातम्, एकार्थाख्यातम्, समुच्चिताख्यातम्, कृदभिहिताख्यातम्,

अपेक्षिताख्यातम्, एकान्तराख्यातम्, निरन्तराख्यातमिति । (पृष्ठ 193-195)

इनमें से प्रत्येक के उदाहरण पृष्ठ 194-195 पर हैं। उदाहरण देते हुए भोज ने बारह भेद गिनाये हैं। अपेक्षिताख्यात को अध्याहृताख्यात कहा है और उसके बाद एक नया

भेद अनपेक्षिताख्यात दिया है। (इसके लिए इस ग्रन्थ का भोज और राजशेखर पर पृथक् परिच्छेद देखिये।) इन भेदों का सम्बन्ध वाक्य में प्रयुक्त होने वाले क्रिया के स्वरूप और संख्या से है।

पृष्ठ 196 पर एक विवाद उठाया गया है कि क्या वाक्य का एक से अधिक क्रिया वाले वाक्यों के साथ वर्गीकरण हो सकता है। इस सम्बन्ध में कात्यायन का यही मत उद्धृत किया गया है कि आख्यातों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। इसके पश्चात् पाणिनि का यह मत दिया गया है कि एक से अधिक क्रिया वाला वाक्य भी सम्भव है।

“तदेवं कात्यायनमते नास्त्येव आख्यातयोः सम्बन्धः। सूत्रकारस्य तु मते प्रत्येक आख्यातयोरनैकवाक्यत्वेन अभिसम्बन्ध इति।” पृष्ठ 210

इस प्रसंग में ‘महाभाष्य’ और ‘वाक्यपदीय’ भी उद्धृत किये गये हैं। पृष्ठ 220 पर भोज ने स्पष्ट किया है कि एक से अधिक क्रिया वाले वाक्यों में वाक्यभेद की आपत्ति के लिए स्थान नहीं है। उन्होंने बतलाया है कि इस विषय में भाष्यकार सूत्रकार से सहमत है। एक-से अधिक क्रिया वाले वाक्यों के दो भेद भिन्न प्रवक्तृक (भिन्न वक्ताओं वाले) और अभिन्न प्रवक्तृक (एक ही वक्ता वाले) पृष्ठ 221 पर सोदाहरण दिये गये हैं।

प्रकरण — पृष्ठ 222 से 228। तीन भेद। प्रस्तुत, कल्पित और आकस्मिक। इनमें प्रत्येक दो प्रकार का। प्रस्तुत के दो भेद—अङ्ग और वर्णक। अङ्ग कथा का भाग होता है। उदाहरणार्थ—पार्वती के आश्रम में ब्रह्मचारी का प्रवेश और उसका पार्वती से वार्तालाप—“प्रकरणार्थस्य कथाश्रयित्वम्”। वर्णक वर्णनात्मक भाग होता है। उदाहरणार्थ कुमारसंभव के प्रथम सर्ग में पार्वती का विशुद्ध वर्णन कथा का आवश्यक भाग होने पर भी किसी व्यक्ति परिस्थिति या स्थान का विशुद्ध वर्णन होने के कारण ही इसे वर्णक, यह पृथक् नाम दिया गया है। कल्पित साभास या तो साभास है या निर्भास। साभास कल्पित अंश होता है, जिसकी अवतारणा कवि अपनी रचनाओं में करते हैं किन्तु उसका प्रतिरूप इतिहास या पुराण में मिलता है। उदाहरणार्थ माघ द्वारा एक ही दुष्ट आत्मा का हिरण्यकशिपु, रावण और शिशुपाल के रूप में बार-बार अवतार लेना ‘शिशुपाल वध’ के प्रथम सर्ग में वर्णित है। निर्भास में विशुद्ध कल्पना प्रसूत विवरण होते हैं। उदाहरणार्थ—‘किरातार्जुनीय’ में शिव और अर्जुन के बीच युद्ध का वर्णन। आकस्मिक के भी दो प्रकार हैं सबीज और निर्बीज। सबीज आकस्मिक प्रसङ्ग के रूप में आ जाता है किन्तु वह कथा के भावी मार्ग को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ अज की उस गंधर्व से भेंट जो शापवश गज बन गया था और उससे प्रस्थापन अस्त्र की प्राप्ति। यह अस्त्र आगे चलकर स्वयंवरार्थ आये हुए आक्रमक राजाओं को पराजित करने में उसकी सहायता करता है—“अग्रतः फलोपलम्भः।” निर्बीज ऐसी आकस्मिक घटना होती है जिसका कथा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ‘अग्रतः फलानुपलम्भः’। यथा—रघुवंश के बारहवें सर्ग में विराध का वध। यह वर्गीकरण पृष्ठ 225 तक चलता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण अर्थाश्रित है। वाक्यों का दूसरा वर्गीकरण वाक्यों पर आश्रित

है। इसके तीन भेद हैं—एक वाक्य, अनेक वाक्य, और एकानेक वाक्य। एक वाक्य सानुबन्ध होता है और निरनुबन्ध भी। अनेक वाक्य आद्युपसंहृत और अन्तोपसंहृत दो प्रकार का होता है। एकानेक वाक्य के भी दो भेद होते हैं—सर्वनाम-योजित और विभक्ति-योजित। नका वर्णन पृष्ठ 227 तक है।

यह कहा गया कि एक प्रकरण के अन्तर्गत बहुत से छोटे प्रकरण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—‘रघुवंश’ के छठे सर्ग में इन्दुमती-स्वयंवर प्रकरण है और उसके अन्तर्गत स्वयंवर में सम्मिलित ‘अनेकों राजाओं के स्वतन्त्र वर्णन के छोटे-छोटे प्रकरण हैं। उसी प्रकार ‘उत्तर रामचरित’ जैसे प्रबन्ध के अन्तर्गत अन्तिम अङ्क में गर्भनाटक है। पृष्ठ 227 प्रबन्ध। परिभाषा—‘विधिनियेनावगतिहेतुः महावाक्यं प्रबन्धः। इसके तीन प्रकार हैं पद्य, गद्य, और मिश्र। पद्य या छन्द तीन प्रकार होता है ‘अक्षर-छन्दस्’ (वैदिक छन्दकार) मात्रा-छन्दस् और ‘गण छन्दस्’। इन तीनों के भी तीन-तीन भेद हैं सम, अर्धसम और विषम। गद्य वृत्तगन्धि, चूर्ण, या उत्कलिका प्राय होता है। मिश्र या तो पद्य प्रधान होता है या गद्य प्रधान या तुल्यरूप। ये वर्गीकरण पृष्ठ 232 पर समाप्त होते हैं।

इसके पश्चात् शब्द की परिभाषा पर लम्बा विवाद है। भोज ने इस परिच्छेद के साथ ही इसके बारह भेदों का निरूपण समाप्त किया है। ‘कः पुनः शब्दः ? उन्होंने संख्याश्रित शैली में इसे प्रकृति आदि के रूप में परिभाषित किया है। एक दूसरी रचनाश्रित परिभाषा है—‘वर्णसमूहः शब्दः’ अर्थात् पद वर्णों के समूह को कहते हैं। भोज इस समस्या का विवेचन करते हैं। इस प्रसङ्ग में उन्होंने उपवर्णको उद्धृत किया है और आगे चलकर यह विषम स्फोटवाद का भी स्पर्श करता है। यह खण्ड पृष्ठ 237 पर समाप्त होता है और यहीं परिच्छेद की भी समाप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार तृतीय परिच्छेद शब्द अर्थ और साहित्य शब्द के इन तीन प्रमुख भेदों के वर्णन के साथ समाप्त होता है। तृतीय परिच्छेद की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

उक्तः क्रमाद् द्वादशभेदभिन्नः शब्दप्रपञ्चोऽयमनादिसिद्धः ।

अथार्थमूर्त्यास्य विवर्त्तमाद्य तावत्प्रकारं प्रतिपादयामः ॥

इति श्री + शृ० प्र० प्रकृत्यादिप्रकाशो नाम तृतीयः प्रकाशः ॥

चतुर्थ प्रकाश—पृष्ठ 238-308

इस प्रकाश के साथ अर्थ और उसके बारह प्रकारों का वर्णन प्रारम्भ होता है। इनमें प्रथम है क्रिया। क्रिया को धात्वर्थ कहकर परिभाषित किया है। धातुओं के तीन वर्ग बतलाये हैं—अस्त्यर्थ, भवत्यर्थ और करोत्यर्थ। पृष्ठ 238-9।

यहाँ पर एक रुचिकर दार्शनिक अनुच्छेद है जिसमें कहा गया है कि अस्ति, भवति और करोति इन तीनों स्थितियों से आगे बढ़कर साम्यावस्था का नाम शब्द ब्रह्म या ॐ है जिसके प्रथम विकार को अर्थ के रूप में अस्ति कहते हैं और जिसका प्रतिबिम्ब है नास्ति। अस्ति से आगे बढ़कर भवति है और उसके आगे करोति।

इसके आगे धात्वर्थ का विशद विवेचन है—क्रिया और कारक । इस प्रसङ्ग में वाक्यपदीय को बार-बार उद्धृत किया गया है । यह चर्चा पृष्ठ 239 से लेकर 268 तक है ।

काल; उसकी परिभाषा और वर्गीकरण पृष्ठ 268 से 278 तक । काल और उसके भेदों के उदाहरण काव्यों से लिये गये हैं । कारक; उसके 6 भेद—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण । इनमें से प्रत्येक तीन प्रकार का है—पृष्ठ 278-305 । पुरुष, तीन भेद प्रथम, मध्यम और उत्तम । पृष्ठ 305 से 308 । यहीं यह प्रकाश समाप्त होता है ।

ते ऽमी क्रिया च कालश्च कारकं पुरुषस्तथा ।

उक्ताः परा(दा)थाश्चत्वारः स्वैस्स्वैर्भेदैस्समन्विताः ॥

द्रव्यात्मा चापि कालो यः प्रसङ्गात् सोऽपि कीर्तितः ।

स हि प्रायः प्रबन्धेषु तत्र तत्रोपयुज्यते ।

क्रियायां कालो ऽन्तर्भवति पुरुषः कारकपदे प्रधाने सोपाधिद्वयमपि तदेतन्निविशते ।

प्रधानं तं प्राहुः यमभिदधते धञ्प्रभृतयः सहोपस्कारार्थेन निविशति स तु प्रातिपदिके ॥

इति महाराज + शृ. प्र. क्रियाद्यर्थचतुष्टयप्रकाशो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

पंचम प्रकाशः—पृष्ठ 311-366

इस प्रकाश में उपाधि, प्रधान, उपस्कारार्थ और प्रातिपदिकार्थ का निरूपण है । प्रकाश का अन्त निगत की व्याख्या से होता है । अन्तिम भाग में अनेकशः न्यायमञ्जरी से उद्धरण दिये गये हैं ।

उपाधिरेवं त्रिविधः प्रधानमपि च त्रिधा ।

त्रिधोपस्कारवान् प्रातिपदिकार्थश्च वर्णितः ॥

वाचकत्वं निपातानां द्योतकत्वं च निश्चितम् ।

कर्मप्रवचनीयानामुक्ता सम्बन्धसङ्गतिः ॥

अथो विभक्त्यर्थविधस्त्रिधोच्यते त्रिधैव स्वृत्यर्थपदार्थनिर्णयः ।

क्रियादिवाक्यार्थनिवर्तनात्ततः त्रिधैव वाक्यार्थगतिः प्रपञ्च्यते ।

इति महा + + शृ. ० प्र. ० उपाध्यर्थचतुष्टयप्रकाशो नाम प्रपञ्चम प्रकाशः ॥

षष्ठ प्रकाशः—पृष्ठ 336-427

विभक्त्यर्थ पृष्ठ 336-382 । तीन भेद सङ्ख्या, कारक, शेष । इसके पश्चात् चर्चा प्रारम्भ होती है ।

वृत्त्यर्थ पृष्ठ 382-392 । तीन भेद अपदार्थ, एकपदार्थ और अनेकपदार्थ । इसके पश्चात् वृत्ति की परिभाषा पर चर्चा है । पृष्ठ 384-392 ।

पदार्थ पृष्ठ 362-407 । जाति, व्यक्ति और आकृति, इन पर विशद चर्चा है जिसमें व्याडि और विन्ध्यवासी के मत उद्धृत किये गये हैं । यहाँ जयन्तभट्ट की न्याय-मञ्जरी का बहुत-सा अंश उद्धृत किया गया है । अनेक बार वाक्यपदीय से भी उद्धरण दिये गये हैं ।

वाक्यार्थ; पृष्ठ 407-427 । भावना, विधि और प्रतिभा । निषेध भी विधि के अन्तर्गत है । भावना पुरुष-व्यापार होता है और विधि शब्द-व्यापार है । प्रतिभा बुद्धि-व्यापार है । पृष्ठ 423 । भावना पर चर्चा ।

पृष्ठ 424 से शब्द ब्रह्म के विवर्त का विवेचन प्रारम्भ होता है । अर्थ की व्याख्या शब्द पर अध्यास अथवा शब्द के विवर्त या शब्द के विपरिणाम के रूप में की गयी है । अर्थों में प्रतीयमानार्थ भी विपरिणाम माना गया है । पृष्ठ 425-427 । इसके साथ ही अर्थ के निरूपण का पृष्ठ प्रकाश समाप्त होता है और नया प्रकाश 'साहित्य' प्रारम्भ होता है ।

विभक्त्यर्थोऽथ वृत्त्यर्थः पदार्थश्चोपवर्णितः ।

भावनादिप्रभेदेन वाक्यार्थश्च प्रकीर्तितः ॥

क्रियायाश्च पदार्थत्वद् वाक्यार्थत्वमुपा कृतम् ।

कृतं च भावनायास्तदपदार्थत्वहेतुकम् ॥

वाच्या विशेष्याः प्रत्याय्याः शब्दस्योक्ताः क्रियादयः ।

अध्यासविपरिणामविवर्तर्थास्य तान्प्रति ॥

विभक्तिवृत्त्यर्थवतोरुपस्क्रिया प्रधानयोर्धाम पदार्थं दृश्यते ।

पदं पदार्थस्य तु वाक्यगोचरः भवेद्यतोऽर्थः तदतो निरूप्यते ॥

इति महा + + शृ० प्र० विभक्त्यर्थोपदिष्टतुष्टयप्रकाशो नाम षष्ठः प्रकाशः ॥

सप्तम प्रकाश - जिल्द 1 पृष्ठ 428-437 जिल्द 2 पृष्ठ 1-75

इस प्रकाश में द्वादश विध साहित्य का विवेचन प्रारम्भ होता है ।

तत्राभिधाविवक्षा तात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभाव—दोषहानगुणोपादानाङ्कार-योगरसावियोगरूपाः शब्दार्थयोः द्वादशसम्बन्धाः साहित्यमुच्यते ॥

1—अभिधाः तीन भेद—मुख्या, गौणी और लक्षणा ।

अभिधा (पृष्ठ 428)

मुख्या		गौणी	
तथाभूतार्थ	तद्भावापत्तिः	गुणनिमित्ता और	उपचार
जातिविषया	अध्यासात्मिका	पृष्ठ 434-437	निमित्ता
व्यक्तिविषया	कल्पनात्मिका	जिल्द 1 और	पृष्ठ 2-9
आकृतिविषया	वितर्कात्मिका	पृष्ठ 1-8	जिल्द 2
गुणविषया	विपरिणामात्मिका	जिल्द 2	
क्रियाविषया	विपर्ययात्मिका		
सम्बन्धविषया	प्रवादात्मिका		

पृष्ठ 421-433

लक्षणा (जिल्द 2 पृष्ठ 9-18)

लक्षणा	लक्षितलक्षणा
सामीप्यलक्षणा	रूढलक्षणा
साहचर्यलक्षणा	प्रतीकलक्षणा
सहचरितलक्षणा	विवक्षितलक्षणा
हेतुलक्षणा	विरुद्धलक्षणा
तादर्थ्यलक्षणा	तदन्यलक्षणा
परिणामलक्षणा	प्रकीर्णलक्षणा
पृष्ठ 9-11	पृष्ठ 12-18

शृङ्गार—प्रकाश की मद्रास पाण्डुलिपि की पहली जिल्द गुणनिमित्ता गौणी की चर्चा के मध्य में ही पृष्ठ 437 पर समाप्त हो जाती है ।

2—विवक्षा पृष्ठ 18-21 । वाङ्मयस्त्रिधा ।

(अ) अपौरुषेयम्—वेदः,—शब्दप्रधानम्—तत्र वक्तुरभावाद् विवक्षा नोपपद्यते ।

(इ) आर्षम्—स्मृतीतिहासादि — अर्थप्रधानम्—तत्र विवक्षामात्रम् प्रवर्तते—
“लौकिकानां हि साधूनां वागर्थमनुवर्तते । ऋषीणां पुनराद्यानां
वाचमर्थोऽनुधावति ।”

(उ) पौरुषेयम्—उभयप्रधानम्—“विवक्षातः कारकाणि भवन्ति ।”

पृष्ठ 21-22 । सामान्य साहित्य समीक्षा के कवि-विवक्षा सम्बन्धी तीन श्लोक ।

असम्बन्धे सम्बन्धविवक्षा, अचेतनेषु चैतन्यविवक्षा, प्रधाने गुणविवक्षा, गुणे प्रधान-
विवक्षा, अवयवे समुदायविवक्षा, समुदाये ऽवयवविवक्षा, अभेदे भेदविवक्षा, भेदे अभेद-
विवक्षा, सदसतोविवक्षा, सदसतोरविवक्षा, स्तुत्या निन्दाविवक्षा, निन्दया स्तुतिविवक्षा,
विधिना निषेधविवक्षा ।

एवमियमनेकधा विवक्षा विप्रथते । तदेव लौकिकवादः —

अस्मिन्नपारे संसारे कविरेकः प्रजापतिः ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथैदं परिवर्तते ॥

‘अपिच—ठिअमठिअं दीसइ अडिअं पि जह् ढिअं पढिभाइ ।

जह् संठिअं अ दीसइ सुकईण इमाओ पईओ ।

(वाक्पति—गौडवहो 66)

किञ्च—

क्वचित् स्वल्पेऽप्यर्थे प्रचुरवचनैरेव रचना,

क्वचिद्वस्तु स्फारं कतिपयपदैरपितरस्म् ।

यथावाच्यं शब्दाः क्वचिदपि तुलायामिव धृता,

स्त्रिभिः कल्पैरेवं कविवृषभसन्दर्भनियमः ॥

विवक्षा पृष्ठ 22-31

काव्यादि--व्यङ्ग्या	प्रकरणादि--व्यङ्ग्या	अभिनयादि--व्यङ्ग्या
काकु	प्रकरण, अर्थ	अभिनय, अपदेश
स्वर	लिंग, औचित्य	निर्देश, संज्ञा, इंगित
विच्छेद	देश, काल	आकार
	(पृष्ठ 30)	(पृष्ठ 30-31)

काकु (पृष्ठ 22-25)

नियत प्रतिबन्धा	अनियत प्रतिबन्धा	अप्रतिबन्धा
साकाङ्क्षा—(आक्षेपगर्भा प्रश्नगर्भा, वितर्कगर्भा)	अनन्त—अभ्युपगमानुनय काकु, अभ्यनुज्ञोपहास	एकगुणा, द्विगुणा, त्रिगुणा, चतुर्गुणा,
निराकाङ्क्षा—(विधि-उत्तर- निर्णयरूपा)	काकु आदि	

स्वर (पृष्ठ 25-26)

प्लुतादि	उदात्तादि	प्रगृह्यादि
----------	-----------	-------------

विच्छेद (पृष्ठ 26-30)

पदविच्छेद	वाक्यविच्छेद	यतिविच्छेद
शृङ्खला	„ संभेद	पद में
भङ्ग	„ अन्यथात्वम्	पाद में
परिवर्तक	„ असमाप्ति	अर्थ में
चूर्णक	„ अनुच्चारण	स्थान में

इसके पश्चात् प्रकरणादि और अभिनयादि की चर्चा है। पृष्ठ 31 पर विवक्षा प्रकरण समाप्त होता है।

3—तात्पर्य—पृष्ठ 31 से 42 तक तात्पर्य का निरूपण है। इसके तीन भेद हैं :—
अभिधीयमान, प्रतीयमान और ध्वनिरूप।

तात्पर्य

अभिधीयमान	प्रतीयमान	ध्वनिरूप
विधि	विधिनिषेध में	
निषेध	निषेध में विधि	अर्थध्वनि
विधिनिषेध	विधि में विध्यन्तर	अनुवादध्वनि
अविधिनिषेध	निषेध में निषेधान्तर	प्रतिशब्दध्वनि
	विधि-निषेध में विधि	(पृष्ठ 36-39)
	विधि-निषेध में निषेध	ध्वनि और तात्पर्य पर सामान्य विचार
	इत्यादि	(देखिये बारहवाँ प्रकाश)
		शब्दध्वनि
		अनुनादध्वनि
		प्रतिशब्दध्वनि
		(पृष्ठ 40-41)

तात्पर्य और ध्वनि की चर्चा करने के पश्चात् भोज ने शृङ्गार-प्रकाश के प्रथम प्रकाश में दिये हुए शिव, गणेश विषयक और अपने नवीन रस-सिद्धान्त से सम्बन्धित प्रारम्भिक श्लोक लेकर उनके तात्पर्य का आदर्श निरूपण प्रस्तुत किया है। यहाँ 'अच्छिन्न मेखलम्' इत्यादि श्लोक की विशेष रूप से लम्बी व्याख्या की गयी है और बतलाया गया है कि किस प्रकार उसके अनेक अर्थ निकलते हैं, उनसे ग्रंथ के विवेचन-क्षेत्र और विषय-वस्तु का भी पता चलता है। यह प्रसङ्ग पृष्ठ 42 से 54 तक चलता है।

55 से लेकर 65 पृष्ठ तक उपमा और रूपक के अन्तर तथा गुणों का शास्त्रीय विवेचन है तथा पृष्ठ 66 से 75 तक प्रविभाग का प्रतिपादन है।

प्रविभाग

पदे वाक्ये प्रबन्धे वा अस्य एतावतः शब्दस्य अयमर्थः; अस्मिन्नर्थे चायमेतावान् शब्द इति शब्दार्थयोः मिथः सम्बन्धितया पृथक्त्वेन अवधारणं प्रविभागः।

प्रकाश का अन्त इस प्रकार होता है :—

अभिधा (1) च विवक्षा (2) च तात्पर्य (3) च विभागवत्।

चतस्रः केवला दृयेताः शब्दसम्बन्धशक्तयः।

यापेक्षा यच्च सामर्थ्यमन्वयो यश्च तैर्मिथः॥

ऐकार्थ्यं यच्च तास्तस्य सहायस्य शक्तयः॥

उक्ताश्चतस्रः प्रथमाः क्रमेण क्रमादथान्याः प्रकटीक्रियन्ते।

अवण्डवाक्यार्थविवेचकानां शब्दार्थसंवित्परिशुद्धिहेतोः॥

इति श्री महा + + शृ० प्र० केवल शब्दशक्ति-सम्बन्ध-प्रकाशो नाम सप्तमः प्रकाशः समाप्त ॥

अष्टम प्रकाशः—पृष्ठ 76-174

इस प्रकाश का प्रारम्भ शब्द और अर्थ के सम्बन्धों के द्वितीय वर्ग से होता है। पूर्ववर्ती प्रकाश में जिन चार सम्बन्धों का विचार किया गया है उन्हें केवल शब्दशक्ति कहते हैं। और ये हैं, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, और एकार्थीभाव।

व्यपेक्षा—पृष्ठ 76-84, 97-98

आभिधानिकी	नैयायिकी	नैषेधिकी
श्रुति आभिधानिकी	ऊह नैयायिकी	
समाख्या ,,	विपर्यय ,,	वचन नैषेधिकी
वाक्य ,,	विपरिणाम ,,	असंभव ,,
विकल्प ,,	अध्याहार ,,	विरोध ,,
समुच्चय ,,	वाक्यशेष ,,	(पृष्ठ 82-84)
अतिदेश ,,	व्यवहित कल्पना ,,	परिसंख्या ,,
प्रसङ्ग ,,	अपोद्धार ,,	नियम ,,

(पृष्ठ 76-79)

वाक्यभेद „

असंभवनियम „

विशेषप्रत्यक्षश्रुति

(पृष्ठ 79-82)

(पृष्ठ 97-98)

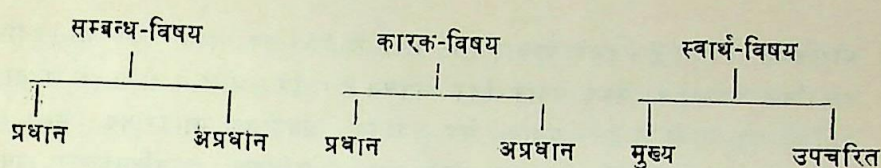
पृष्ठ 84 से 87 तक गुणों का विवेचन है यहाँ पृष्ठ 87-96 और 97-98 में पन्नों की गड़बड़ी मालूम पड़ती है ।

इसके बाद अन्वय को लिया गया है । शाक्त, वैभक्त, और शक्ति-विभक्तिमय इन तीन उपभेदों के साथ इसके तीन भेद पृष्ठ 87 से 90 तक वर्णित हैं । पृष्ठ 90 पर अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद से सम्बन्धित द्वितीय विवेचन है जो पृष्ठ 96 तक चलता है । पृष्ठ 97 का प्रारम्भ नैपेक्षिकी व्यपेक्षा, के अन्य प्रकारों के विवेचन से होता है जो पृष्ठ 98 पर समाप्त होता है । पृष्ठ 99-100 पर आकांक्षा, पृष्ठ 101-103 पर सन्निधि और उसके दो भेदों—अभिधान-विषय और अभिधेय-विषय एवं पृष्ठ 103-104 तक योग्यता और उसके दो भेदों—मुख्यार्थद्वारक और जघन्यार्थद्वारक का विवेचन है ।

पृष्ठ 105-130 तक सामर्थ्य की चर्चा है । इसके अन्तर्गत भेद, संसर्ग और उभय आते हैं । अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद का फिर से निरूपण है । स्मरणीय है कि भोज ने इन दोनों वादों का खण्डन करके एक तृतीय मत की स्थापना की है जिसके अनुसार सारे पद सम्मिलित रूप से अर्थ को व्यक्त करते हैं—अनुभयवादिनः पुनरित्थं समर्थयन्ते नान्विताभिधानं नचाभिहितान्वयः । किं तर्हि ? समुदितैः पदैः एको वाक्यार्थः प्रत्याय्यते ।..... नेदमन्विताभिधानम् । किं तर्हि ? संहृत्यकारिता पदानामुच्यते । संहृत्यकारिताप्यस्ति । पृष्ठ 126 पर प्रकृति और प्रत्यय की उक्त मत से तुल्यता पर जोर दिया है । पृष्ठ 127 पर फिर कहा है—एवं पदान्यपि परस्परापेक्षीणि संहृत्य कार्यं करिष्यन्ति । पृष्ठ 128 पर फिर—अयमेव पक्षः श्रेयान्-संहृत्यकारित्वं पदार्थानाम्.....तस्मान्नान्विताभिधानं नाप्यभिहितानामन्वयः, किन्तु यथोपन्यस्तपक्ष एव श्रेयान् । तदेवमाकांक्षासन्निधियोग्यतावन्तः पदार्थाश्चतुष्प्रकारमन्वयमनुभवन्तो वाक्यार्थीभवन्ति । पृष्ठ 108-128 ।

एकार्थीभाव-पृष्ठ 130 । व्यपेक्षावतां समर्थानामन्वितार्थानां च पदार्थानां तिलतंडुलवत् क्षीरनीरवत् पांसूदकवच्च यदविभागरूपेण भवनं स एकार्थीभावः । पहले इसका व्यपेक्षा से अन्तर दिखलाया गया है—पृष्ठ 130-131 । पृष्ठ 131 पर इसके सारे भेदों की चर्चा है । ये भेद तीन हैं—वाक्य-तुल्यार्थ, वाक्य-अधिकार्थ और वाक्य-अन्यार्थ । ये तीनों भी समास-गत, तद्धितगत और आख्यातगत होते हैं । पृष्ठ 131 से 133 तक समासों के विभिन्न भेद उनके उदाहरणों के साथ दिये गये हैं ।

पृष्ठ 133 पर उपमेय समास के अन्तर्गत उपमान, उपमेय और उपमेय समास की चर्चा प्रारम्भ होती है जो पृष्ठ 138 तक चलती है । पृष्ठ 138-139 पर तद्धित-एकार्थी-भाव और उसके तीन भेदों—सम्बन्ध-विषय, कारक-विषय और स्वार्थ-विषय की व्याख्या है ।



पृष्ठ १३६-१४२ पर आख्यात-एकाकीभाव और उसके तीन भेदों की व्याख्या है। ते तीन भेद कारक द्वारा, सम्बन्धीद्वारा और प्रादिद्वारा होते हैं। प्रादियों के ६ भेद हैं — वाचक, द्योतक, सहाभिधायक, विशेषक, कार्यार्थ और निरर्थक।

पृष्ठ १४२ पर वाक्यार्थ का निरूपण है जिसके अन्तर्गत भावना, विधि और प्रतिभा; मुक्तक, युगलक, सन्धानितक, कुलक आदि; कोष, संघात, प्रकरण (जिसे अवान्तर वाक्यार्थ कहते हैं); और प्रबन्ध (महाकाव्य) ये वाक्यार्थ या एकाकीभाव के प्रकार हैं। प्रबन्ध के उदाहरण हैं सुभद्रा-हरण, जानकी-हरण और रामायण। इनकी विशेषता होती है पाँच सन्धियाँ, चौसठ सन्ध्यङ्ग और चार वृत्तियाँ। इस प्रबन्ध महावाक्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य महावाक्यार्थ भी होता है जिसे काव्य का फलितार्थ या नैतिक विधि-निषेध कहा जा सकता है। हरि का अनुसरण करते हुये भोज ने इसे शब्द-ब्रह्म नाम दिया है—

यस्तु तद्रूपरामायणादिप्रबन्धाधानामवधारणेन उपहितसंस्कारस्य “रामवद् वतितव्यं न रावणवद्” इत्यादि विधিনিषेध-प्रतिभाविशेष उपजायते स समस्तविश्वव्यापी चतुर्वर्गे-कहेतुः परोमहावाक्यार्थः अर्थमूर्त्या विपरिणतमनादिनिधनमखण्डं शब्दब्रह्मेत्युच्यते।

अखण्डः सैष वाक्यार्थः शब्दब्रह्माति गीयते।

शब्दब्रह्माणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।

इयं सा मोक्षमाणानामजिह्वा राजपद्धतिः॥

(वाक्यपदीय 1-16) पृष्ठ 143।

इस अष्टम प्रकाश के साथ शब्द और अर्थ के अष्टविध व्याकरणिक सम्बन्ध का निरूपण समाप्त होता है अगले प्रकाश में काव्यशास्त्र का निरूपण प्रारम्भ होता है जिसमें शब्द और अर्थ के चतुर्विध काव्यात्मक साहित्य की चर्चा है। प्रकाश की समाप्ति निम्न-लिखित श्लोक के साथ होती है :—

उक्ताश्चतस्रोऽथ पुनश्चतस्रः शब्दार्थसम्बन्धभिदाः क्रमेण।

चतस्र एवाथ वचोविशेषे निषेदुषीस्ताः परिकीर्तयामः।

इति श्री महा + + श्र० प्र० सापेक्षशब्दशक्तिप्रकाशो नाम अष्टमः प्रकाशः॥

नवम प्रकाश पृष्ठ 144-265

इस प्रकाश का प्रारम्भ साहित्य के अन्तिम अर्थात् काव्यात्मक भाग की चर्चा से होता है। जिसके अन्तर्गत दोषहान, गुणोपादान, अलंकार-योग और रसावियोग आते हैं, वाक्य का सम्यक्त्व केवल इन्हीं में उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम दोषहान की चर्चा है और दोष तीन प्रकार के होते हैं— पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थगत। दोष प्रकरण में भागह

और दण्डी उद्धृत हैं। इसके पश्चात् पृष्ठ 145 से 158 तक वाक्य में पद और पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को लेकर व्याकरणिक विवेचन है। फिर भोज ने वाक्य के अड़तालीस धर्मों की एक सूची दी है— प्रधान, शेष, प्रयोजक, अप्रयोजक, नान्तरीयक, मुख्य, गौण, व्यापक, लघु, गुरु, अर्थवाद, अनुवाद, भेदविवक्षा, अभेदविवक्षा, व्यवहितकल्पना, उपचार कल्पना, तद्भावापत्ति, योग्यतापत्ति, सम्बन्धाबाधन, विकल्प, समुच्चय, नियम, निषेध, प्रतिनिधि, ऊह, बाध, तन्त्र, प्रसंग, आवृत्ति, भेद, सामान्यातिदेश, विशेषातिदेश, अधिकार, अध्याहार, विपरिणाम, वाक्यशेष, अवधि, अपोद्धार, अनिर्जातप्रश्न, क्रियान्तर-व्युदास, लिंगादिभेद शब्दान्तरादिभेद, शक्त्यादि-भेद, श्रुत्यादिविनियोग, श्रुत्यादिक्रम और क्रमसंभेद।

इन अड़तालीस भेदों की परिभाषाएँ और उदाहरण मीमांसा और काव्य से लिये गये हैं। इस विषय का विस्तार पृष्ठ 197 तक है। प्रतिनिधि और ऊह आदि कुछ भेद पर विशेष विचार किया गया है। पृष्ठ 180 पर वाक्यशेष एवं श्रुतार्थापत्ति का विवेचन है। पृष्ठ 197-198 पर वाक्य में पदार्थों की वस्तुसत्ता पर चर्चा है जो वाक्यपदीय के एक लम्बे उद्धरण के साथ समाप्त होती है, और यहाँ भोज पददोषों के स्वतंत्र विवेचन का समर्थन करते हैं।

तस्माद्युक्तैव पदगतदोषनिरूपणेति। दोषों का प्रारम्भ होता है।

दोष

पददोष-16

असाधु
अप्रयुक्त
कष्ट
अनर्थक
अन्यार्थक
अपुष्टार्थक
असमर्थ
अप्रतीत
क्लिष्ट
गूढार्थ
नेयार्थ
संदिग्ध
विरुद्ध
अप्रयोजक
देश्य
ग्राम्य

वाक्यदोष-16

शब्दहीन
पुनरुक्तिमत्
अपक्रम
भिन्नवृत्त
यतिभ्रष्ट
विसन्धि
व्याकीर्ण
संकीर्ण
गर्भित
अपद
अशरीर
ऊनोपम
अधिकोपम
भिन्नलिङ्ग
भिन्नवचन
श्लेषादिगुणविपरीत

वाक्यार्थदोष-16

अपार्थ
व्यर्थ
एकार्थ
ससंशय
अपक्रम
खिन्न
अतिमात्र
परुष
विरस
हीनोपम
अधिकोपम
असहशोपम
अप्रसिद्धोपम
निरलंकार
अश्लील
विरुद्ध

इनकी परिभाषाएँ और उदाहरण पृष्ठ 199-202 तक हैं

इनकी परिभाषाएँ एवं उदाहरण पृष्ठ 203-206 पर हैं

इनकी परिभाषाएँ एवं उदाहरण पृष्ठ 207-211 पर हैं

सरस्वती-कण्ठभरण के ही सम्बन्धित अंश की आवृत्ति इस प्रसङ्ग में मिलती है। अन्तर केवल इतना है कि स. क. आ. में भोज ने इनमें से प्रत्येक भेद की परिभाषा एक स्वतन्त्र कारिका में दी है जिसके नीचे उसकी वृत्ति तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। किन्तु शृ. प्र. में स. क. आ. की ही परिभाषाओं को गद्य में देकर वे जल्दी-जल्दी आगे बढ़ गये हैं। पृष्ठ 211 से आगे गुण प्रकरण है निर्दोषस्य च काव्यस्य शरीरवस्तुनः (?) कामनीय-कोत्पत्तौ अयमुपायः यद्गुणोपादानम् अलङ्कारयोगश्च। यहाँ गुण और अलङ्कार विषयक वामनोक्ति उद्धृत की गयी है— युवतेरिव रूपम् आदि। गुण और अलङ्कार में प्रथम का अधिक महत्त्व है-तत्र गुणोपादानालङ्कारयोगयोः गुणोपादानं गरीयः और इस विषय में वामन का यदि भवति वपुश्च्युतम् इत्यादि श्लोक उद्धृत है। इस प्रसङ्ग में शृ. प्र. का वर्णन रा. क. आ. की अपेक्षा अधिक विशद है।

गुण

वाह्य-शब्दगुण-24 आभ्यन्तर-अर्थगुण-24

वैशेषिकगुण-दोषगुण

16 + उनके आठ उपभेद = 24

निम्नलिखित 24 गुण शब्द और अर्थ दोनों के हैं; श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता, उदात्तत्व, ओज, और्जित्य, प्रेयस्, सुशब्दता, समाधि, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति, और प्रौढि (पृष्ठ 211-223)।

उपर्युक्त दोषों के तीनों वर्गों को विशिष्ट परिस्थितियों के अन्तर्गत गुणों में परिवर्तित होते बतलाया गया है। (पृष्ठ 223-241)।

पृष्ठ 242 पर गुणवृत्ति और उपचारवृत्ति सम्बन्धी लम्बी चर्चा प्रारम्भ होती है यहाँ तमस् का भी निरूपण है और इस प्रसङ्ग में प्रशस्तपाद को उद्धृत किया है। यह प्रसङ्ग इस प्रकाश के अन्त तक (पृष्ठ 264 तक) चला गया है। प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार होती है—

तदेतद् दोषहानं च गुणोपादानमेव च।

ज्ञात्वा कुर्वन् कविः काव्यम् प्रेत्य चेह च नन्दति ॥

निर्दोषं गुणवद् यस्य सालङ्कारं रसान्वितम्।

सतां वसति चेतस्सु वचः स दिवि मोदते ॥

इत्येष दोषपरिवर्जनया गुणानामवर्जने च किलोभयथान्तरङ्गः

काव्ये यथायथमलंकृतियोग उक्तः तत्रैव बाह्यमथातं क्रमशोऽभिधास्ये ॥

इति श्री महाराज + + शृ. प्र. दोषहानगुणोपादानप्रकाशो नाम नवमः प्रकाशः
समाप्तमगमत् ॥

दशम प्रकाश-पृष्ठ 265-352

इस प्रकाश में अलङ्कार योग का निरूपण है—अपास्तदोषस्य उपात्तगुणस्य च काव्य-शरीरस्य चारुत्वोर्कप्रसिद्धये प्राप्तकालोऽलङ्कारयोग उच्यते । अलङ्कारों के तीनों प्रकारों—बाह्य (शब्द), आभ्यन्तर (अर्थ) और बाह्याभ्यन्तर (उभय), पर महिलाओं के तीन सौंदर्य प्रसाधनों के औपम्य के साथ कुछ सामान्य चर्चा है । अलङ्कारों के विषय में भी स. क. आ. और शृ. प्र. के विवेचन में विशेष अन्तर नहीं है । शृ. प्र. का निरूपण कुछ संक्षिप्त है । और उसमें सूक्ष्म अन्तर भी है विशेष समीक्षा के लिये इस ग्रन्थ का अलङ्कार परिच्छेद एवं शृ. प्र. के संबन्धित परिच्छेद देखिये ।

अलङ्कार

बाह्य (शब्द) 24

आभ्यन्तर (अर्थ) 24

बाह्याभ्यन्तर (उभय) 24

जाति, गाति, रीति, वृत्ति, रचना, घटना, मुद्रा, छाया, युक्ति, उक्ति, भणिति, पठिति, श्रव्यत्व, प्रेक्ष्यत्व, अभिनेयत्व, अध्येयत्व, वाको-वाक्य, प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका, गूढ, चित्र, श्लेष, यमक, और अनुप्रास । इनमें से प्रत्येक के 6 प्रकार हैं— (पृष्ठ 266--297) अन्त में इन शब्दालङ्कारों पर कुछ सामान्य टिप्पणियाँ हैं । (पृष्ठ 296--7)

जाति, सूक्ष्म, सार, समाहित, भाव, विभावन, हेतु, अहेतु, संभव, विरोध, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अन्योन्य, परिवृत्ति, मीलित, वितर्क, स्मरण, भ्रांति, उपमान, अनुमान, अर्थापत्ति, अभाव, आगम और प्रत्यक्ष (पृष्ठ 297--324) अन्त में कुछ सामान्य टिप्पणियाँ हैं ।

उपमा, रूपक, साम्य, संशय, समाधि, समासोक्ति, सहो-क्ति, समुच्चय, तुल्ययोगिता, श्लेष, अपह्नुति, अप्रस्तुत प्रशंसा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तर-न्यास, दीपक, परिकर, क्रम, पर्याय, अतिशय, आक्षेप, विशेष, श्लेष, भाविक, संसृष्टि (पृष्ठ 324--351)

प्रकाश के अन्त में संसृष्टि की सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार के रूप में प्रशंसा की गयी है । इसके पश्चात् उभयालङ्कार फिर अर्थालङ्कार और अन्त में शब्दालङ्कार की स्थिति स्वीकार की गयी है ।

चतुर्विंशतिरित्येताः क्रमेणोभयसंश्रिताः ।

काव्यालङ्कृतयः प्रोक्ताः यथावदुपमादयः ॥

इदं हि चा (हीवा) दिभिः शब्दैः सादृश्यादि प्रतीयते ।

अर्थाऽस्मात्सूरयः प्राहुरुभयालङ्कृतीरिमाः ॥

अलङ्क्रिया यास्त्वह शब्दसंश्रयाः ततोऽर्थभूषाभ्यधिकं प्रकृष्यते ।

ततोऽभिरूपाभयोरलङ्कृति वदन्ति संसृष्टिरतोऽपि शोभते ॥

इति श्रीमहा + + शृ. प्र. उभयालङ्कारप्रकाशो नाम दशमः प्रकाशः समाप्तः ॥

एकादश प्रकाश-पृष्ठ 352-449

यह श्रु. प्र. का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकाश है। इसमें साहित्य के अन्तिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष--रसावियोग का प्रतिपादन किया गया है। इसी में भोज ने अपना रस विषयक नवीन मत प्रस्तुत किया है।

समस्त रसों का सार है प्रेम। और शृंगार ही एक रस है। शृङ्गार से उत्पन्न 49 भावों का परिगणन--रस संबन्धी परम्परागत विचारों की समीक्षा। अहंकार--अभिमान--शृंगार ही एकमात्र रस है। भावों से रस नहीं अपितु रसों से भाव उत्पन्न होते हैं (पृष्ठ 352--356)।

रस के तीन पक्ष प्रकृष्ट, भावरूप और आभास। दोषहान, गुणोपादान और अलंकार-वियोग के द्वारा वाक्य और प्रबन्ध में रसावियोग, गुण, अलंकार और रस से अलंकार ही हैं। इसलिये नानालंकार संसृष्टि रसावियोग का एक साधन है। (पृष्ठ 356-7)। यहाँ दण्डी को उद्धृत किया गया है और उनके इस मत का कि गुण और रस भी अलंकार ही हैं, अनुगमन किया गया है।

इसलिये संसृष्टि ही एक मात्र पूर्ण अलंकार है, इसके दो भेद—प्रधानाङ्गभाव, और समकक्ष्यता, इन पर चर्चा। इसके आगे दण्डी के उत्प्रेक्षा श्लोक, 'लिम्पतीव तमोज्ञानि' आदि पर व्यक्त विचारों पर आधारित व्याकरणिक चर्चा। सम-सूचक शब्दों की सूची (पृष्ठ 357-365)। गुण भी अलङ्कार है (पृष्ठ 365)। रस भी अलङ्कार है (पृष्ठ, 366)। फिर पृष्ठ 368 तक रस सम्बन्धी नवीन अहंकार सिद्धान्त की तीन कोटियों—अहंकार, रस और प्रेम सहित चर्चा। इन कोटियों को क्रमशः पूर्वकोटि, मध्यमावस्था, और उत्तरकोटि भी कहा है। पृष्ठ 368-69 में रसवत्, प्रेयस्, और उर्जस्वि का उनकी व्युत्पत्ति के आधार पर पारस्परिक भेद—प्रतिपादन। ये तीनों रस भी हैं और गुण भी। जब वे युक्तोत्कर्ष प्राप्त करते हैं तो रस होते हैं और अयुक्तोत्कर्ष दशा में गुण। गुणावस्था में ये भाविक, प्रेयस् और और्जित्य कहलाते हैं। इस व्याख्या के लिये भोज ने दण्डी के एक श्लोक का सहारा लिया है (पृष्ठ 369-70)। रसवत् का व्युत्पत्त्यात्मक महत्त्व प्रतिपादित है। पृष्ठ 370-71 पर बतलाया गया है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि अलंकार नहीं हैं। वे अलङ्कार (जिसे रस कहते हैं) की उत्पत्ति से निमित्त हैं। पृष्ठ 372 पर स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति ये तीन अलङ्कार-भेद निरूपित हैं। पृष्ठ 372 से 376 तक आठ रसवद् अलंकारों की व्याख्या एवं उनके उदाहरण दण्डी के अनुसार हैं। पृष्ठ 376 से 81 तक भरत के इस मत की आलोचना है कि चार प्रमुख रसों से चार सहायक रस बनते हैं और भोज का यह मत है कि सारे 49 भाग प्रकर्ष की स्थिति में भी समान रूप से अहंकार शृङ्गार से उत्पन्न होते हैं। रस आठ है इस मत की आलोचना शांत, प्रेरान्, उद्धत और उदात्त इन चार नवीन रसों का निर्देश। रुद्रट के इस मत का समर्थन कि सारे भाव रसवान् हो सकते हैं यद्यपि रस एक ही है अहंकार, तो भी उससे उत्पन्न होने वाले उनचासों भाव प्रकर्ष की स्थिति में रस कहला सकते हैं। यह अहंकार रस की मध्यमावस्था है। (पृष्ठ 381-82) एक मात्र अहंकार रस भोज के मत पर

वक्तव्य । (पृष्ठ 382-85) पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों के रस में विकसित होने की सोपमान तथा सोदाहरण व्याख्या । पृष्ठ 385-86 पर रस निष्पत्ति की विभिन्न अवस्थाओं—निष्पत्ति, उपचय, रस सामान्य और रस विशेष निष्पत्ति का निरूपण । पृष्ठ 386 से 88 तक भाव, रस, आभास, उत्कण्ठा, अभिपंग, निवृत्ति, उत्पाद, अभिवृद्धि, स्थैर्य, भावविशेष, रसविशेष और आभासविशेष की विभिन्न कोटियों का उल्लेख । पृष्ठ 388 से 410 तक नानालंकार संसृष्टि, अलंकारसंकर और उसके भेद—गुणसंकर, रससंकर, अलंकारसंकर, गुणरससंकर, गुणालङ्कारसंकर और रसालंकारसंकर । पृष्ठ 389 पर गुणों के दो भेद सोल्लेख और निरुल्लेख हैं । गुणसंकर के उदाहरण पृष्ठ 392 तक हैं एवं पृष्ठ 392 से 95 तक रससंकर के उदाहरण मिलते हैं । पृष्ठ 395 से 409 तक अलंकारसंकर की चर्चा है । पृष्ठ 410 पर वाक्य में रसावियोग का वर्णन इस उक्ति के साथ समाप्त हुआ है—

सोऽयं वाक्यवि(शे)षयो रसावियोग उक्तः ॥

इसके अनन्तर प्रबंधगत रसावियोग प्रारम्भ होता है । समग्र प्रबन्ध की दृष्टि से दोष हान और गुणालंकारोपादान का विवेचन । इस प्रकार भोज समग्र प्रबन्ध से संबन्धित दोषों, गुणों और अलंकारों की व्यापक परिप्रेक्ष्य में चर्चा करते हैं । पृष्ठ 410-11 पर प्रबन्ध-दोष-हान और 412 पर प्रबन्ध के भेदों का परिगणन है ।

प्रेक्ष्य—24 भेद

नाटक (पृष्ठ 412-15)
प्रकरण (पृष्ठ 415-17)
ईहामृग (पृष्ठ 417)
व्यायोग (पृष्ठ 417)
समवकार (पृष्ठ 418-19)
डिम (पृष्ठ 419-20)
उत्सृष्टिकाङ्क्ष (पृष्ठ 420)
भाण (पृष्ठ 420)
प्रहसन (पृष्ठ 420-21)
वीथी (पृष्ठ 421)
नाटिका (पृष्ठ 421)
सट्टक (पृष्ठ 421-422)
ये बारह वाक्यार्थाभिनय के भेद हैं ।
श्रीगदित (पृष्ठ 422)
दुर्मल्लिका (पृष्ठ 423)
प्रस्थान (पृष्ठ 423)
काव्य (पृष्ठ 423)

अव्य—24 भेद

आख्यायिका (पृष्ठ 427)
उपाख्यान (पृष्ठ 427)
निदर्शन (पृष्ठ 428)
प्रवहलिका (पृष्ठ 428)
मंथुल्लिका (पृष्ठ 428)
मणिकुल्या (पृष्ठ 428)
कथा (पृष्ठ 428)
परिकथा (पृष्ठ 428)
खण्डकथा (पृष्ठ 428)
उपकथा (पृष्ठ 428-29)
वृहत्कथा गुणाद्यकृत (पृष्ठ 429)
चम्पू (पृष्ठ 429)
प्रबन्ध (महाभारत) (पृष्ठ 429)
काण्डबन्ध रामायण (पृष्ठ 429)
सर्गबंध (पृष्ठ 429)
आश्वासकबन्ध (पृष्ठ 429)
सन्धिवन्ध (पृष्ठ 429)

भाणक (पृष्ठ 423-24)	अवस्कन्धबन्ध (पृष्ठ 429)
भाणिका (पृष्ठ 425)	काव्यशास्त्र (पृष्ठ 429)
गोष्ठी (पृष्ठ 425)	शास्त्रकाव्य (पृष्ठ 429-30)
हत्लीसक (पृष्ठ 425)	कोष (पृष्ठ 430)
नर्तनक (पृष्ठ 425)	संघात (पृष्ठ 430)
प्रेक्षणक (पृष्ठ 425)	संहिता (पृष्ठ 430)
रासक (पृष्ठ 425)	साहित्य-प्रकाश (पृष्ठ 430)
नाट्यरासक (पृष्ठ 426-79)	(भोज का शृ० प्र०)

ये बारह वाक्यार्थाभिनय के भेद हैं ।

इनमें से प्रत्येक की परिभाषा दी गयी है और उनके उदाहरण भी । इस प्रसङ्ग में अनेक दुर्लभ एवं अप्राप्त ग्रंथों का उल्लेख है । रूपक के प्रारम्भिक दस भेदों के लिये भोज ने भरत की परिभाषाएँ उद्धृत की हैं । पृष्ठ 430-31 पर समग्र प्रबन्ध से सम्बन्धित गुणों एवं अलङ्कारों का परिगणन है । पृष्ठ 431 से 46 तक शब्दगत, अर्थगत और उभयगत गुणों एवं अलंकारों की सौदाहरण व्याख्या है । पृष्ठ 447 पर अन्त में दण्डी की महाकाव्य परिभाषा उद्धृत की गई है । इसी से भोज ने प्रबन्ध-गुण और प्रबन्ध-अलंकार लिये हैं । पृष्ठ 447 से 49 तक भारतीय नाट्यशास्त्र की नाटक की व्याख्या से एक उद्धरण (ना. शा. प्र. 21 श्लोक 107 काशी सं.) दिया गया है । इसमें भोज ने कुछ अपने श्लोक जोड़ दिये हैं जिनमें नाट्य-प्रकारों के स्वरूप के विषय में सामान्य विचार हैं । इस प्रकार पहले वाक्यगत फिर प्रबन्धगत रसावियोग का निरूपण करते हुए यह प्रकाश पृष्ठ 449 पर समाप्त होता है । रसावियोग का निरूपण दोषहान गुणोपादान और अलंकारयोग की तेहरी प्रक्रिया द्वारा किया गया है ।

वाक्यप्रबन्धानुगतोऽयमुक्तो मया समासेन रसावियोगः ।

अथेह येऽर्था न विवेचिताः पृथग् विभज्य ते केचिदुदाह्रियन्ते ॥

इति महाराज । + + शृ. प्र. रसावियोगप्रकाशो नाम एकादशः प्रकाशः समाप्तिमगमत ॥

द्वादश प्रकाशः - पृष्ठ 450-553

इस प्रकाश का प्रारम्भ भरत से उद्धृत श्लोकों के द्वारा नाटक के वर्णन से होता है । इस प्रकाश में नाटक के संघटना एवं तन्त्र का अनुशीलन है जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आई हैं—

(अ) (1) पाँच आरम्भ विधियाँ (2) पाँच अर्थप्रकृतियाँ (3) पाँच अवस्थाएँ (4) पाँच संस्थाएँ (5) पाँच समवस्थाएँ (6) पाँच सन्धियाँ (7) पाँच वृत्तियाँ (8) चार (पाँच ?) प्रवृत्तियाँ (9) चौबीस प्रवृत्ति हेतु = 64 ।

(आ) (1) दस लास्याङ्ग (2) तेरह वीथ्यङ्ग (3) सोलह वृत्त्यङ्ग (4) इक्कीस सन्ध्यन्तर (5) चार पताका स्थान = 64 ।

(इ) चौंसठ सन्ध्यङ्ग ।

(ई) चौंसठ काव्य-लक्षण ।

पृष्ठ 451 पर विषय-वस्तु के पाँच प्रकारों—इतिहासाश्रय, कथाश्रय, उत्पाद्य, अनु-त्पाद्य और प्रतिसंस्कार्य का सोदाहरण वर्णन है । पृष्ठ 452 पर पाँच आरम्भ विधियाँ । प्रमाण—युक्ति, उक्ति, दृष्ट, निदर्शन और अर्थापत्ति । प्रमेय—धर्म, अर्थ, काम और लोक (?) और लोकयात्रा । विमर्ष—कर्मणाम् आरम्भोपाय, पुरुषद्रव्य-सम्पत्, देशकाल-विभाग विनिपात-प्रतीकार और कार्य-सिद्धि । निर्णय—अनुपलब्धस्य ज्ञानम्, उपलब्धस्य निश्चयः बलाधानम्, अद्वैतस्य संशयच्छेद (?) एकदेशदृष्टस्य विशेषोपलब्धिः एवं विपर्यय चिकित्सा । प्रवृत्ति—अलब्ध-लाभार्था, लब्ध-परिपालनार्था, रक्षिताभिवृद्धयार्था, वर्धितोपयोगार्था एवं उप-योग-पर्याप्त्यार्था । पृष्ठ 452-55 पाँच अन्य प्रकृतियाँ—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं-कार्य—इनकी सोदाहरण परिभाषा । पृष्ठ 456-57—अवस्था, संस्था और समवस्था—इनकी दैव, पौरुष, एवं उभय कार्यों के रूप में व्याख्या—इनमें प्रत्येक की पाँच कोटियाँ हैं । पाँच अवस्थाएँ—आरम्भ, प्रसव, उद्भेद, किञ्चिच्छेष, और समाप्ति । पाँच संस्थाएँ—प्रारम्भ प्रयत्न, प्राप्ति-सम्भव, नियतफल-प्राप्ति और फलयोग । पाँच समवस्थाएँ—प्रार्थना, लाभ, संयोग, नाश, और प्राप्ति ।

प्रलाभनाशयोः दैवस्य प्राधान्यम्, प्रार्थनासयोगयो पौरुषस्य, सम्प्राप्तौ दैवपौरुषयोः

पृष्ठ 457-58 पाँच संघियाँ—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण । आधिकारिक, आनुषंगिक और प्रासंगिक में भेद । पृष्ठ 459 पाँच वृत्तियाँ कैशिकी, आरभटी, सात्वती, भारती और मिश्र । पृष्ठ 459-65 की संख्या पूरी करने के लिये भोज को पाँच प्रवृत्तियाँ बतलानी चाहिये थीं किन्तु उन्होंने केवल चार बतलाई हैं । ये हैं—पौरस्त्य, ओङ्-मागधी, दाक्षिणात्य और आवन्ती । प्रवृत्तियों के अन्य भेदों के सम्बन्ध में दूसरे मत भी दिये गये हैं । चौबीस प्रवृत्ति-हेतु—देश, काल, पात्र, वयस, अवस्था, शक्ति, साधन, अभिप्राय, व्यत्यास, विपरिणाम, निमित्त, अभिगम, संग्राम, विहार, उपहार, चल, छद्म, आश्रम, जाति, व्यक्ति, विभव, प्रकीर्ण, संकीर्ण और विप्रकीर्ण । पृष्ठ 465 पर चौंसठ का प्रथमवर्ग समाप्त हुआ है ।

पृष्ठ 465-69—उदाहरण और परिभाषा सहित दस लास्याङ्ग ।

पृष्ठ 469-77—उदाहरण और परिभाषा सहित तेरह वीथ्यङ्ग ।

पृष्ठ 477-80—उदाहरण और परिभाषा सहित सोलह वृत्त्यङ्ग ।

पृष्ठ 480-87—उदाहरण और परिभाषा सहित इक्कीस सन्ध्यन्तर ।

पृष्ठ 487-89—उदाहरण और परिभाषा सहित चार पताका स्थान ।

इनसे चौंसठ वस्तुओं का द्वितीय वर्ग बना है ।

चौंसठ सन्ध्यङ्ग । इनके उद्देश्य पर भरत के अनुसार कुछ सामान्य विचार । पाँच सन्धियों में से प्रत्येक के अंगों का परिगणन, परिभाषा एवं नाटकों से उद्धृत उदाहरण पृष्ठ 489-524 तक । पृष्ठ 524-552 तक चौंसठ लक्षण हैं । इनका विवेचन मेरे “कांसैट्स

ऑफ अलंकार शास्त्र" के अङ्गार संस्करण के पृष्ठ 26, 27, 45, 46 के अनुसार है । इस प्रकाश में बहुत से दुर्लभ और अप्राप्त नाटकों से उद्धरण दिये गये हैं । प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार होती है—

एतानि काव्यस्य विभूषणानि प्रायश्चतुष्पष्टिरुदाहृतानि ।
 प्रबन्धशोभाकरणाय तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसानि ॥
 उदाहृता नाटकनाटिकादौ इयं चतुष्पष्टि चतुष्टयी या ।
 रसाविरोधेन निबन्धनीया कथासु काव्येषु च सा महद्भिः ॥
 भवतीः द्वादशधा पृथक् पृथगिमाः संचित्य शब्दार्थयोः ।
 साहित्यस्य च शब्दशासनविदा कार्यः प्रबन्धे श्रमः ॥
 कीर्तिर्यावदनश्वरी हि विदुषां रोधोगृहं गाहते ।
 ब्राह्मं लोकललामधाम तदमी तावत् किलाध्यासते ॥

इति श्री महा-+-+ शृ. प्र. प्रबन्धाङ्ग-चतुष्पष्टिचतुष्टय प्रकाशोनाम द्वादशः प्रकाशः
 पृष्ठ 553 पर इस बारहवें प्रकाश के साथ शृ. प्र. की पाण्डुलिपि की द्वितीय जिल्द समाप्त होती है ।

त्रयोदश प्रकाश जिल्द तीन, पृष्ठ 1-33 ।

पृष्ठ 1—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों से सम्बन्धित शृंगार के चार प्रकार । प्रत्येक के लिये उपयुक्त नायक, नायिका, वृत्ति, प्रवृत्ति और रीति के साथ प्रत्येक का वर्णन । पृष्ठ 1 से 8 में रति के साथ प्रारम्भ होने वाले उनचास भावों के विभाव, अनुभाव और संचारी । पृष्ठ 9 में रति के सम्भोग और विप्रलम्भ ये दो भेद । पृष्ठ 9 से 33 तक रति के नौ भेद—नैसर्गिक, सांसर्गिकी, अभियोगिकी, आध्यात्मिकी, औपमानिकी, वैषयिकी, साम्प्रयोगिकी और आभिमानिकी । इनमें से प्रत्येक की पाँच कोटियाँ हैं—जन्म, अनुबन्ध, प्रवृद्धि, संवृत्ति, और अनुवृत्ति । इनमें से $(9 \times 5 = 45)$ प्रत्येक के उदाहरण दिये गये हैं । पृष्ठ 33 पर यह प्रकाश निम्न श्लोकों के साथ समाप्त होता है—

सैष भावो रतिर्नाम कामकल्पद्रुमाङ्कुरः ।
 सौहृदाङ्कुरकन्दश्च द्विप्रकारोऽपि दर्शितः ॥
 भावान्तरेभ्यः सर्वेभ्यः रतिभावः प्रकृष्यते ।
 कविवर्गः समग्रोऽपि तमेनमनुधावति ॥

विसर्गसंसर्गमुखैः प्रभेदैः जन्मानुबन्धातिशयादिभिश्च ।
 इदं विनिश्चित्य निवेशयन्तः कवी.....दालं (?) कवयो लभन्ते ॥

इति श्री महा-+-+ शृ० प्र० रतिप्रकाशो नाम त्रयोदशः प्रकाशः समाप्तः ॥

चतुर्दश प्रकाश पृष्ठ 34-43

समस्त अड़तालीस भावों के जन्म आदि पाँच कोटियों में उदाहरण । प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार होती है—

एते रत्यादयो भावाः शृङ्गारव्यक्तिहेतवः

कात्स्न्यदिकोनपञ्चाशत्.....प्रकाशिताः ॥

जन्मानुबन्धातिशयसम्पर्कानुगमा (द्) इति ।

युञ्जीत सर्वभावेषु वर्गयोरुभयोरपि ॥

यदपि च कथितं प्रकर्षगामी भवति रसो रतिविस्मयादिरेव ।

तदपि (च) न समंजसं प्रकृष्टाः प्रतिनिजभेदममी हि सर्व एव ॥

इति महा + + + शृ० प्र० हर्षादिभावपञ्चक (पञ्च या अथस्थापञ्चक) प्रकाशो नाम
चतुर्दशः प्रकाशः समाप्तः ।

पंचदश प्रकाशः पृष्ठ 84-164

पृष्ठ 84 पर रतिका विशेष वर्णन विभावों को, उनके अनन्त भेदों सहित विशद चर्चा विभाव के दो भेद—आलम्बन और उद्दीपन । आलम्बन के दो प्रकार—नायक और नायिका । नायकों के चार प्रमुख भेद—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त । प्रत्येक नायक के धीर विशेषण की व्याख्या (पृष्ठ 84-85) । गुण, प्रकृति, प्रवृत्ति और परिग्रह इन चार तत्त्वों के आधार पर इनमें से प्रत्येक के नाना भेद हैं ।

गुण—24—उच्चकुल आदि । इन गुणों की दृष्टि से मनुष्यों के तीन प्रकार हैं—
उत्तम, मध्यम और अधम—(देखिये भरत—अध्याय चौतीस—काशी संस्करण) ।

प्रकृति—सात्विक, राजस और तामस ।

प्रवृत्ति—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट ।

परिग्रह—(पत्नी संख्या) असाधारण—यथा राम और साधारण ।

पृष्ठ 85-88 मनुष्यों के इन बारह प्रकारों के उदाहरण । पृष्ठ 88—जब इसद्वादश-विध वर्गीकरण का प्रयोग नायकों के प्रथम और मुख्य चतुर्विध वर्ग पर किया जाता है तो उसके 104 भेद हो जाते हैं धीरोदात्त 8 + धीरोद्धत 44 + ललित 44 + प्रशान्त 8 = 104 । पृष्ठ 88-111—इन एक सौ चार प्रकारों के उदाहरण । इन भेदों के परिगणन एवं उदाहरण के लिये देखिये स० क० आ० पृष्ठ 485 और पृष्ठ 589 से 592 ।

नायकस्तत्र गुणतः उत्तमो मध्यमोऽधमः ।

प्रकृतेः सात्विकः स स्यात् राजसस्तामसस्तथा ॥

साधारणोऽनन्यजानिः स विज्ञेयः परिग्रहात् ।

उद्धतो ललितः शान्तः उदात्तो धैर्यवृत्तिः ॥

शठो धृष्टोऽनुकूलश्च दक्षिणश्च प्रवृत्तिः । स. क. आ. ॥

इसके पश्चात् कुछ मिश्रित प्रकार दिये हैं । चरित्र के भेद अनन्त हैं

एवमन्येपि विज्ञेयाः भेदाः संसर्गतो मिथः ।

चतुर्णामपि लक्ष्येषु नायकानां मनीषिभिः ॥

धीरोदात्तादिभेदेन चतुरश्चतुरोऽपि च ।

चतुश्शतविधान्वेति नायकान् स कविः कविः ॥

परिग्रहप्रवृत्तिभ्यां गुणप्रकृतियोगतः ।

चातुर्विध्याच्च धैर्यस्य नायकत्वं नियम्यते ॥

इति निगदित एष नायकानामसदृशभङ्गिमनोहरः प्रपञ्चः ।

निजनिजपटुभङ्गिमंगनानां बहुविधभेदवतीमतोऽभिधास्ये ॥

पृष्ठ 112 नायिकायें—चार मुख्य भेद—स्वकीया, परकीया, पुनर्भू और सामान्या । फिर प्रथम दो के निम्न भेद किये गये हैं—उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा; ऊढा और अनुढा; धीरा और अधीरा; मुग्धा; मध्यमा और प्रगल्भा—पृष्ठ 111-14 पर इन भेदों के उदाहरण हैं । पुनर्भू—अक्षता (यथा सत्यवती), क्षता, यातायाता (यथा बृहस्पति की पत्नी तारा) और यायावरा (यथा ययाति की पुत्री माधवी जिसने क्रमशः चार पतियों से विवाह किया और उनसे आठ पुत्रों को जन्म देकर तपश्चर्या के लिये विध्य को चली गयी) । सामान्या—क-ऊढा (यथा द्रौपदी), अनुढा (कोई कन्या), स्वयंवरा । (ख) स्वैरिणी और वेश्या के तीन प्रकार—गणिका, विलासिनी और रूपाजीवा । विभिन्न उपभेदों के सम्मिश्रण से यह संख्या 143 तक पहुँचती है । यह 143 भेद स्वकीया के हैं । अन्त में इन सबके उदाहरण दिये गये हैं और निम्न श्लोकों में उनका सारांश (पृष्ठ 139)

शतमेतत्स्वकीयानां त्रिचत्वारिंशदुत्तरम् ।

उत्तमादिविभेदेन नायकानामुदाहृतम् ॥

श्रुतिप्रवृत्तितो धर्मः तथाऽर्थोऽपत्यलक्षणः ।

प्रायो विस्रम्भजः कामः स्वकीयास्वेव तिष्ठति ॥

गुणपरिणयधैर्यधैर्यमुग्धाभियोगव्यतिकरपरिपाट्या विवृततोऽयं प्रकारः ।

निजयुवतिषु सम्यग् धर्म-कामार्थ-हेतोरमुमथ परकीयासूक्तवत्कीर्तयामः ॥

पृष्ठ 139 से 160 तक परकीया के मिश्रित भेद । 142 और उनके उदाहरण हैं—

एवं पुनर्भू सामान्ययोः यथासम्भवमुत्तमा (द)भेदोऽभ्यूहनीयः ।

पृष्ठ 161 नायिकाओं का अन्यविध वर्गीकरण—वासकसज्जा, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहान्तरिता, प्रोषित पतिका और स्वाधीनपतिका । पृष्ठ 162 । इस विषय पर और इसके विशिष्ट अंगों पर भोज के द्वारा प्रस्तुत जानकारी के लिये देखिये मेरे ग्रन्थ “शृङ्गार मञ्जरी आफ अकबरशाह” की भूमिका के पृष्ठ 23-24 । इस प्रकार आलम्बन विभाव के दोनों भेदों की चर्चा के साथ यह प्रकाश समाप्त होता है । स. क. आ. में नायिकाओं के वर्गीकरण की चर्चा पृष्ठ 592-602 पर है ।

इति प्रपञ्चः कथितोऽङ्गनानां क्रमात्स्वकीयादिविभेदभिन्नः ।

चतुष्प्रकारां तममुं निबध्नन् कविश्चतुर्वर्गफलं लभेत् ॥

स. क. आ. 5- कारिका 110-120 और सोदाहरण वृत्ति पृष्ठ 592-602 पर ।

तथा तत् (तदेतत्) सर्वस्वं भुवनजयिनः पुष्पधनुषः
 मनुष्याणामेकं तदिदमसम (म् जीवि) त फलम् ।
 इदं तत् सौख्यानां कुलभवनमाद्यं त्रिभुवने,
 यदेकः (कं) तारुण्योपहितमहिमानो मृगदृशः ॥

इस श्लोक के लिये देखिये सदुक्तिकर्णामृत पृष्ठ 59 ।

इति श्री महा ++ शृ. + प्र. रत्यालम्नविभावप्रकाशो नाम पञ्चदशः प्रकाशः

षोडश प्रकाश पृष्ठ 163-207

उद्दीपन विभाव

1-ऋतु 6- प्रत्येक की चार अवस्थाएँ हैं - सन्धि, उत्पत्ति, (इसे राजशेखर ने शैशव नाम दिया है), प्रौढि और अवसिति (राजशेखर के अनुसार अनुवृत्ति) । इनमें से प्रत्येक ऋतु के इन चारों अवस्थाओं के उदाहरण पृष्ठ 163-173 ।

2-उपकरण-जैसे माल्य, अङ्गराग इत्यादिक और इनके उदाहरण पृष्ठ 173-178 ।

3-इतिहास-श्रवण, पुरातन प्रेम कथाओं का श्रवण ।

4-देश - ग्राम, पत्तन, उपवन, कान्तार, पर्वत, सरित्, सागरादि । उदाहरण पृष्ठ 183 तक ।

5-काल - रात्रि, दिवा, सूर्योदय, चन्द्रोदय, आदि । उदाहरण पृष्ठ 191 तक ।

ऋतूपकरणैरेभिः इतिहासोपवर्जनः (प्रवर्णनैः) ।

देशकालोपसेवाभि चित्तजन्मा प्रदीप्यते ॥

नातः परतर पुष्पधनुषस्तीक्ष्णमायुधम् ।

ऋतूपकरणादीनां यदेतद् रामणीयकम् ॥

ऋतुरूपकरणं तथेतिहासः कथितमिदं सह देशकालभेदैः ।

प्रथगनभिहितं कलाविचारप्रभृतिकं (म) ल्पमथोपदर्शयामः ॥

6-चौसठ कलाएँ- ये मूल कलाएँ हैं । इनके प्रमुख वर्ग हैं कर्माश्रय 24, द्यूताश्रय - 20 (निर्जीव 15 और सजीव 5), शयनोपचारिकी - 16 और उत्तरकला - 4 । इस विषय के अन्य ग्रन्थों में भी बहुत सी अवांतर कलाओं का वर्णन है-किन्तु भोज ने यह कहकर उन्हें छोड़ दिया है कि उनसे ग्रन्थ का विस्तार बढ़ जायगा ।

कामाश्रय 24 कलाएँ - गीत, वादित्त, नृत्त, नाट्य, चित्र, पुस्तकर्म, पत्रच्छेद्य, लिपिज्ञान, वचनकौशल, वैचक्षण्य, माल्यविधि, गन्धयुक्ति, आस्वाद्यविधान, रञ्जनविधान, रत्नपरीक्षा, सीव्य, उपकरणक्रिया, आजीवज्ञान, तिर्यग् योनि-चिकित्सित, मायाकृत, पाषण्डसमयज्ञान, क्रीडा-कौशल, संवाहन, और शरीरसंस्कार-कौशल ।

पन्द्रह निर्जीव कलाएँ - आयप्राप्ति, रक्षाविधान, रूपसंख्या, क्रियामार्ग, जीवग्रहण, नयज्ञान, करणज्ञान, चित्राचित्रविधि, गूढराशि, तुल्याभिहार, क्षिप्रग्रहण, अनुप्राप्ति, लेख-

स्मृत्यनुक्रम, छलव्यामोहन, और ग्रहणादान । पाँच सजीव कलाएँ—उपस्थानविधि युद्ध, तत, गत और नृत्त ।

सोलह शयनोपचारिकी कलाएँ—स्त्री—पुरुष भावग्रहण, स्वराग-प्रकाशन, प्रत्यङ्ग-दान, नखदन्त विचार (दो) नीविसंसन, गुह्यस्पर्श-आनुलोम्य, परमार्थ कौशल, हर्षण समानार्थता, कृतार्थ—प्रोत्साहन, मृदुक्रोध—प्रवर्तन, क्रुद्धप्रसादन, सुप्ता परित्याग, चरणस्वापविधि, और गुह्यागूहन ।

चार उत्तरकलाएँ — साश्रुपात रमण का वीक्षण, स्वयं शपथ—क्रिया, प्रस्थितानुगमन और पुनर्निरीक्षण ।

पृष्ठ 192 से 204 तक इन चौसठ कलाओं के उदाहरण ।

7— वयस् — चार अवस्थाएँ—सन्धि, उत्पत्ति, प्रौढि और प्रतिप्रौढि । पृष्ठ 204—205 पर इनके उदाहरण¹ पृष्ठ 205—207 पर वयस्यापेदेश, संदेश, उपचार, दैवसम्पत्, उपचार-स्मरण । प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार हुई है ।

कलाविचारप्रमुखा अपि.....प्रकाशिताः ।

आदिग्रहणतोऽन्येऽपि लक्षणीया विचक्षणैः ॥

संजीवनमनङ्गस्य सुखाय(त)नमात्मनः ।

ऋत्वादीनामियंभङ्गिः शृङ्गारस्यापि जीवकम् ।

उपनिषदुपदिष्टा सेयमुद्दीपनानां त्रिभुवनविजयाप्ता वैजयन्ती स्मरस्य ॥

तदुपहितविशेषोद्बोधसंस्कारजन्या तनुपदमनुभावानेव सभावयामः ।

इति श्री + + + शृ. प्र. उद्दीपनविभावप्रकाशो नाम षोडशः प्रकाशः समाप्तः ॥

सप्तदश प्रकाशः पृष्ठ 208-236

अनुभाव

इदानीमनुभावं व्याख्यास्यामः । तत्र विभावैः प्रबुद्ध संस्कारस्य नायकादेः ये स्मृतीच्छाद्वेषप्रयत्नजन्मानः मनोवाग्बुद्धिशरीरारम्भाः तेऽनुभूयमानत्वाद् रत्यादीनामनन्तर-भवनाच्च अनुभावः । स. क. आ.— 5, 543 पृष्ठ 477-78 के अनुसार । मन, वाक्, बुद्धि, और शरीर के अनुभावों के उदाहरण पृष्ठ 210 तक ।

1— 12 मन आरम्भ अनुभाव— भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति उद्दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य, स्थैर्य, और गाम्भीर्य । भरत के नाट्यशास्त्र अध्याय 24 पृष्ठ 271—श्लोक 24 के अनुसार । भोज ने स्थैर्य और गाम्भीर्य को नाट्यशास्त्र अध्याय 24, 31 से लेकर जोड़ दिया है ।

2— बारह वागारम्भ— आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, अपलाप, संलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, और व्यपदेश ।

3— बारह बुद्ध्यारम्भ अनुभाव $3 \times 4 = 12$ —

रीति	वृत्ति	प्रवृत्ति
पाँचाली	भारती	पौरस्त्या
गौडी	आरभटी	श्रौद्धमागधी
वैदर्भी	कैशिकी	दाक्षिणात्या
लाटीया	सात्विकी	आवन्त्या

4— बारह शरीरारम्भ अनुभाव— लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किल-किञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्वोक, ललित, विहृत, और क्रीडित, केलि। भरत के नाट्यशास्त्र अध्याय 24 पृष्ठ 370 काशी संस्करण के अनुसार। भरत ने केवल दस का उल्लेख किया है। और भोज ने उनमें अन्तिम दो जोड़ दिये हैं। इसके लिये शिङ्गभूपाल ने भोज की आलोचना की है देखिये स. क. आ. 5, 42 पृष्ठ 478।

बारह प्रकार के मानारम्भों के प्रथम वर्ग के लिये भरत ने नाट्यशास्त्र के अध्याय 24 पृष्ठ 270 श्लोक 7-11 और पृष्ठ 271 श्लोक सं. 24 और 31 को देखना चाहिये। भरत ने इनके तीन स्वतन्त्र वर्ग किये हैं। वागारम्भ का वर्णन नाट्यशास्त्र के अध्याय 24 पृष्ठ 273 श्लोक 49-51 में है। ये बारह वाङ्मार्ग अथवा वाचिकाभिनय के मार्ग हैं। भरत ने अनुभावों या बुद्धयारम्भानुभावों के रूप में वृत्ति और प्रवृत्ति का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टि से वे वर्गीकरण के भीतर आती हैं। इस विषय में शिङ्गभूपाल ने भोज का और भोज ने राजशेखर का अनुगमन किया है। अन्तिम शरीरारम्भ को छोड़कर इन्हीं के उदाहरण पृष्ठ 220 तक हैं। पृष्ठ 211-20 तक रीति, वृत्ति, और प्रवृत्ति की चर्चा है।

मनोवाग्बुद्धिजारम्भाः क्रमेणैते प्रदर्शिताः।

अतः शरीरजारम्भप्रकारोऽयं प्रपञ्च्यते ॥

मनोवाग्बुद्धिजन्मानः आरम्भास्तु सहस्रशः।

भरतादिप्रणीतत्वात् किन्तित्वहैते प्रदर्शिताः (?)

लीलादयोऽधरकपोलविकल्प वा(हा)सैः भ्रूतारकापुटविचेष्टितवीक्षितानि।

षट्त्रिंशदेव च दृशो भरतप्रणीताः काव्य क्रियोपकरणार्थमथोद्भिद्यन्ते ॥

पृष्ठ 221-22 पर बारह शरीरारम्भों के उदाहरण फिर ओष्ठादि से सम्बन्धित निम्नलिखित शरीरारम्भ अनुभावों का एक अन्य वर्ग पृष्ठ 222-236 पर उदाहृत हैं।

1- अधरारम्भ—विसर्ग, विजिगूहन, संदष्टक, और समुदम का सोदाहरण वर्णन। भरत अ० 8 श्लोक 135-140

2- कपोलारम्भ—क्षाम, फुल्ल, आदि (चार) - भरत-अ० 8 श्लोक 130-134।

3- हृषारम्भ—स्मित, हसित, आदि 6 अध्याय-6। भरत द्वारा वर्णित हास के छः भेद।

4- भ्रूकर्म—उत्क्षेप, पातन, आदि। भरत-अ० 8, -114-123।

5- ताराकर्म—भ्रम, वसन, आदि। भरत-अ० 8, -93-100।

6- अक्षिपुटकर्म-उन्मेष, निमेष आदि । भरत० अ० 106-1113 ।

7- दृष्टिप्रकार-सम, साचि आदि । भरत—8, 8 101—105 ।

8- तत्पश्चात् कान्त आदि 36 दृष्टियों का वर्णन । भरत, अ० 8, 37-91 ।

और इस प्रकार यह प्रकाश समाप्त होता है (पृ० 236)

मनोवाग्बुद्धिजा ये च ये चारम्भाः शरीरजाः ।

अनुभावानुगामी (?) ते यथा.....प्रदर्शिताः ॥

भावाः सञ्चारिणो ये च स्थायिनो ये च सात्त्विकाः ।

सविभावानुभावास्ते शृङ्गारस्य प्रकाशकाः ॥

प्रकृतिभवं (प्रकृति) मन्तो (मतो) ऽभिमानसंज्ञं सममनुभावविभाववर्गः ।

स्वमवसरमुपेयिवानुपास्ते नृपतिमिवाधिकृतेनु(पु) नीविवर्गः (नीतिवर्गः) ॥

इति महा-+-शृ. प्र. अनुप्रभावप्रकाशो नाम सप्तदशः प्रकाशः समाप्त ॥

पन्द्रहवें प्रकाश में प्रारम्भ हुआ एक खण्ड सत्रहवें प्रकाश के साथ समाप्त होता है । तेरहवें और चौदहवें प्रकाश में 49 भावों का वर्णन करके भोज ने एक-एक भाव-यथा-रति से सम्बन्धित विभावों और अनुभावों के भेदों का परिगणन एवं उनके उदाहरण प्रारम्भ किये जो इस (सत्रहवें) प्रकाश के साथ समाप्त हुए । यह प्रकाश उपर्युक्त दो श्लोकों के साथ समाप्त होता है । ये श्लोक भोज के अन्तरात्मा में उत्पन्न सामान्य रस सिद्धान्त का निरूपण करते हैं जो इस बात पर आश्रित है कि अहङ्कार शृङ्गार को उत्तेजित करने का काम ही समस्त 49 भाव एवं उनके विभाव, अनुभाव करते हैं ।

अष्टादश प्रकाश पृष्ठ 337-364

इस प्रकाश के साथ प्रारम्भ होने वाला खण्ड इक्कीसवें प्रकाश तक चलता है । ये चारों प्रकाश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार शृङ्गारों का वर्णन करते हैं । अष्टादश प्रकाश का नाम धर्म शृङ्गार है । इसमें धर्म की परिभाषा दी है ।

तत्र धर्मो नाम श्रुतिस्मतिविहिताचारः । यह तीन प्रकार का है—प्रवृत्ति, निवृत्ति, और नियम । वाक्, मनस्, और कार्य से की जाने वाली वाली वृत्ति दस प्रकार की होती है (4+3+3=10) । वाक्-हित, प्रिय, सत्य, और आप्त । मनस् (चिन्तन)—आस्तिक्य, दया, और पस्वशीप्सा । काय (क्रिया)—गुरुपासना, दान, और आर्तत्राण । वात्स्यायन कृत न्यायभाष्य (पृष्ठ 14 चौखम्बा संस्करण) में दी हुई वात्स्यायन की व्याख्या को भोज ने थोड़ा परिवर्तित कर दिया है । इन दशों के उदाहरण पृष्ठ 237-38 पर है । पाण्डुलिपि में धर्म के तीन कायज अङ्गों के उदाहरण खण्डित हैं पृष्ठ 138-39 पर निवृत्ति के दस भेद । इनमें से पाण्डुलिपि में पाँच खण्डित हैं । जो उपलब्ध हैं, वे हैं—नृशंसता, परस्वामिध्या, निषिद्धसेवा, स्तेय, और हिंसा से निवृत्ति । इनके उदाहरण काव्यों से लिये गये हैं । पृष्ठ 239 से 42 तक दस प्रकार के नियम—

अथनियमरूपः । सोऽपि दशधा बाह्यमनःकायक्रियादिभिः तद्यथानिमित्तनैमित्तिकयो-

रत्यागः, स्वजातिधर्मादिविचलनं, सहस्रैः सम्बन्धः, लोकागमविरुद्धैरसंसर्गः, न्यायतोऽर्थाधिगमः, गुर्वाज्ञानतिक्रमः, अप्राथर्नाभङ्गः, प्रतिज्ञानिर्वाहः, समरादपलायनम्, गोब्रह्मणार्थे प्राणादि-परित्यागः ।

पुनः धर्म की परिभाषा और उसके तीनों स्वरूपों—प्रवृत्ति, निवृत्ति, और नियम—एवं धर्मशृङ्गार की परिभाषा पृष्ठ 242 । धर्मशृङ्गार की रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति क्रमशः पांचाली, पौरस्त्या और भारती के रूप में दी गयी है । विशेष कल्पना शक्ति के सहारे भारती वृत्ति, पाञ्चाली रीति और पौरस्त्या प्रवृत्ति की प्राचीन परिभाषाओं को धर्म-शृङ्गार के विविध पक्षों से सम्बन्धित प्रतिपादित किया है । पृष्ठ 344 धर्म शृङ्गार की नायिका व स्वकीया और नायक धीरोदात्त । धीरोदात्त नायक के धैर्य गुण की व्याख्या तद्वि इन्द्रिया अविकारकारणं चित्तधर्म । धीरोदात्त के गुणों की सूची पृष्ठ 264 तक । इन सब गुणों के जो कि तीन वर्गों में दिये गये हैं, उदाहरण दो-दो श्लोकों में हैं ।

क— (1) अभ्युदयादिभिः अनुत्सेकः (2) शोकादिभिः अवैकलव्यम् (3) व्यसनादिभि रदीनत्वम् (4) रागादिभिर्न धर्मवाधा (5) चकितेषु उत्तमस्पर्धा (6) नीचेष्वर्थेषु जुगुप्सा, (7) शक्तिसद्भावे क्षान्तिः (8) प्रमादस्खलितेषु अनुणयः (9) सदाचारेषु आदरः (10) परगुणेष्वमात्सर्यः (11) पण्यसनेषु न प्रहर्षः (12) परापवादेषु न प्रवृत्ति (13) अस्थानेषु न क्रोधः (14) प्रारम्भेषु न अतिर्वाहः (15) कर्मातिशयैः न विस्मयः (16) जात्यादिभिः न अभिमानः ।

ख—शीलम्, दाक्षिण्यम्, स्थैर्यम् गाम्भीर्यम्, प्रागल्भ्यम् शोभा, कृतज्ञता, और अविकत्यन्ता ।

ग— (1) अनुकूलेषु रतिः (2) अनवगीतेषु प्रीतिः (3) उत्तमेषूत्कण्ठा (4) धर्मार्थ-कामेषु चिन्ता (5) उत्तरपक्षे मतिः (6) अव्याहतक्रमा स्मृतिः (7) तत्त्वानुपाती (या-नुवादि) वितर्कः (8) फलानुसारिणी शङ्का (9) विविक्तेषु निद्रा (10) निशीथे स्वापः (11) अपर-रात्रे प्रबोधः (12) स्वश्लाघादिषु व्रीडा (13) सर्वत्रैव अवहित्थम् (14) संभावाधिक्ये धृतिः (15) परार्थसिद्धौ हर्षः (16) परापदाने रोमाञ्चः (17) स्मितमात्रकारी हासः (18) महारम्भेषु उत्साहः (19) व्रतातिशयादिषु ग्लानिः (20) स्वशक्तिधर्षणेपु क्रोधः (21) महादुःखेषु शोकः (22) दुःखातियोगे अश्रूद्गमः (23) प्रारम्भातिरेके स्वेदः (24) आयासातिशये श्रमः (25) महाप्रहारादिषु मूर्च्छागमः (26) गर्वादयश्च न सत्यापि गर्वादिहेतौ (कारण होने पर भी गर्व, मद, अमर्ष एवं असूया आदि का न होना)

इनमें से अधिकांश का वर्णन दो उदाहरणात्मक श्लोकों में किया गया है । इस अंश की पाठ्य-सामग्री रुचिकर है । प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार होती है —

तदेतद् धर्मशृङ्गारे धीरोदात्तस्य चेष्टितम् ।
मनोवाक्काय-चेष्टाभिः स्पष्टमेवोपवर्णितम् ॥
पाञ्चाली भारती प्राच्या रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ।
स्वकीय नायिकावा (चा) स्मिन् धीरोदात्तश्च नायकः ॥

स एष धर्मद्रुमबाल.....प्लवो (पल्लवो) लवोच्चयः (?) सूतृतमुक्तिसम्पदाम् ॥
पदं दधानः श्रुतिमार्गगोचरे चिराय यावा.....(अ) वतंसताम् ॥

इति श्री + + शृ. प्र. धर्मशृङ्गारप्रकाशो नाम श्रष्टादश प्रकाशः ।

एकोनविंश प्रकाश पृष्ठ 264—299

अर्थशृङ्गार

अर्थ की परिभाषा—अर्थो नाम आत्मनः सुखसाधनानां कलत्रमित्रादीनामर्जनम् ॥
अर्थ के तीन प्रकार हैं । (१) नव स्वयं अर्जित होता है । इसके दस भेद हैं—विद्या, भूमि, पशु, धान्य, हिरण्य, भाण्ड, उपस्कार, कलत्र, पुत्र और मित्र; (२) भूतपूर्व—इसे प्रणष्टानीत कहकर परिभाषित किया है; (३) पित्र्य—कुल क्रमागत सम्पत्ति इन दो के केवल आठ भेद हैं कलत्र और पुत्र को छोड़कर ये आठों भेद नव अर्थ के समान हैं— इनके भी भेद हैं और उन सबके उदाहरण पृष्ठ 264—66 पर दिये गये हैं । पृष्ठ 266 पर अर्जन । इसके चार भेद हैं—अलब्ध-लाभ, लब्ध परीक्षण, रक्षित विवर्धन और रक्षितोपयोग । पृष्ठ 467 पर अर्जन के साधन, विनय, व्यवहार, रक्षा, मन्त्र, उपाय, विक्रम, युद्ध, उपनिषद, और प्रशम ये अर्थशास्त्र के विभिन्न अंग हैं । इन साधनों से अर्जित अर्थ शेष तीन पुरुषार्थों की उपलब्धि में सहायक है । अर्थशृङ्गार, अर्थपरक कार्यकलाप है—प्रवृत्ती तदवाप्त्याभिमानः, अर्थशृङ्गारः । पृष्ठ 268—अर्थशृङ्गार का नायक धीरोदात्त होता है । और नायिकाएँ सब प्रकार की । रीति गौड़ी । वृत्ति आरम्भती एवं प्रवृत्ति अर्ध-मागधी । रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति की अर्थ-शृङ्गार की परिस्थितियों पर लागू होने वाली परिभाषाओं की कल्पना प्रसूत व्याख्या ।

पृष्ठ 270—गुण, प्रकृति, प्रवृत्ति, और परिग्रह के अनुसार, अर्थशृङ्गार के धीरोदात्त नायक के चवालीस भेद । उसके चौबीस गुण ।

तत्र धीरोद्धतस्य धैर्यमुद्धतंभवति । यत्प्रभावाद् अभ्युदयादिभिः उत्सेकः, शोकादिभिः वक्लव्यं, व्यसनादिभिः दीनत्वं, रागादिभिर्धर्मबाधा, चकितेषु असदृशस्पधी, नीचार्थेषु अपि अजुगुप्सा, अणक्तावेव क्षान्तिः, स्वलितेषु नानुशयः, सदाचारेषु अनादरः, परगुणेषु मात्सर्यम्, परव्यसनेषु प्रहर्षः, परापवादेषु प्रीतिः अस्थानेषु क्रोधः, प्रारब्धेषु अनिवार्यः कर्मातिशयैः विस्मयः, स्वजात्यादिभिश्च अभिमानः (जात्यादयो गुणाः चतुर्विंशतिः) । इनमें अन्तिमोल्लिखित जात्यादिगुणाः का तात्पर्य निम्नलिखित चौबीस गुणों से है—जाति, अन्वय, अभिजन, निवास, आस्पद, पद, पिता, शास्त्र, वाग्मिता, कलावैदग्ध्य, चातुर्य, रूपसम्पत्, सौभाग्य, त्याग, शौर्य, अदीनवाक्यता, शक्ति, दक्षता = 18/छः गुण उपलब्ध नहीं हैं । इसके पश्चात् एवं विध औद्धत्य के हेतुभूत आठ विशिष्ट गुण वर्णित हैं—मान, तेजस्, शौण्डीर्य, विलास, विकत्थन, अस्थिरत्व, अगम्भीरता और साहस, इन सबके उदाहरण पृष्ठ 280 तक ।

धीरोद्धतों के तीन प्रकार—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ । ये भेद उपर्युक्त गुणों में से कम या अधिक की उपस्थिति के आधार पर हैं । पृष्ठ 280 से लेकर 299 अर्थात् प्रकाश के

अन्त तक उद्धत नायक के तीनों प्रकारों से सम्बन्धित 49 भागों के उदाहरण । प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार होती है -

धीरोद्धतस्य वृत्तेऽस्मिन् अर्थशृङ्गारसंश्रये ।
 मया लोकप्रसिद्धेऽपि दिङ्मात्रमुपदर्शितम् ॥
 उद्धतो नायकः सर्वा स्त्रीप्रवृत्तिस्तु मागधी ।
 वृत्तिरारभटी चेह गौड़ीया गीयते गतिः ॥
 विद्यादीनामुपायैः अधिगतिरवनं वर्धनं सम्प्रयोगः,
 तीर्थेष्वर्थो ऽयमुक्तः समाधिगतचरापूर्वपूर्वागतानाम् ।
 तस्मिन् धीरोद्धतादेः य इह विहरतो नायकास्याभिमानो
 न्मानोकोऽपि मुख्याः तमिह मतिमतामर्थशृङ्गारमाहुः ॥

इति + + शृ० + प्र० अर्थशृङ्गारप्रकाशो नाम एकोनविंशः प्रकाशः समाप्तः ॥

विंश प्रकाश पृष्ठ 299-325

काम-शृङ्गार

यहाँ वात्स्यायन के कामसूत्र और उसकी जयमंगला टीका का उपयोग किया गया गया है । पृष्ठ 299 पर काम की परिभाषा—कामानाम आत्मनः सुखाभिधा (या मा) नो विशेषगुणः । दो भेद सामान्यरूप और विशेष रूप प्रथम पाँच इन्द्रियों एवं मन की सुख संवेदना है और द्वितीय प्रिय के प्रति प्रेम से उत्पन्न सुखानुभूति । अन्तिम दो प्रकार का है । प्रधान जो स्पर्श से उत्पन्न सुख है और अप्रधान उसके सौन्दर्य आदि के चिन्तन से उत्पन्न आनन्द । पृष्ठ 300 काम सर्वत्र एक प्रकार का सुखाभिमान होता है—सुखाभिमानवती इन्द्रियप्रवृत्तिः । इसीलिये विशिष्ट प्रकार की असुखकर अनुभूतियाँ भी काम का अंग मानी जाती हैं । काम की कामसूत्र में वर्णित परिभाषा उद्धृत है ।

विषय-सम्प्रयोग, तत् सम्प्रत्यय, संस्कार स्मरण, अभिलाष, मनःप्रवृत्ति और संकल्प, ये सब काम के रूप हैं । इनके उदाहरण पृष्ठ 301 पर । हेतुभूत और फलभूत इन दो वर्गों में भी विभाजन । पृष्ठ 301-2 पर सम्प्रयोग के दो प्रकार अंग सम्प्रयोग (पुष्प आदि) और अधिष्ठान सम्प्रयोग (नारी) । अन्तिम के फिर दो भेद—वाह्य [मिलन आदि] और आभ्यन्तर (रत) । पृष्ठ 303 पर काम शृङ्गार में नायक धीरललित होता है और नायिका सब प्रकार की । वृत्ति कैशिकी, प्रवृत्ति दाक्षिणात्या, और रीति वैदर्भी होती है । काम की अवस्थाओं में इनकी परिभाषाओं की उपयोगिता की व्याख्या । पृष्ठ 304 पर धीरललित के चवालिस भेद । चित्त के विशिष्ट गुण एवं समस्त कार्यों के प्रेरक लालित्य की व्याख्या अन्य प्रकार के नायकों के समान यहाँ धीरललित के भी गुणों की संख्या सोदाहरण दी गयी है और फिर उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ कोटि के धीरललित नायक में प्राप्त 49 भागों के उदाहरण हैं । ये पृष्ठ संख्या 325 तक चलते हैं । दो वर्गों में विभक्त गुण निम्न प्रकार हैं—
 1. अभ्युदयादिभिः प्रमोदः, शोकादिभिः वैकल्यं, व्यसनादिभिः दीनत्वं, विलासेषु व्यसनेषु अभिनिवेशः, विषयेष्वत्यासंग, धर्मार्थयोः नात्यादरः, अनर्थजनैः संसर्गः, हासेषु प्रवृत्तिः शरीरेऽपि नापेक्षा, सर्वनाशेऽपि नानुशयः, सुलभेष्ववमानः, दुर्लभेष्वकांक्षा, स्ववर्णनासु

भेद = 192 । $192 \times 64 = 12288$ । यद्यपि और भी भेद संभावित हो सकते हैं—फिर भी बारह हजार दो सौ अठासी के ही उदाहरण दिये गये हैं ।

द्वादशैवं सहस्राणि (12000) साष्टाशीतिशतद्वयी (288)

भवन्ति कामशृङ्गारे मूल (1:) प्रकृतयः पृथक् ॥

व्यतिपङ्गाद् अमूपां तु साम्याधिक्यात्पताकृतः ।

न पर्यन्तो विकल्पनामेकद्विन्यादियोगतः ।

चतुष्पष्टि पश्य.....मभिलापप्रभृतिकान् ।

अथाष्टौ नित्यादीन् पृथगपि चतुर्विंशतिविधान ।

मिथोऽमीषामीपत्समधिक समत्वानि विमुशन् ।

कविः कुर्यात् स्रोतोनुगुणमनुरागव्यतिकरम् ॥

इति श्री + शृ० प्र० अनुरागस्थापनो नाम द्वाविंशः प्रकाशः परिसमाप्तः ।

त्रयोविंशः प्रकाशः पृष्ठ 366-408

विप्रलम्भ और सम्भोग शृङ्गार का संक्षिप्त वर्णन है । पृष्ठ 386 पर शृङ्गार के दो भेद संयोग और विप्रलम्भ । विप्रलम्भके चार भेद हैं—प्रथमानुराग, मान, प्रवास, और करुण । सम्भोग के भी चार भेद हैं—उपर्युक्त चार प्रकार के विप्रलम्भों में से प्रत्येक के पश्चात् होने वाला मिलन । पृष्ठ 487 प्रेम-प्रक्रिया के दो पक्ष—विचित्र और रागवर्धन । इन दोनों की दृष्टि से पूर्वप्रकाश में वर्णित अनुराग के समस्त प्रकारों का विश्लेषण । पृष्ठ 388-390 सम्भोग के प्रकार—स्वाङ्गनाविषय, पराङ्गनाविषय आदि । इनके उदाहरण पृष्ठ 390 तक । पृष्ठ 392 चार सम्भोगों और चार विप्रलम्भों के उदाहरण । विचित्र और रागवर्धन के विविध पक्षों और उनके मिश्रित रूपों का वर्णन पृष्ठ 399 । पृष्ठ 399-400 नायिका और उसके भेदों की दृष्टि से विश्लेषण । पृष्ठ 402 सजातीय और विजातीय लोगों के मध्य होने वाले सम्पर्क के दो प्रकार । अनुगम, स्थितानुगम, कौर आगन्त्वनुग के दो भेद । पृष्ठ 404 । विप्रलम्भ और सम्भोग के एक या अधिक भेदों के विभिन्न कवियों से लिये गये उदाहरण । उपर्युक्त संयोग एवं विप्रलम्भ के आठ भेदों में से एक साथ दो या अधिक जिस काव्य में पाये जाते हैं उसे संविधि कहते हैं । सैकड़ों भेदों की सम्भावना का उल्लेख और उनमें से संक्षिप्त रूप में कुछ के उदाहरण — पृष्ठ 407 । प्रकाश की समाप्ति पृष्ठ 408 पर होती है ।

दिङ्मात्रमेतदुदितं प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणैतदनन्तराणाम् ।

भूयश्च रूपामखिलं खलु विप्रलम्भसंभोगयोरनतिविस्तरतो वदामः ॥

इति श्री + + शृ. प्र. विप्रलम्भसम्भोगप्रकाशनो नाम त्रयोविंश प्रकाशः समाप्तः ॥

चतुर्विंश प्रकाश पृष्ठ 409-438

पृष्ठ 409 पर विप्रलम्भ की परिभाषा और चतुर्विध वर्गीकरण—पूर्वोक्त का संक्षिप्त सार । विप्रलम्भ, मान, और प्रवासादि की शब्दों, उनके धातुओं, प्रत्ययों एवं उपसर्गों के द्वारा समस्त सम्बन्धित अर्थों की व्याख्या के लिये निरूपित । पृष्ठ 410 पर “संज्ञास्तु नैताः

पारिभाषिक्यः एवं प्रकृतिप्रत्ययोपसर्गविभागकल्पनायाम् अन्वर्थस्यापि सम्भवात् ” । विप्रलम्भ की निष्पत्ति वि पूर्वक लभ् धातु से की गयी है और उसका अर्थ है वञ्चना । यह वञ्चना चार प्रकार की होती है—प्रतिश्रुत्यादान, विसंवादन, कालहरण, और प्रत्यादान । यद्यपि लभ् का अर्थ है प्राप्ति किन्तु प्र के संयोग से इसका अर्थ ठीक विरुद्ध अर्थात् अप्राप्ति या वञ्चना हो जाता है । ऐसे अन्य उदाहरण भी दिये गये हैं जहाँ प्र के जुड़ने से विपरीत अर्थ हो जाता है । यथा—तिष्ठति—प्रतिष्ठते, वसति—प्रवसति, स्मरति—प्रस्मरति । प्रलम्भ के साथ वि जुड़ने पर उसके चार अर्थ होते हैं जिससे प्रलम्भ के अर्थों में वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है । वि के चार अर्थ हैं—विविध, विरुद्ध, व्याविद्ध, और विप्रतिषिद्ध, जो क्रमशः विप्रलम्भ के चार अर्थों के विशेषण हैं—प्रथमानुराग, विप्रलम्भ, प्रतिश्रुत्यादान (विविध), मान—विसंवादन—विरुद्ध । प्रवास—कालहरण—व्याविद्ध । करुण—प्रत्यादान—प्रतिषिद्ध । इस प्रकार विप्रलम्भ के चारों प्रकारों में प्रकृत्यर्थ और उपसर्गार्थ में प्रत्येक के चारों रूप विद्यमान हैं । इनके उदाहरण पृष्ठ 480 तक दिये गये हैं ।

यद्यपि भोज ने विप्रलम्भ के प्रत्येक प्रकार के वर्णन-प्रसंग में शब्दों के उपर्युक्त स्पष्ट और अलग अलग अर्थ बतलाये हैं तो भी उन्होंने स्वीकार किया है कि इन अर्थों में संप्लव हो सकता है । अर्थात् एक अर्थ में दूसरा अर्थ भी मिला रह सकता है । इस प्रकार प्रथमानुराग विप्रलम्भ में भी जहाँ प्रतिश्रुत्यादान और विविध ये दोनों प्रकृत्यर्थ और उपसर्गार्थ के रूप में विद्यमान हैं वहाँ प्रवास के भी कालहरण और व्याविद्ध ये प्रतीत होते हैं । इनके उदाहरण पृष्ठ 470 तक । भोज के मत के यह अतिव्याप्ति स्वाभाविक है और बात यह है कि प्रथमानुराग में प्रतिश्रुत्यादान और वैविध्य एक सीमा तक प्रधान होते हैं । अन्यभेदों में ये प्रधान नहीं होते । पृष्ठ 471 पर प्रथमानुराग आदि शब्दों के अर्थ की व्याख्या । राग शब्द रञ्ज से बनता है । अनु का अर्थ है पश्चात् या सह । रागरञ्ज को कहते हैं । राग का सम्बन्ध प्रकाशार्थक रज् धातु से भी हो सकता है और अनुराग का अर्थ शोभा, औज्ज्वल्य आदि से सम्बन्धित हो सकता है । भरत के मत से शृङ्गार स्वयं शुचि और उज्ज्वल होता है । अनु-राग अनुपकृत या रंगने को भी कहते हैं । रंगना भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्रेम व्यक्ति के मुख को विशेष रंग या वर्ण प्रदान करता है जिसे सात्विक भाव कहते हैं । ‘राजते’ का अर्थ है प्रकर्ष प्राप्त करता है ।

प्रकर्षमापद्यते रतिरनेनेति रागः राजतेः । अनु पश्चात् सह वा रागः । अनुरूपो रागः, अनुवृत्तो रागः । प्रथमश्चासौ अनुरागः अथवा प्रथममनुरागः । प्रथम का अर्थ हो सकता है उत्कृष्ट । इन सब के उदाहरण पृष्ठ 474 तक हैं ।

पृष्ठ 475 मान । मान में दोहरा निषेध सम्मिलित है — मा, न = नहीं नहीं जो क्रुद्ध प्रेमिका द्वारा क्रोध में व्यक्त की हुई इन्कारी से सम्बन्धित है । प्रेम का मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा, कुटिल और इन्कारों से भरा है । उपर्युक्त निरुक्ति के अनुसार मान का अर्थ है पूजा, ज्ञान, बोधन, और मापन । इन सभी पक्षों से सम्बन्धित स्नेह के उदाहरण शृङ्गार काव्य से लिये गये हैं ।

मान्यते पूज्यतेऽनेनेति मानः (:) ।

ज्ञानार्थक मान अभिमान होता है जिसमें अप्रिय भाव भी आनन्द के ही भाग बन जाते हैं—

मन्यते दुःखैकहेतुमपि सुखसाधनमेवैनम् इति मानः —

मनुते बुध्यते अस्मात् प्रेमास्त्विति (प्रेमास्त्विति मिति) मानः ।

ममिते (मिमीते) परि (च्छिन्न) क्ति (त्ति) प्रेम्णः प्रमाणमिति मानः ।

इनमें अन्तिम प्रेम की गहराई का मापक है। इसके पश्चात् यह व्याकरणिक विचार प्रारम्भ होता है कि ल्युङन्त मान शब्द का प्रयोग पुल्लिङ्ग में कैसे हुआ, वह तो नपुंसक लिङ्ग है। इसका समर्थन यह कहकर किया गया है कि पतञ्जलि ने भी तो अनुमान शब्द का प्रयोग पुल्लिङ्ग में किया है। मान के चारों पक्षों से सम्बन्धित उदाहरण।

पृष्ठ 425 प्रवास—वस् निवासे श्रीर वस् आच्छादने। इन दो धातुओं से भोज ने प्रवास शब्द की निष्पत्ति की है। इनमें से प्रथम का अर्थ प्र उपसर्ग के जोड़ने पर ठीक उलटा हो जाता है। अतः प्रथम प्रवास का अर्थ है चला जाना। फिर दूसरे अर्थ का सुझाव दिया है—

प्रकर्षेण वासयति अनुरञ्जयति तन्मयतां नयति कामिनः चित्तमिति वा प्रवासः ।

विदेश गमन से उत्कण्ठा बढ़ती है। भोज ने शब्दों की व्याकरणिक व्युत्पत्ति से ही उनका अर्थ निकालने का प्रयत्न किया है। जिससे वियोग की उन विभिन्न स्थितियों से उस अर्थ की संगति बैठे, इसके पश्चात् दूसरा अर्थ किया है—

यदि वा प्रपूर्वः वतिर्णिजन्तः प्रमाणो वर्तते यथा-तूष्णीमेनं प्रवासयेद् इति प्रवास्यन्ते हन्यन्ते वियोगिनः इति प्रवासः। प्र पूर्वक वस् निवासे से निष्पन्न प्रवास शब्द के ये तीन अर्थ हो सकते हैं। वस् आच्छादने के साथ प्र लगाने पर उसका विपरीत अर्थ नहीं लिया गया है। यहाँ प्र प्रकर्ष या विशेष की ओर संकेत करता है। जिसका अर्थ विशेष परिधान या प्रवास में विशेष आच्छादन है। प्रवास में वियोगी जन शायद ही कभी अपना प्रसाधन करते हैं या वस्त्र-परिवर्तन करते हैं। इन सब भेदों के उदाहरण।

पृष्ठ 426 करुण। इसकी व्युत्पत्ति कृ करणे से की गयी है। इसका अर्थ है—बहुत वस्तुएँ बनाना, रखना आदि। निक्षेपणार्थं किर् धातु से किरतिः बनता है। इस द्वितीय व्युत्पत्ति का सङ्केत इस बात की ओर है कि करुण में व्यक्ति आनन्द अथवा भोग से वियुक्त या विक्षिप्त हो जाता है। कृ=करना। अभूतमुद्धावयति। यथा पटं करोति। मूर्च्छा करोति। चोरकारं करोति अर्थात् चोरः चोर इति उच्चायं क्रोशति में कृ का अर्थ है—उच्चारण या विलाप। करुण में व्यक्ति खूब रोता है। कृ के दो अन्य अर्थ—स्थापयति और अभ्यञ्जयति की व्याख्या और करुण की दशाओं में उनके प्रयोग के उदाहरण पृष्ठ 428। ऊपर इस शब्द के ऐसे अर्थ दिये गये थे जिनमें प्रकृत्यर्थ प्रधान और प्रत्ययार्थ गौण था। अब प्रत्ययार्थ को प्रधान मानकर अनेक वैशिष्ट्यों की संगति बतलाई है। जैसे 6 कारक और कर्त्ता, हेतु कर्त्ता, भावकर्त्ता, तर्ककर्त्ता कर्तृकर्म और भावकर्म। इनके उदाहरण पृष्ठ 431 तक हैं।

अथ प्रत्ययोत्पत्ति कालाः—भूत, भविष्यत् वर्तमान और अव्यक्त :

पृष्ठ-434—तक इसके उदाहरण ।

पृष्ठ-434—अथापरे द्रव्यात्मनः क्रियासाधारणरूपा विद्यन्ते ।

क — नित्य—शश्वतिक, वैकल्पिक और नैयोगिक ।

ख — नैमित्तिक—औद्योगिक, औपभोगिक और प्रायोगिक ।

ग — स्वाभाविक—आगन्तु, नैसर्गिक, और सांसर्गिक ।

घ — वैपरामर्षिक— संकीर्ण, प्रकीर्ण, और विप्रकीर्ण ।

इनके और भी अनेक विभाग किये गये हैं—

क-1 — निमेष, मुहूर्त नाडिका, आदि ।

क-2—दिन, मास, पक्ष, ऋतु और अयन ।

क-3—संवत्सर, युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय और महाप्रलय ।

ख-1—प्रातः, प्रत्युष, आदि ।

ख-2 — प्रदोष से लेकर निशीथ और ब्राह्म मुहूर्त तक, चन्द्रोदय और चन्द्रास्त ।

ख-3—शरद आदि ऋतु ।

ग-1—मद, प्रमद, उत्सव, और व्यसन परिहार ।

ग-2—बाल्य, कोमार, यौवन, मोक्ष्य, माध्यस्थ्य और प्रागल्भ्य ।

ग-3—पर, अपर, यौगपद्य, अयोगपद्य और क्षिप्र ।

घ-1—क्रीड़ा, केलि छूत, व्रत, गोष्ठी. और प्रेक्षा ।

घ-2—विविक्त, उद्यान, और सौधादिसेवा ।

घ-3—अष्टमीचन्द्र, इन्द्रोत्सव, और यक्षरात्रि आदि प्रेम्तोत्सव ।

इनके उदाहरण पृष्ठ 437 तक हैं । विप्रलम्भ तथा अन्य शब्दों की निरुक्ति चर्चा स. क. आ. में भी मिलती है । देखिये स. क. आ. 5, कारिका 46-76 पृष्ठ, 471-481 और पृष्ठ 554-581

प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार होती है—

स एव कालः कात्सर्येन द्विरूप उपदिशितः ।

क्रियापदैक-वाच्यो ऽयं क्रियायाः साधनं च यः ॥

प्रत्ययार्थो द्वयं चेतत् सममेतदुदाहृतम् ।

प्रकृत्यर्थानुरोधेन विप्रलम्भे चतुर्विधे

यो विप्रलम्भः प्रथमानुरागः मानः प्रवासः करुणस्स एव ।

साधर्म्यवैधर्म्यवशेन चषामभेद (अनेक) भेदाः (दान्) पथ (अथ ?)

तौ (?) वदामः ॥

इति श्री + शृ० प्र० विप्रलम्भान्वर्थप्रकाशो नाम चतुर्विधः प्रकाशः ।

पञ्चविंश प्रकाश पृष्ठ 439-464

(अन्तिम भाग अनुपलब्ध)

पृष्ठ 439—इस प्रकाश में वर्णित विषय को भोज के अनुसार चतविध विप्रलम्भ की साधर्म्य-परीक्षा कह सकते हैं। भोज का आशय है कि विप्रलम्भ के चारों विभाग अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण एक दूसरे से भिन्न हैं। वैधर्म्य के कारण उन्हें अलग-अलग पहचाना जा सकता है। पर साथ ही साथ यह भी अनुभव-सिद्ध है कि इनमें से एक में दूसरे विप्रलम्भ के कुछ गुण-धर्म भी विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार इनमें साधर्म्य भी हैं। उदाहरणार्थ पूर्वानुराग में मानप्रवास और करुण के कुछ लक्षण मिलते हैं। यदि पूर्वानुराग विप्रलम्भ में प्रेमी और प्रेमिका के मध्य होने वाली दूरी स्थानकृत हो तो वह प्रवास का एक अङ्ग होगा। इस प्रकार पूर्वानुराग और प्रवास में साधर्म्य है। इसके पश्चात् भोज ने प्रेम के क्रमिक सोपानों-भाव, भावजन्म, भावानुबन्ध और भावप्रकर्ष—का वर्णन किया है। देखिये स० क० आ० 5-कारिका 13-27 और 35 (पृष्ठ 488 से 491)। फिर इनकी परिभाषाएँ हैं। ये चार सोपान प्रेम की चार समृद्धि कहे गये हैं—

तदुक्तं भावजन्मानुबन्धप्रकर्षानुरूपस्तावस्था (अवस्था) समृद्धय इति ।

यह प्रकरण पृष्ठ 439 तक चलता है। इसके बाद पृष्ठ 440 से भावस्कन्ध का प्रारम्भ है। यह आलम्बनों का, उद्दीपनों के मध्य प्रथम सम्पर्क होता है नायक-नायिका का परस्पर दर्शन द्वारा सम्पर्क अथवा श्रवण द्वारा सम्बन्ध। दर्शन और श्रवण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। यथा दर्शन—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव। श्रवण—शब्द, ऐतिह्य श्रुतानुमान, श्रुतोपमान, श्रुतार्थापत्ति और श्रुतसम्भव। इनका परस्पर मिश्रण अनिवार्य है और भर्तृहरि के अनुसार 'न सोस्ति प्रत्ययो लोके' आदि। अर्थात् कोई भी अनुभव अथवा ज्ञान शब्द से असम्बद्ध नहीं होता। उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार अनुराग श्रवणानुराग या दर्शनानुराग के रूप में हो सकता है। दर्शनानुराग के भी प्रत्यक्षानुराग, अनुमानानुराग आदि प्रकार होते हैं। स्वयं भरत ने नाट्यशास्त्र के अध्याय 24 के श्लोक 149 में दर्शन और श्रवण की चर्चा की है—

श्रवणाद् दर्शनाद् रूपाद् अङ्गुलीलाविचेष्टितैः ।

मधुरैः संप्रलापैश्च कामः समुपजायते ॥

किन्तु भोज ने इस अवसर का उपयोग विभिन्न दर्शनों और विद्याओं के अनुसार प्रमाणों के विशद वर्णन के लिये किया है। उन्होंने यहाँ प्रेम के अनन्त कारणों एवं रूपों के विश्लेषण तथा उनके उदाहरणों की चर्चा की है। उन्होंने नल दमयन्ती जैसे युगलों के जो दर्शन या श्रवण द्वारा अनुराग में मग्न हो जाते हैं, दुनिया भर के उदाहरण लाकर संक्षेप में एकत्र कर दिये हैं। इस प्रसङ्ग में भोज ने स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष से लेकर ऐतिह्य तक के प्रमाणों की परिभाषाएँ दी हैं और उन्हें स्वीकार करने की आवश्यकता प्रतिपादित की है। उन्होंने दो या तीन प्रमाण मानने वालों का खण्डन किया है। वे अन्य प्रमाणों को अनुमान या शब्द के भीतर समाहित करने के विरुद्ध हैं। यहाँ पर गौतम, विन्ध्यवासी, धर्मकीर्ति,

ईश्वरकृष्ण तथा अन्य चिन्तकों को उदाहृत किया है। प्रत्यक्षानुराग-प्रत्यक्ष की परिभाषा-

तत्र अक्षमक्षं प्रति गतं विज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

प्रत्यक्ष के 6 भेद-साक्षात्, प्रतिबिम्ब, प्रतिमान, उत्प्रेक्षा, स्मृति, और स्वप्न । इनमें प्रथम सर्वोत्तम प्रत्यक्ष है। "तत्र प्रति विषयाध्यवसायः" (ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका) साक्षात् प्रत्यक्षः । भोज कहते हैं कि कुछ लोग स्वप्न आदि को प्रमाणाभास मान सकते हैं किन्तु प्रमाण की छाया भी शृङ्गार की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त है। ये उसी सीमा तक प्रमाण माने जा सकते हैं जहाँ तक वे अर्थक्रियाकारी ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। इन 6 के उदाहरण दिये गये हैं। पृष्ठ 442 पर अनुमानानुराग और अनुमान की चर्चा है।

लिङ्गदर्शनात् लिङ्गीप्रतिपत्तिरनुमानम्—

अनुमेयेन सम्बद्धम् प्रसिद्धं च तदन्वये ।
तदभावे तु यन्नास्ति तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥
निपरीतमतो यत्स्याद् एकेन द्वितयेन वा ।
विरुद्धासिद्धसंदिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ।
प्रशस्तपाद भाष्य, पृष्ठ 100, चौख. सं. ॥

ययं तु लिङ्गमात्रमेव ब्रूमः तदाभासस्यापि प्रथमानुरागनिमित्तत्वात् ।

अनुमान के छः भेद बताये गये हैं। गौतम और ईश्वरकृष्ण केवल तीन मानते हैं। भोज द्वारा मान्य ६ भेद हैं-सामान्यतोद्दष्ट, विशेषतोद्दष्ट प्रत्यसतोद्दष्ट परोक्षतोद्दष्ट, विद्यमान विषय और अविद्यमान विषय। इनके उदाहरण हैं-कार्येण कारणम् स्वरेण पुत्रम्, कृत्तिकोदयेन रोहिण्युदयम्, देशान्तरप्राप्त्या आदित्यगतिम्, निमित्तेन भाविनमर्थम्। उक्त ६ प्रकार के अनुमानों के माध्यम से शृङ्गार विषयक उदाहरण विभिन्न काव्या से उद्धृत किये हैं। अनुमान का अन्य दो भेदों—स्वार्थ और परार्थ—में वर्गीकरण नाममात्र को किया गया है और उसकी चर्चा आगे के लिये छोड़ दी गयी है।

पृष्ठ-443 उपमानानुराग और उपमान। उपमान के लक्षण के लिये गौतम के न्याय सूत्र 1-6 को उद्धृत किया है। इसके भी 6 भेद हैं-साधर्म्यं, वैधर्म्यं, मुद्रा, शिल्प, संज्ञा, और अभिनय।

संज्ञासाधर्म्यं वैधर्म्यं मुद्राशिल्पाभिनीति (तिकम् ?) ।

ब्रूते यद्वस्तुनो रूपमुपमानं तदुच्यते ॥

इन छः भेदों के उदाहरण श्लोकों में दिये गये हैं जिनमें उपमा अलङ्कार द्वारा सौन्दर्य की प्रशंसा है या जिनमें उपमान द्वारा व्यक्ति के ज्ञान का चित्रण है। पृष्ठ 444 पर उपमान प्रमाण की आवश्यकता पर चर्चा भोज के मत में उपमान सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रमाण है। उन्होंने अपने समर्थन में विन्ध्यवासी को उद्धृत किया है। इस प्रसंग में गौतम और धर्मकीर्ति भी उद्धृत किये गये हैं। उद्योतकर के न्यायवातिक से भी एक उद्धरण बिना ग्रन्थ का नाम दिये हुए प्रस्तुत किया गया है। यह प्रसंग पृष्ठ 446 तक है।

पृष्ठ 446-अर्थापत्यनुराग और अर्थापत्ति । दृष्टार्थापत्ति के 6 प्रकार प्रत्यक्षपूर्विका, उपमानपूर्विका, अर्थापत्तिपूर्विका, संभवपूर्विका और अभावपूर्विका । उदाहरण । पृष्ठ 448 संभावानुराग और संभव के 6 भेद । संभावना, यथा-स्थाणुर्वा पुरुषो वा । वितर्कं यथा-पुरुषेण अनेन भवितव्यम् । प्रायोवाद यथा-प्रायेण औशीनरः तक्रपायिनः सम्प्रत्यय । जैसे-यथा एतद् घटद्वारं तथा अग्रे नागकन्यकानगरम् । और प्रत्यनुसन्धि यथा-सो (यो) ऽपि कपोलपाण्डु-तादिमूचितः तस्याः स्मराभिष्वङ्गः सोऽपित्वन्निबन्धनः । इनके उदाहरण ।

पृष्ठ 449-अभावानुराग और अभाव । इनके छः भेद-प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, इतरे-भाव, अत्यन्ताभाव, सम्बन्धाभाव और सर्वाभाव । इनके उदाहरण-क्षीरे दधि नास्ति, क्षीरं दधि नास्ति, स्तम्भः कुड्यो न, शशविषाणं नास्ति, चैत्रो गृहे नास्ति, तस्य नामापि नास्ति ।

इसके अनन्तर संक्षिप्त चर्चा यह सिद्ध करने के लिये है कि संभव और अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान में नहीं हो सकता । यह प्रकरण पृष्ठ 452 तक चलता है । यहाँ पर अनुराग की वस्तुओं का प्रत्यक्ष अनुमान आदि से जन्य ज्ञान से उत्पन्न प्रेम के विविध प्रकारों का वर्णन समाप्त होता है अर्थात् यहाँ पर दर्शनानुराग प्रकार का वर्णन पूर्ण होता है । फिर शब्दप्रमुख छः श्रवण प्रमाणों के द्वारा श्रवणानुराग का वर्णन प्रारम्भ होता है ।

शब्द — शब्दविज्ञानाद् असंनिकृष्टमर्थज्ञानं शाब्दम् ।

इसके दो भेद हैं—औपदेशिक और विधि । उपदेश छः प्रकार का है-विधिवाद, अर्थवाद, संज्ञावाद, स्वरूपवाद, मन्त्रवाद और अनुवाद । विधि-प्रवृत्ति निवृत्त्यो विधायको विधिः यह चार प्रकार का है-उपपत्ति, नियोग, प्रयोग, और अधिकार । इनके उदाहरण दिये गये हैं । अर्थवाद के चार भेद हैं—स्तुति, निन्दा, पुराकल्प और पराकृति । स्तुति और पुराकल्प प्रशंसा एवं फुसलाकर पक्ष में लाने का काम करते हैं । ये प्रवर्तक हैं । शेष दो निन्दापरक हैं और दूरीकरण का काम करते हैं । ये निवर्तक हैं । इनके चार उदाहरण हैं ।

पृष्ठ 454 संज्ञावाद- कर्मव्यतिहारहेतुः संज्ञा । चार भेद । अर्थवाद के पश्चात् प्रत्येक के छः छः के बदले चार-चार भेद प्रारम्भ होते हैं । संज्ञावाद का अर्थ है नाम रखना । आन्वयिकी, पारिभाषिकी, नैमित्तिकी और यादृच्छिकी । इन नामों के उदाहरण काव्यों से दिये गये हैं । जहाँ स्वयं कवियों ने नामों की व्याख्या की है यथा—

परन्तपो नाम यथार्थनामा । तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना इत्यादि ।

सुरूपानुवाद—सुरूप के चार भेद-जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य--देखिये दण्डी का स्वभावोक्ति अलंकार । मन्त्रवाद-मन्त्राणधर्माणः शब्ददेवतात्मानः मन्त्राः ।

मन्त्रों के चार भेद—वैदिक, पौराणिक, सैद्धान्तिक और लौकिक । तृतीय का सम्बन्ध शक्ति आदि सम्प्रदायों के मन्त्रों से है । और चतुर्थ का परम्परागत जादू-टोनों से जो कि लोक में प्रचलित हो । राजशेखर ने इसका निदर्शन “गोनासाय नियोजितागर्ज्जना” इत्यादि में किया है ।

पृष्ठ 456- अनुवाद के चार प्रकार-विध्यर्थ, निषेधार्थ स्तुत्यर्थ और निन्दार्थ-उदाहरण । इस

प्रकार उपदेशात्मक शब्द प्रमाण और अनुराग के चौबीस प्रकार इनके द्वारा वर्णित हैं । तत्पश्चात् भोज ने शब्द के दूसरे प्रकार-विधि की चर्चा की है । जो विधान और निषेध इन दो रूपों में मिलता है । पृष्ठ 458—विधि और निषेध के और भेद । 6 अन्य गौण शब्द प्रमाण । इनमें जैमिनीय सूत्र के द्वितीय अध्याय का अनुमरण है । भेद निर्णय के लिये शब्दान्तर, अभ्यास, संज्ञा, संख्या, गुण और प्रकरण की चर्चा-उदाहरण । जब भेद किया जाता है तो 6 अन्य शब्द प्रमाण प्रधान-अङ्गभाव के निर्धारण में सहायता देते हैं । ये श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, और सामाख्या (मीमांसा)-उदाहरण ।

पृष्ठ 461 जब प्रत्येक शब्द का महत्व पृथक्-पृथक् जान लिया जाता है एवं प्रधान और अंगभूत विचारों का भी विश्लेषण किया जाता है तो क्रम का निर्धारण आवश्यक होता है । इसमें छः अन्य शब्द प्रमाण सहायक होते हैं—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य, और प्रवृत्ति । उदाहरण । पृष्ठ 463—यहाँ पर उन तत्त्वों को भी शब्द प्रमाणों के अन्तर्गत गिन लिया गया है जो बहुअर्थक शब्द के किसी एक अर्थ का विनिश्चयन करते हैं और ये हैं अर्थ प्रकरण, लिङ्ग, औचित्य, देश और काल । उदाहरण । इसके आगे पाण्डुलिपि में लम्बी रिक्तता है जिसके कारण ऐतिह्य, श्रुतानुमान, श्रुतोपमान, श्रुतार्थापत्ति, और श्रुतसंभव आदि प्रमाणों के वर्ग से संबंधित अंश अप्राप्य हो गया है । संभवतः इन पाँच बचे हुए प्रमाणों के निरूपण के पश्चात् पच्चीसवाँ प्रकाश समाप्त हो गया होगा (अन्तिम भाग के नष्ट हो जाने के कारण यह जान सकना असंभव है कि भोज ने इस प्रकाश को क्या नाम दिया था ।

(इति श्री + + शृ. प्र. पञ्चविंशः प्रकाशः ।)

षड्विंशः प्रकाश पृष्ठ 464 (अनुपलब्ध)

यह सारा प्रकाश नष्ट हो गया है । जित्द चार के पृष्ठ 464 पर काफी रिक्तता है जिसमें पच्चीसवें प्रकाश का अन्तिम भाग छब्बीसवाँ प्रकाश और सत्ताईसवें का प्रारम्भिक भाग नष्ट हो गया है इसीलिये इस बात का पता लगाना अशक्य है कि इस प्रकाश में किस बात का विवेचन था । फिर भी यह निश्चित है कि इसमें पूर्वानुराग के किसी पक्ष की चर्चा थी क्योंकि यह विषय पच्चीसवें प्रकाश से प्रारम्भ होकर उन्नतीसवें प्रकाश के पूर्वार्ध तक फैला हुआ है उसके पश्चात् विप्रलम्भ के अन्य पक्ष मान का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है ।

इति श्री. शृ. + प्र० षड्विंशः प्रकाशः ।

सप्तविंशः प्रकाश पृष्ठ 465-477

प्रारम्भिक भाग अप्राप्य । अन्तिम प्राशस्ति के अनुसार इस प्रकाश का नाम अभियोग विधि है । यह बात पूर्णतया मालूम नहीं है कि इस शीर्षक के अन्तर्गत भोज ने किस विषय का वर्णन किया है । जो भाग नष्ट होने से बचा है उसमें संकेत और अभिसार का वर्णन है ।

पृष्ठ 465—यहाँ संकेत से सम्बन्धित विभिन्न अवस्थाओं की चर्चा है और उनसे सम्बन्धित उदाहरण दिये गये हैं । संकेत, उपचार, मनोरथ, संकेतमनोरथ, संकेतउत्कंठा, संकेतहर्षण, संकेतआश्वास, संकेतआगम, संकेतअंश. संकेतविघ्न, संकेतउपघ्न, संकेतभंग,

संकेतप्रनुषंग, संकेतआशय, संकेतअपशय, संकेतप्रार्थना, संकेतबहुमान, संकेतअनुक्रोश, संकेत-
आक्षेपण, संकेतअभिरक्षा, संकेततात्पर्य, संकेतउपजाप, संकेतउपालम्भ, संकेतविप्रलम्भ, संकेत-
आशिष, संकेत प्रश्न । इनमें से एक को छोड़कर प्रत्येक के लिये दो प्राकृत उदाहरण दिये गये
हैं । यह प्रसंग पृष्ठ 472 तक चलता है । पृष्ठ 473-अभिसरण-विरह्विसूरण, सखिसंप्रश्न,
इतिवृत्ताख्यान, सखीशिक्षा, ध्वान्तप्रतीक्षा, ध्वान्तानुशोचन, ध्वान्तसंस्कार, चन्द्रिकाभिसरण,
चन्द्रिकानिर्वेद, चन्द्रोदयनिन्दा, चन्द्रतिरस्कार, अभिसरणसाध्वस, अभिसरणोत्साह, अभि-
सारिकावृत्तान्त, वञ्चितावृत्तान्त परिभोगदर्शन, सखीव्याजगर्भा (गर्हा ?) अविनयगूहन, और
चिह्ननिह्नव । प्रत्येक के दो उदाहरण । दो को छोड़कर सब प्राकृत में । प्रिय से मिलने के
लिये अभिसरण करने वाली नारी की विभिन्न कोटियां । वियोग और गमनेच्छा एवं मिलने
से लेकर प्रत्यावर्तन और अपराध चिह्न निगूहन तक अनेक कोटियां वर्णित हैं । निम्नलिखित
श्लोकों के साथ जिनमें इस प्रकाश की विषय-वस्तु का सार उल्लिखित है यह प्रकाशो समाप्त
किया गया है ।

एवं संकेतदानादिशेषा (चेष्टा) कूपारपारगा ।

इ (र) त्युद्धेदसमाधानप्रच्छादनविशारदा ॥

देशकालेङ्गिताकारभावोपायाभियोगवित् ।

नारी नरेषु सर्वेषु नरो नारीषु सिद्ध्यति ।

आविष्कृतोऽयमभियोगविधिर्यथावद् आतःपरं पुनरमी रमणातिपूर्वा ।

पूर्वानुरागतरूपलज्जवभूतदूतसंप्रेषणप्रकृतयः प्रकटीक्रियन्ते ॥

इति श्री महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते शृ. + प्र. + अभियोगविधि प्रकाशो
नाम सप्तविंशः प्रकाशः ।

अष्टाविंशः प्रकाश पृष्ठ 478-535

इस प्रकाश में दूत संप्रेषण की चर्चा है । दूत संप्रेषण विप्रलम्भ के पूर्वानुराग नामक
प्रथम प्रकाश के अंगभूत अभियोग का एक भाग है । पृष्ठ 478 प्रेम के संदेशवाहक अथवा
सहायक और पूरक दूतों की संख्या 84 है । उन्हें परस्पर भिन्न करने वाले मुख्य सिद्धान्त
दस हैं—

जातिगुणः क्रिया द्रव्यं सम्बन्धोऽर्थप्रयोजनम् ।

प्रयोगो योग्यता स्त्रीत्वं दूतभेदेषु हेतवः ॥

- 1—जाति—देव, मनुष्य, किन्नर, वानर, शुक, सारिका पारावत और हंसादि ।
- 2—गुण—पितृपैतामह, अदृष्टवैकृत, अविसंवादक, अलोभशील, अमन्त्रविस्त्रावि,
घार्मिक और भारसहिष्णु ।
- 3—क्रिया—सहपांसुकीड़ा, उपकार-संबद्ध, जन्मान्तराजितस, हाध्यायी, समानशील-
व्यसन, यश्च अस्य रहस्यानि मर्माणि विद्यात् अन्यश्च विद्यात्, द्वित्रिअपत्य और सहसंवृद्ध
- 4—द्रव्य—मालाकार, ताम्बूलिक, गान्धिक, सौरिक, पीठमर्द, विट, विदूषक, पाष-
ण्डिन, सुहृद ।

5—सम्बन्ध—गुरु, सखा, शिष्य, प्रेक्ष्य, आत्मा, ज्ञाति, औरस, और कनीयान ।

6—अर्थ—अर्थनिर्णयप्रतिघात, सहायता, प्राप्ति, प्रतारण, आचूष्य. कीर्ति, और प्रतीति अथवा प्रीति ।

7—प्रयोजन—दया, स्नेह, कुतूहल, अभिप्रायोपलम्भ, पूर्वप्रार्थना, अन्यतर प्रार्थना, शील, और संघर्ष ।

8—प्रयोग—प्रच्छन्न, प्रकाश, हीन, उत्कृष्ट, उद्धत, उदात्त, धृष्ट, और शठ ।

9—योग्यता—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ, पत्रहारक और मूक दूत एवं इनके अवान्तर भेद ।

10—स्त्रीत्व—ईक्षुणिका, भिक्षुकी, सखी, धात्रेयिका, विधवा, दासी, शिल्पकारिका, और शिल्पिनी ।

पृष्ठ 487 तक इनके उदाहरण दिये गये हैं । योग्यता के उदाहरण यहाँ न देकर विवक्ष्यमाण दूतीकल्प नामक पृथक् प्रकरण में दिये जाने का संकेत है । हाँ, योग्यता के नियामक गुणों का उल्लेख किया है ।

संभावनाय विश्वासः प्रवृत्तिर्मेन्द्रसंग्रहः ।

मनोनिर्वाणमुत्साह आश्वासः कार्यनिर्णयः ॥

पृष्ठ 487 पर दूत गुणों का एक भिन्न वर्ग । यहाँ मुख्यतः उनकी वक्तृत्व शक्ति एवं कल्पना शक्ति पर बल दिया गया है । और निम्न उद्धरण भी है—

सक्तुमिव तितुना...मद्रैषां लक्ष्मीः निहिताधिवाचि (ऋग्वेद) ।

शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः भ्रादि । (मालतीमाधवम्)

योग्यता के निर्मायक गुणों का दूसरा वर्ग है—सुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, प्रपोह, और तत्त्वाभिनवेश । यहाँ वाग्मिता की प्रशंसा की गयी है और इस विषय में कवियों की श्रेष्ठ उक्तियाँ संगृहीत की गयी हैं—विविक्त वर्णामरणा (किरात०) कामान्दुग्धे (उत्तर) मुनयो राक्षसीनामाहुः (उत्तर०) इत्यादि । पृष्ठ 489 पर दूतों की विभिन्न श्रेणियों में उक्त गुणों का विभाजन—योग्यतानुसार स्त्रीत्व में विभिन्न गुणों का पुनर्वर्गीकरण । पृष्ठ 497 ।

पृष्ठ 497 पर ही दूतकर्मों का वर्णन । ये चौबीस हैं । प्रवेश, विश्वासन, उपावर्तन, अनुवर्तन, कार्योपन्यास, अवस्थानिवेदन, इंगिताकार्यज्ञान, उपायज्ञान, प्रकरणज्ञान, प्रतारण, समाश्वासन, अत्ययप्रतिकार, प्रयोज्यपेक्षण, संधिरक्षा, प्रतापव्यावर्णन, प्रयोज्योपजाप, पराक्रमण, बन्धुरत्नापहार, मित्रोपग्रह, सुहृद्विभेद, चारज्ञान, गूढ़दण्डातिचार, चारसमाधान, और समाधिभोक्ष । भरत 64-19 (काशी संस्करण) के अनुसार प्रोत्साहन, कौशल, मधुर कथा, दाक्षिण्य, कालज्ञत्व, आह्लादत्व ? हत्व और संवृतमन्त्रत्व । ये ही चौबीस गुण श्लोकों में निबद्ध कर दिये गये हैं । इनमें प्रत्येक के अवान्तर भेद हैं । यथा प्रवेश के अठारह प्रकार हैं । इन सब के उदाहरण दिये गये हैं । उदाहरणार्थ—मालतीमाधव के बहुत से पृष्ठ उद्धृत

कर दिये गये हैं। ये उदाहरण प्रकाश के अन्त अर्थात् पृष्ठ 534 तक चले गये हैं। प्रकाश का अन्त निम्न सार-कथन से प्रारम्भ होता है—

सैषा दूतविशेषाणामशीतिश्चतुस्तुरा ।

चतुर्विंशतिरेतेषां मयोक्ता कर्मणामपि ॥

जातिक्रियादियोगेन यस्य दूतस्य यो विधिः ।

युज्यते तत्र मेधावी तमेव विनियोजयेत् ॥

बुध्वा बुधश्चतुरशीतिरपीति दूतान्, कर्माणि विंशतिमपीति युतां चतुर्भिः ।

यो यत्र सिध्यति तमेव हि तत्र दूतसंप्रेषणादिषु समीक्ष्य समादधीत ॥

इति + + शृ० + प्र० + + दूतविशेषदूतकर्मोपवर्णनं नाम अष्टाविंशः प्रकाशः समाप्तः ।

एककोनत्रिंश प्रकाश पृष्ठ 536-574 अपूर्ण

इस प्रकाश के अन्त का कुछ भाग नष्ट हो गया है। इसलिये अन्तिम वाक्य अप्राप्य है किन्तु प्रकाश की प्रथम पंक्तियों से इतना तो स्पष्ट ही है कि इसमें अनुराग की दूतसम्प्रेषणादि अड़तालीस अवस्थाएँ हैं। ये अवस्थाएँ हैं—दूतसम्प्रेषण, संदेशदान, सुवात्र प्रणिधान, दूतानुगम, सखिविगर्हण, मार्गोद्बोधन, गमागम-चिन्ता, चिरयद्विमर्श, दूतागमन, आकारपरीक्षा, दूतप्रतिभेद, दूतपरिप्रश्न, दूतव्यहार, दूतवाक्याकर्णन, गमनवृत्तान्त, प्रिय सन्देश, सुहृत्सम्मन्त्रण, अवस्थानुभव, सहायोत्साहन, प्रियदूतागमन, दूतप्रतिपत्ति, वार्त्ताभिधान, कार्यपर्यनुयोग, दूतवाक्य, उत्तराभ्युपपत्ति, दूत प्रतिवाक्य, दूतवाक्याक्षेप, दूताभिमतसंन, परिजनशोभ, गुरुजनाशंका, सहायावेग, इतिकर्तव्यता, स्वयंप्रवृत्ति, नायकानयन, प्रियाभिगमन, उपस्थान, सम्भ्रमविकल्प, नायिकाप्रतिबोधन, सुहृत् परिहास, -40। पृष्ठ 536। इन चालीसों को एक साथ निबद्ध कर दिया है और इनके बिना उपभेद किये प्रत्येक के उदाहरण दो दो श्लोकों में दे दिये हैं। शेष आठ अवस्थाओं का उनके उपभेदों के सहित दो-दो श्लोकों में प्रत्येक का उदाहरण देते हुए विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ये अवस्थाएँ हैं—दूतपुरस्कार, इतिवृत्ताख्यान, अवस्थाज्ञान, अवधान, संविधान, शक्ति-विवेचन, समागमोपाय और संमीहित सिद्धि,—पृष्ठ 569 तक।

अवस्थाज्ञान में ज्ञान को दृष्ट, श्रुत और अनुमित इन तीन भागों में विभाजित किया है। अवधान को देश, काल, कार्य, और पात्र इन चार भागों में बांटा है। शक्ति-विवेचन के भेद हैं—प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति। समागमोपाय के कई भेद हैं—तपस्या, साहस, माया, छद्म, छलितक, हठ, वश, रूपान्तरापत्ति, इन्द्रजाल, विनिर्गम, लेख, चेष्टानुवर्तन, कार्योद्देश, और साहाय्य—पृष्ठ 569। इतिवृत्तज्ञान के अन्तर्गत, इतिवृत्त की चर्चा करते हुए भोज ने बारहवें प्रकाश में कही हुई बातों को फिर से दोहराया इनमें पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ, संस्थाएँ, और संघियाँ सम्मिलित हैं। समीहितार्थ सिद्धि के अन्तर्गत भोज ने प्रमाणों, प्रमेयों और पञ्चावयव अनुमान का निरूपण किया है। इस खण्ड के मूल का एक भाग पृष्ठ 613-614 तक बिखरा हुआ है।

इस प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार से अड़तालीसों अवस्थाओं के वर्णन के साथ

होती है। मूल पाठ में उपसंहार वाक्य नहीं है। संभवतः मूलपाठ के पन्ने अस्त-व्यस्त हो गये होंगे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अन्तिम भाग का एक अंश अगले प्रकाश के मध्यभाग में पृष्ठ 613-14 पर मिला है। संभवतः प्रस्तुत प्रकाश का नाम दूतसम्प्रेषणादि प्रकाश रहा होगा और उसकी समाप्ति निम्न प्रकार से हुई होगी (इति श्री + + + शृ. प्र. दूतसम्प्रेषणादि (?) प्रकाशो नाम एकोनत्रिंशः प्रकाशः ।)

त्रिंश प्रकाश पृष्ठ 574-649

मान प्रकाश

प्रारम्भ अस्पष्ट है। पृष्ठ 574 पर प्रथम अध्याय के ही दूतसम्प्रेषण सम्बन्धी चवालीस भेद पूर्ण हुए हैं और मान सम्बन्धी प्रकरण का प्रारम्भ है। प्रथम प्रकाश की वास्तविक समाप्ति एवं उपसंहार वाक्य अप्राप्त हैं। मेरे मत में इस पृष्ठ पर उन्तीसवां प्रकाश समाप्त होता है यद्यपि इसका अन्तिम अंश भटककर पृष्ठ 613-614 पर पहुंच गया है।

इस प्रकाश में विप्रलम्भ के अगले अंगमान का वर्णन है। पृष्ठ 574-78। यद्यपि इन पृष्ठों में मान सम्बन्धी विषयों का निरूपण है फिर भी वे प्रकाश का प्रारम्भिक भाग नहीं कहे जा सकते। मैंने इस मान सम्बन्धी प्रकाश का प्रारम्भ पृष्ठ 574 की अन्तिम तीन पंक्तियों पर माना है। यहां मान की परिभाषा और उसके विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण है। पृष्ठ 574 से 578 तक का भाग पृष्ठ 613-14 तक होना चाहिए क्योंकि ये पृष्ठ इस प्रकाश में वर्णित मान के चौबीस पक्षों में से सप्तम्, अष्टम् और नवम् पक्षों से सम्बन्धित हैं। यह संकेत पहले ही किया जा चुका है कि यहां पर पृष्ठों के क्रम में कुछ गड़बड़ी है। पृष्ठ 578 पर अनुराग के प्रसंग में मान के महत्व का सुन्दर वर्णन है। देखिये

प्रवासात्प्रथमं मानोऽभिधीयते। कथं पुनरस्य वैचित्र्यं, श्रूयताम्। श्रयं हि दोषोऽपि मद इव मत्तङ्गेषु, विग्रहोऽपि सहकार भाव इव माकन्देषु, काश्यादिहेतुरपि तपःप्रबन्ध इव सात्त्विकेषु, प्रियविनो.....त्याग इव वदान्येषु, कटुरपि मरीचावचूर्ण इव (षाड) वेषु, कलुषोऽपि कज्जलनिवेश इव वनितालोचनेषु, दुरासदोऽपि भ्रमर इव प्रसूनसंस्तरेषु, वक्रोऽप्युचित विशेष इव कविकाव्येषु, यूनां मनस्सु उपजायमानः प्रकर्ष प्रेमसम्पदः सम्पद्यते।

मान की परिभाषा एवं उसके भेद। नायिकागत मान उत्तम होता है और नायकगत कनीयान् किन्तु दोनों में सहवर्तमान मध्यम। पृष्ठ 579 पर मान के चौबीस पक्ष सोदाहरण परिगणित हैं।

मानविषयाश्रयालम्बनभेदाः, मानजातयः, मानविशेषाः, विषयप्रकीर्णानि आश्रय-प्रकीर्णानि, आलम्बनप्रकीर्णानि, विषय-कर्माणि, आश्रयकर्माणि, प्रकीर्णकर्माणि, मानविकाराः, मानोपलक्षणस्थानानि, मानोत्पत्तिकरणानि, मानोपलक्षणानि, मानोद्दोषनानि, मानविलासाः, मानमोद्विधितानि, मानमुखानुभवः, मानोत्पत्तिप्रकीर्णानि, मानोपाधिभङ्गाः, मानभङ्गाकारणानि, मानोपशान्तयः, मानोपशमलक्षणानि, मानभङ्गेऽवधयः, मानानुभवसौख्यानि, इति चतुर्विंशतिरर्थः।

पृष्ठ 580। विषय, आशय और आलम्बन — इनमें से प्रत्येक के बारह प्रकार। जिसके विषय में भाव उत्पन्न होता है उसे विषय कहते हैं। जिसमें भाव उत्पन्न हो वह

इस प्रकाश की समाप्ति इस प्रकार से अड़तालीसों अवस्थाओं के वर्णन के साथ होती है। मूलपाठ में उपसंहार नहीं है। संभवतः मूलपाठ के पन्ने अस्त-व्यस्त हो गए होंगे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अन्तिम भाग का एक अंश अगले प्रकाश के मध्यभाग आश्रय होता है। आलम्बन विषय का वह पक्ष है जो वस्तुतः भाव का लक्ष्य होता है। 587 पृष्ठ तक मान वाले विभिन्न प्रकार के पात्रों के उदाहरण हैं। यहीं मान के चौबीस प्रकार बताये गये हैं— भाम, कोप, क्रोध, उत्प्रास, रोष, ईर्ष्यायित, मन्त्रायित, असूयित, वंमनस्य, उन्माद मन्यु, मात्सर्य, अभिनिवेश (?), अवस्था (ज्ञान) विसूरण, वैलक्ष्य, अनुशय, कालुष्य, क्षोभ, आवेग, श्रमर्ष, कोपातिरेक, उग्रता, और प्रणयकलह। 595 पृष्ठ तक उदाहरण।

595 से 600 पृष्ठ तक मान के अन्य चौबीस पक्ष— सहज, आहार्य, यौवनज, विसम्भज, स्थिर, भंगुर, सम, विषम, प्रकाश, गूढ़, चण्ड, मृदु, उद्भट, मसृण, ऋजु, वक्र, साध्य, कृच्छ्र, साध्य, याप्य, असाध्य, पुराण, जीर्ण, पुनर्नव और नव। विषय प्रकीर्ण— अट्ठाइस भेद पृष्ठ 601 तक। आशय प्रकीर्ण— आठ भेद पृष्ठ 601 पर। आलम्बन प्रकीर्णक— आठ भेद यथा परिहास, आशंसा, जिज्ञासा, कुतूहल, कैतव, कारण और प्रताप। पृष्ठ 604 विषय— आशय प्रकीर्ण— कर्म। प्रत्येक के 6 भेद— मान-वैकृत और मान-वितर्क, मानभङ्गोपाय, मान परि-प्रश्न, चित्र-चाटूक्ति, प्रियोपालम्भ। वैकृत के भेद हैं— वैलक्ष्य, अनुशय, ज्ञानान्यथात्व, छायाभ्रंश, उत्कण्ठावेश, वैक्लव्य, प्रविलाप, सन्ताप, विषयव्यावृत्ति, आरम्भ और अभिशङ्का पृष्ठ 606 तक।

पृष्ठ 606 वितर्क के भेद— सत्ता, अनुबन्ध, प्रकर्ष, सम्पर्क, अनुगम। मान का पुनः प्रादुर्भाव। पृष्ठ 608 मानभङ्गोपाय— साम, दान, दण्ड और भेद। साम प्रियवचन या अनुवृत्ति या प्रणाम को कहते हैं। दान तीन प्रकार का होता है। (अस्पष्ट)। शंकाद्युत्पादन, इन्द्रजाल और मायाभेद कहलाते हैं। उपेक्षा, प्रपिकोप, और प्रस्थान ये दण्ड के रूप हैं। पृष्ठ 610 मान परिप्रश्न। पृष्ठ 610 चित्रचाटुक्तियाँ। पृष्ठ 613 यहाँ थोड़ी दूर तक मूल पाठ त्रुटित है। किन्तु विषय-वस्तु भटककर पृष्ठ 574-578 तक बिखर गयी है। 574-75 पर बारह प्रकार का प्रियोपालम्भ पृष्ठ 576-77 मानावस्थाएं। पृष्ठ 613-14 जैसा कि कहा जा चुका है यहाँ की विषय-वस्तु पूर्व-प्रकाश से सम्बन्धित है। पृष्ठ 615 विमर्श के छः प्रकार एवं उपालम्भ के छः भेद। पृष्ठ 617 प्रकीर्णक मान के प्रथम चौबीस पक्षों में से इसका स्थान नवम है। प्रतिबोधन, समाश्वासन, परिहास, उपदेश, प्रतिषेध, उपजाप और स्थलितगोपन, ये प्रकीर्णक के भेद हैं। पृष्ठ 671 पर मान विकार के (दशम) छः प्रकार हैं— जायते, विवर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते और विनश्यति। मानोपलक्षणस्थान (ग्यारहवाँ) हृदय, चक्षु, वक्त्र, वाक्, वपुष और चेष्टित। पृष्ठ 622-यहाँ पर थोड़ा-सा पाठ त्रुटित है। इसमें मानस्थान के अन्तिम 6 भागों के उदाहरण लुप्त हो गये हैं। पृष्ठ 622— मानोत्पत्ति करण (बारहवाँ) विप्रियकरण, प्रियाकरण, वारितवामता, कामचार, स्वरूपवान्यत्व (?) शाठ्य, प्रतारण, खण्डन, अवज्ञा अकृतज्ञता, सपत्नीनामग्रहण, गोत्रस्थलन, और अकृतज्ञता। अकृतज्ञता का उल्लेख दो बार हो गया है। इनके उदाहरण। पृष्ठ 624

—मानोपलक्षण—अवज्ञान, अत्यादर, विकृतवीक्षण, अनालोक, असंभाषण, वाक्पारुष्य, अश्रुद्गम, दीर्घनिःश्वास, विलक्षस्मित, व्याजनिवृत्ति, अत्यन्तानुकूल्य और प्रसाधनग्रहण, इनके उदाहरण । पृष्ठ 626 मानोद्दीपन-वयस्यवाक्य, विपक्षसन्निधि, सखिवैलक्ष्य, सपत्नी उपहास, सौभाग्य दर्शन, दाक्षिण्योक्ति, अत्यन्तोपेक्षा, दृष्टव्यप्रलाप (?) अपराध स्मरण, विपक्षानुकम्पा, मार्यापराधता और प्रियानुनय । इनके उदाहरण । पृष्ठ 628 मानविलास—मानवती द्वारा विभिन्न प्रकार की वक्तृक्तियाँ । पृष्ठ 630 मानमोदयित-विलास एव काव्यादिना अतिवक्रो मानमोदयितम् । पृष्ठ 632 मानसुखानुभव छः प्रकार बहुमत, जिघ्रि-क्षित, अनुबद्ध, रक्षित, उपद्रुत और विद्रुत । पृष्ठ 634 मनोत्पत्ति प्रकीर्णक । पृष्ठ 636 मनोपाधिभङ्ग-अङ्ग, चक्षुष, चित्त, चाटु, धैर्य, कार्य, शक्ति, आकार, देश, काल, पात्र, और संज्ञा ये उपाधियाँ हैं । पृष्ठ 638 मानभङ्गकारण-मद, त्रास, भय, ऋतूपगम, उपवन विकास सुरभिवनवात, कोकिलाद्यालाप, प्रभात, प्रदोष, चन्द्रोदय, प्रवासारम्भ और विविक्त । एक श्लोक में भी ये परिगणित किये गये हैं । पृष्ठ 640 मानोपशान्ति-विरोधि प्रादुर्भाव, प्रति-पक्षाभियोग, प्रयत्नीक दर्शन, विपक्षाभिभव, परिभ्रंश, अवसन्नसन, स्खलन, विघट्टन, उन्मूलन, पलायन, और पुनर्भाव, उदाहरण । पृष्ठ 642 मानोपशमलक्षण—नयननिमीलन, मुखप्रसाद, वाष्पमोक्ष, पुलकोद्भेद, रोषप्रतिभेद, अक्रमनिन्दा, मनोजुगुप्सा, मानानुशय, मान-योग्या (?) मानानुयोग उदाहरण । पृष्ठ 644 मानभङ्गोपाधियाँ—निद्रा, मद, तृषा, भय, अज्ञान, प्रसंग, प्रमद, देश, काल, कार्य, पात्र, सुप्त आदि । पृष्ठ 646 मानानुभवसौख्य—पादपतन, प्रसह्याश्लेष, हठकचग्रह, चुम्बन, बलात्कार, प्रियप्रणयोक्ति, उपालम्भसूक्ति, स्नेहपरीक्षा, विपक्षाभिभव, सखिश्लाघा, बन्धुबहुमान, लाभविशेष और शृङ्गार वृद्धि । इस प्रकाश की समाप्ति यहीं पर होती है । यहाँ अनुष्टुप् छन्दों में इस मान सम्बन्धी विशाल प्रकाश की वर्णवस्तु संक्षेप में दोहरा दी गयी है ।

उक्ताः संक्षेपतः प्राज्ञैरनुक्तमनुमीयताम् ।

मनुष्यवचसा केऽस्य प्रकारान् वक्तुमीशते ॥

क्षमन्ते मातुमम्भोघेरापः केऽञ्जलिना जनाः ।

परशतविकल्पवानिति स एष मानस्त्रिधा ॥

मयैणनयनामनःपरमबान्धवो वर्णितः ।

अथाध्वग-विलासिनीमुखसरोजबन्धूतपः (सन्ध्यातमः) ॥

प्रवास उपवर्ण्यते रतिसमुद्रचन्द्रोदयः ।

इति श्री शृ० + प्र० + मानप्रकाशोनाम त्रिशः प्रकाशः समाप्तिगमत् ॥

एकत्रिंश प्रकाशः पृष्ठ 650-732

प्रवासविप्रलम्भ

पृष्ठ 650-रागवर्धनता और विचित्रता दोनों दृष्टियों से प्रवास की स्थिति मान के पश्चात् एवं करुण से पूर्व है । इससे अनुराग में वृद्धि तो होती ही है साथ ही साथ वह उसमें आकर्षण की विभिन्नता भी उत्पन्न करता है । पृष्ठ 651-विप्रलम्भ के प्रथमानुराग

आदि चार पक्ष । ये क्रमशः विक्षेप, विकास, संकोच, और संक्षेप-इन चार मानसिक अवस्थाओं से सम्बद्ध होते हैं । पृष्ठ 652-प्रवास की परिभाषा-उसके तीन मुख्य प्रकार दैवकारणक, धर्म कारणक, और अर्थकारणक । पृष्ठ 653 सामान्य और विशेष दृष्टिकोण से प्रवास का 52 भेदों में और विश्लेषण । सामान्य भेद 24-भूतपूर्व, अभूतपूर्व, साधारण, असाधारण, सहजराग विस्रब्धराग, प्राप्तसमय, अप्राप्तसमय, सप्रति विधान, निष्प्रति विधान, सनिकृष्ट, विकृष्ट, सावधि, निरवधि, अल्पकाल, दीर्घकाल, संसृष्ट, असंसृष्ट, प्रकाशकृत, प्रच्छन्नकृत, सोपसम्भार, निरूपसम्भार, नायकानिमित्त, और नायकनिमित्त, विशेषभेद $(4 \times 4) =$ बारह और $(4 \times 4) =$ सोलह । 1. देवकृत-शाप, पाप, संभ्रम और विभ्रम । 2. धर्मकृत-साभिप्राय, निरभिप्राय, सानुताप और निरनुताप । 3. अर्थकृत-साम्यनुज्ञा, सोपधान और निरूपधान । 1. दैवधर्मापन्न-प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर और परिणत । 2. दैवार्थापन्न-ग्राम्य, नागर, उप-नागर और विप्रकीर्ण । 3. धर्मापन्न-हित, अहित, सुख और दुःख । 4. दैवार्थापन्न-विवृत, आयत, त्र्यश्र, और चतुरश्र । पृष्ठ-654-55 पर भोज ने प्रवास के इस विशिष्ट वर्ग के छठाईस भेदों की परिभाषाएं अनुरूप छन्द में दी हैं । पृष्ठ 656 से 67 तक इन बावन $(24+12+16)$ भेदों के उदाहरण दिये हैं । पृष्ठ 667 इन बावन भेदों मेंसे प्रत्येक के तीन-तीन सोपान । प्रारम्भ, विस्तार और अन्त अथवा प्राप्ति, व्याप्ति और समाप्ति है । इनमें से प्रत्येक सोपान के अन्तर्गत आठ-आठ गौण मानसी स्थितियाँ हैं ।

प्राप्तिस्कन्ध- (1) प्रवासशंका-प्रियवियोग संभावना । (2) प्रवासारम्भ-नायकस्य प्रियापरित्यागोद्योगः । (3) प्रियस्थान-नायकस्य गेहाद् विनिर्गमनम् । (4) प्रियानुगम-आसीमान्तात् प्रेम्णा प्रियया अनुगमनाम् । (5) प्रियाप्रश्न-प्रियजन परित्यागः-विदाई के शब्द, आलिङ्गन आदि । (6) प्रतिनिवृत्ति-प्रेमी का चला जाना और प्रेयसी की वापसी । (7) प्रवास-चर्या-वियुक्ति प्रेयसी की जीवन चर्या । इनमें से प्रथम 4 के पाँच-पाँच उपभेद हैं किन्तु प्रवास चर्या को निम्नलिखित बत्तीस प्रकारों में विशद किया है:-

देश—स्वकीय, परकीय, न स्वकीय, न परकीय ।

काल—साधारण, असाधारण, उल्लेखवान् और अनुल्लेख ।

कार्य—सामान्यवत्, विशेषवत्, नित्य और नैमित्तिक ।

पात्र—उत्तमादिक, उदात्तादिक, मुग्धादिक और धीरादिक ।

औचित्य—जात्या, क्रियाया, गुणेन और द्रव्येण ।

शक्ति—औत्साहिकी, वैशीकी, साहायिकी, और दैविकी ।

साधन—उपादान हेतु, करण, और अधिकरण ।

उपाय—स्वाभाविक, प्रायत्तिक, सार्वलौकिक और यादृच्छिक ।

पृष्ठ 681 तक इनके उदाहरण हैं । इसी पृष्ठ पर प्रवास वृत्तान्त है । यद्यपि इसका उल्लेख पूर्वोक्त प्रवासचर्या में हो चुका है । किन्तु विशेष विवरण देने के उद्देश्य से वहाँ इसकी पृथक् चर्चा की गयी है । यहाँ अन्य दृष्टिकोण से उपर्युक्त देशकाल आदि का विश्लेषण किया गया है । देश ग्राम्य अरण्य, और साधारण होता है । काल उपक्रान्त, प्रक्रान्त और व्यति-क्रान्त भी होता है । इसी प्रकार कार्य भी निर्वर्त्यवृत्ति, आदि प्रकारों का हो सकता है ।

पात्र उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ होते हैं। और औचित्य स्नेह विषयक, उद्योग विषयक और ओत्सुक्य विषयक होता है इसके पश्चात् शक्ति साधन और उपाय के अभाव की चर्चा है। कुल मिलाकर इस अन्तिम (अभाव) के चौबीस उपभेद बताये गये हैं और इसके साथ ही प्राप्ति स्कन्ध का निरूपण पृष्ठ 686 पर समाप्त होता है।

इसके पश्चात् व्याप्तिस्कन्ध के भेद और उदाहरण दिये गये हैं।

सेयमष्टप्रकाण्डोऽपि प्राप्तिस्कन्ध उदाहृतः ।

व्याप्तिस्कन्धप्रकाण्डानामर्थोद्दिश्यते गतिः ॥

ये हैं—वियुक्तस्वरूप, वियुक्तावस्था, विरहोद्दीपन, विरहप्रतिकार, सहायाश्वासन, सहा-योपालम्भ, उत्कण्ठावियोग और संदेशदान।

(1) पृष्ठ 686 वियुक्तस्वरूप विरहियों के बहुत-से प्रकार एवं उनके उदाहरण पृष्ठ 688 तक (2) वियुक्तावस्था—मनसिचिन्ता अनुस्मरणं च, इति प्रजागरः विषय व्यावृत्तिश्च; वक्त्रे लज्जाप्रणाशः उन्मादश्च, वाचि गुणकीर्तनम् विलापश्च, वपुषि कार्यं व्याधिश्च, चेष्टायां जाड्यं सूच्छा च। इनमें प्रत्येक के दो-दो उदाहरण हैं पृष्ठ 694। (3) पृष्ठ 695 विरहोद्दीपन—आठ भेद, देश, देश चिह्न, काल, कालचिह्न, वस्तु, वस्तुचिह्न, क्रिया, और क्रियाचिह्न। इसी का दूसरा वर्ग स्मरण, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, चित्रारम्भ, वागारम्भ, आदि। इनमें से प्रत्येक के और विभाग किये गये हैं। इन सब का उदाहरण उल्लेख पृष्ठ 711 पर समाप्त होता है।

अर्थेते देशकालादिभेदैः संमिन्नमूर्तयः ।

परस्परं च सम्पृक्ताः संख्यामत्येतुमीशते ॥

न पर्यन्तो विकल्पानां विरहोद्दीप्तिजन्मनाम् ।

शब्दब्रह्मविवर्तनां व्यक्ताव्यक्तात्मनामिव ॥

(4) पृष्ठ 711—विरहप्रतिकार—वियोग व्यथा का निवारण। पृष्ठ 713। (5) सहायाश्वासन पृष्ठ 714 तक। (6) सहायोपालम्भ (7) उत्कण्ठा-विनोद पृष्ठ 714-15। (8) संदेशदान—पत्रलेखन पृष्ठ 720 तक। यहाँ व्याप्ति स्कन्ध समाप्त होता है।

व्याप्तिस्कन्धोऽयमुद्देशनिर्देशाभ्यामुदाहृतः ।

अथोदाह्रियते ह्यथा समाप्तिस्कन्धपद्धतिः ॥

पृष्ठ 720 समाप्तिस्कन्ध—आठकाण्ड—प्रवृत्त्यागम, प्रवृत्ति-परिप्रश्न, अवधिप्रतीक्षा, मार्गोदीक्षण, देवनिमित्तशकुन, शकुनोपश्रुति, सुस्वप्नदर्शन, सुनिमित्तानुभव, और प्रियप्रत्या-गम, उपभेद और उदाहरण प्रकाश के अन्त (पृष्ठ 732) तक चले गये हैं।

उक्ता समाप्तिस्कन्धेऽसावुदाहरण पद्धतिः ।

दिशानयानुसर्तव्यमनुक्तमपि सूरिभिः ॥

सैष प्रवासाशंकादिचतुर्विंशतिकन्दलः ।

स्मृतोऽनङ्गविहङ्गस्य प्रवासो वसति-द्रुमः ॥

समासव्यासाभ्यां कुसुमधनुषो जीवितमिति,
प्रवासो निर्णीतः प्रियजनमनोहेमनिकषः ॥
अथ प्रेमोद्यानप्रणयतरुविस्मभसुमनो-
निवासैकास्थानीसुरभिरभिधीयेत करुणः ॥

इति श्री + + शृ. + प्र. + प्रवासोपवर्णनो नाम एकत्रिंशः प्रकाशः समाप्तः ॥

द्वात्रिंश प्रकाश पृष्ठ 733-782

करुणविप्रलम्भ

पृष्ठ 733-कामशृङ्गार करुणविप्रलम्भ का परिचय एवं उसके दो पक्ष सम्भोग और विप्रलम्भ तथा उनके प्रकार । यहाँ आवृत्ति है । पृष्ठ 734 करुण विप्रलम्भ की परिभाषा तथा अनुराग में उसके स्थान का मनोरम वर्णन ।

कः पुनरयं करुणो नाम ? यत्रास्मिन् मिथ्याभिनवेश इव गुर्व्यासकारकेऽपि मूर्खाणां, सर्वाङ्गपरित्याग इवालौकिकेऽपि ब्रह्मविदां, रजःकर्मक्रीडाविनोद इव वेषदूषकेऽपि पौरपौगण्डानां, महाहवमहीविहार इव वीभत्सभीषणेऽपि शूरसाहसिकानां, प्रियसु हृन्मर्मनिर्भत्सन इव अतिग्राम्येऽपि पारिहासिकानां, कुपितकामिनीपाणिप्रहार इव (अ) सुकुमारेऽपि रागिणां, तिमिराभिसारिकावेष इव मलीमसेऽपि चौर्यरतरुचीनां, विलासिनी किलकिञ्चित्तत्प्रपञ्च इव दीनप्रदर्शनेऽपि नागरिकाणामतीव अनुरज्यते मनः प्रेमसामयिकानाम् ।

शोक और करुणोपालम्भ का अन्तर हेतु, फल, विषय, और स्वरूप की दृष्टि से ।

रत्येकहेतुः करुणः	प्रीतिदयाद्यनेकहेतुः शोकः
पुनःसंगमफलः करुणः	अपुनःसंगमफलः शोकः
स्त्रीपुंसविषयः करुणः	अस्त्रीपुंसविषयः शोकः
सप्रत्याशारूपः करुणः	निष्प्रत्याशारूपः शोकः

पृष्ठ 735-दैव, पौरुष, देश, काल, स्वरूप, परिणाम, अनुराग, सम्भोग, विप्रलम्भ, नायक और नायिका इनके प्रश्रय के माध्यम से करुणविप्रलम्भ के बारह भेद ।

इनके और भी प्रकार हैं पृष्ठ 753 तक इनके उदाहरण । पृष्ठ 753 करुण के वर्णन में अनुभावों का महत्व सर्वाधिक है और भोज ने अस्सी अनुभाव गिनाये हैं । इनमें सोलह में से प्रत्येक के पाँच स्कन्ध हैं । ये पाँचों स्कन्ध रूपक की सुप्रसिद्ध पाँच सन्धियों जैसे ही हैं । अस्सी अनुभाव निम्नलिखित हैं--

व्यसनाभिधात, अंगाभिभव, चेष्टा सम्मिलन, मोह समावेश, चेतना प्रत्यागम, सूच्छा-विच्छेद, शोकप्रत्यग्रता, शोकावेग, दुःखनिर्यातन, दुःखावसाद, दुःखसंदीपन, दुःखव्यवहार, वाष्प-मोक्ष, अवस्थानुभव, अवस्थान्तरावेश, ये मुख सन्धि के सोलह अनुभाव हैं । परिदेवन, अनुशो-चन, गुणसंस्मरण, स्वभाग्यग्रहण, विलाप, प्रलाप, प्रविलाप, विप्रलाप, आत्मनिन्दा, हृदयोपा-लम्भ, जीवितजुगुप्सा, दैवधिकार, शोकोन्माद, दुःखसंभेद, सहायापेक्षण, सहायानुनीति, ये सोलह प्रतिमुखसन्धि के अनुभाव हैं ।

सुहृत् परिदेवन, सुहृत् प्रलाप, परिजनानुशोचन, परिजनाक्रन्द, गुरूपरोदन, गुरुजन-विलाप, सहायाक्रन्दन, सहायाम्युपपत्ति, सहायभाषण, सहायप्रश्न, साहसाग्रह, मरणाभिनिवेश, सहायाम्यर्थन, सहायशिक्षा, मरणोपक्रम, और मरणाध्यवसाय ये सोलह गर्भसन्धि के अनुभाव हैं ।

समाश्वासन, उद्धर्षण, प्रतिरोधन, उत्साहन, अनुकम्पन, विश्रम्भण, प्रलोभन, उपपत्ति-दर्शन, प्रश्वासन, सत्यापन, प्रत्यायन, आप्यायन, तन्मतव्याक्षेप, भयोपदर्शन, उपालम्भन और प्रतिकोप—ये सोलह विमर्श सन्धि के अनुभाव हैं ।

मरणाध्यवसाय-विद्रव, शोक-तिरस्कार, शोकलाघव, शोकविनोद, तपस्योद्वेग, दैव-सम्पद्योग, त्रिकालद्रष्टदर्शन, तदुपदेश, सहायस्वीकरण, तदध्यवसाय, प्रत्यूहशमन, प्रत्याशानु-बन्ध, समय, प्रतीक्षा, संविधानकप्रकार, प्रत्युज्जीवन, और पुनः समागम । ये सोलह निर्वहण के अनुभाव हैं । इनके उदाहरण पृष्ठ 781, अर्थात् इस प्रकाश के अन्त तक हैं ।

इति प्रतिष्ठाः कर्णामलाचिषामशीतिरष्टौ च विकल्पजातयः ।

महानुभावैर्द्विरशीति सस्मि (स्मि) तैः उपाधयोः द्वादशपञ्चसन्धयः ॥

तदेतदाबन्धनमात्मजन्मनः निरीतिशृङ्गाररसस्य जीवितम् ।

परा च काष्ठा प्रणयस्य जीविता प्रियेण यत्प्रत्ये पुनः समागमः

भेदाः पृथक्पृथग्मी प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मनि विप्रलम्भे ।

उक्ता यथामति मयान्यदथोऽभियुक्तोयुक्तत्यानयैव हि बहिस्थितमूहनीयः (म्) ॥

इति श्री + + + शृ. + प्र. + करुणारस [करुणप्रविलम्भ] निर्णयो नाम द्वात्रिंश प्रकाशः समाप्तिमगम् ॥

त्रयस्त्रिंश प्रकाश 783-834

सम्भोग

पूर्व प्रकाश में विप्रलम्भशृङ्गार का विशद प्रतिपादन पूर्ण हो चुका है । इस प्रकाश में सम्भोग का सविस्तार वर्णन प्रारम्भ होता है । पृष्ठ 783-सम्भोग शृङ्गार का उसके स्थायी आदि भावों के साथ निरूपण । विप्रलम्भ के पूर्व वर्णित चार भेदों के समान सम्भोग भी चतुष्प्रकारक होता है और ये प्रकार हैं पूर्वानुराग के अन्तर, मान, प्रवास और करुण । सम्भोग शब्द की व्युत्पत्ति-सम् उपसर्ग पूर्वक भृज् धातु और घञ् प्रत्यय । इनमें प्रत्येक अंग के चार अर्थ हैं । भृज् का अर्थ है-पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार और अनुभव । सम् का अर्थ है संक्षेप संकर, संपूर्ण, और सम्यक् । प्रत्यय के आठ अर्थ पृष्ठ 784 पर दिये गये हैं । भाव, हेतु और छह कारक पश्चात् आठ प्रत्ययोत्पत्ति काल-भूत, वर्तमान, भविष्यत् व्यक्त, भूतविशेष वर्तमानविशेष, भविष्यविशेष और व्यक्त विशेष । इन सब के उदाहरण पशु और वृक्ष आदि नायिकाभासों तथा नायकों से लिये गये हैं । भोज ने कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग से उद्धरण दिये हैं तथा उन पर काव्यशास्त्र की दृष्टि से बहुत विस्तार के साथ व्याख्या प्रस्तुत की है । पृष्ठ 794 तक चलता है ।

सैषा पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिभिः ।

दर्शिता कालिदासेन प्रेमप्रस्थानपद्धतिः ॥

पृष्ठ 794—ऊपर जिस सम्भोग का निरूपण किया है उसे तिर्यक् सम्भोग कहते हैं। यह सामान्य सम्भोग है। इसके अनन्तर नागरिक सम्भोग अथवा विशेष सम्भोग का प्रारम्भ होता है। पृष्ठ 797 तक सोदाहरण विभिन्न व्युत्पत्तियों का व्याख्यान है।

प्रथमानुरागानन्तरो (रम्) प्रथमं रतिरुत्पद्यते। उत्पन्ना च नायकाभ्यां प्रियाचरण-विप्रियाकरणाभ्यां पाल्यते। तत्र च संक्षिप्तानामेव आलिङ्गनादीनां विकल्पतः प्रयोगो भवति। ततः प्रेमगतेः स्वभावकुटिलत्वात् द्वितीयावस्थायां रतिः स्वभावकुटिलतामालम्ब्यते। संकीर्णश्च तत्र उपचाराणां प्रयोगः संकीर्णश्चानुभावाः भवन्ति। तत्र उद्भूतायां कामवामतायां सुलभामवमन्यते दुर्लभामाकांक्षतीति प्रायोवादात्। परं प्रकर्षमारोहन्ती रतिः तृतीयायामवस्थायामभ्यवह्रियते। समुच्चयेन चालिङ्गनादयः प्रयुज्यन्ते। एवं च सा सम्पूर्णत्वमासाधयति॥ चतुर्थावस्थायां विस्रम्भोत्पत्तेः परं प्रकर्षमापन्ना अनुभूयत एव। न कश्चिद् उपचारः तत्राद्रियते। एवमस्याः सम्यक्त्वं भवति॥ एवं मानानन्तरादिषु अपि (i. e. मानान्तरसम्भोगादिष्वपि) संक्षिप्ता पाल्यते, संकीर्णा कुटिलीभवति, सम्पूर्णमभ्यवह्रियते सम्यग्भूतानुभूयते इति।

यों तो यह बात सामान्यतः सत्य है कि संक्षेप और पालन पूर्वानुरागान्तर सम्भोग के अंग हैं, संकर और कौटिल्य मानान्तर के, संपूर्ण और अभ्यवहार प्रवासान्तर के और सम्यक् तथा अनुभव कर्णान्तर सम्भोग के अंग हैं। किन्तु इस बात के विषय में तो और भी अधिक सत्य है। पृष्ठ 798 भुज् घातु के उपर्युक्त चार अर्थों के समर्थन में पाणिनी तथा अन्य आचार्यों के वचनों के उद्धरण। पृष्ठ 799 पर पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार और कनुभव के भेद। पालन, लव्वपरिक्षण, रक्षित विवर्धन, विवृद्धोपयोग, और अलब्ध प्रतीक्षा। कौटिल्यवैपरीत्य, वैयात्य, वैदग्ध्य, और वैचित्र्य। अभ्यवहार—श्रद्धा, नितान्तासक्ति, पर्याप्तता, और कृतार्थत्व। अनुभव—सम्यक् ज्ञान, प्रियाव्यवसाय, कार्यानुष्ठान, और फलाविगम। पृष्ठ 801—इनमें से प्रत्येक सूक्ष्म अंग और उनका विश्लेषण। इसके पश्चात् भोज ने स्पष्ट किया है कि ये वे सोपान हैं जिनके सहारे अनुराग का प्रारम्भ होता है, वृद्धि होती है और आत्मानुभव होता है। पालन स्वयं ही कौटिल्यादि हैं। और कौटिल्य भी पालन ही है। इसी प्रकार अन्यो के विषय में समझना चाहिए। इनमें एक दूसरे के बीच पारस्परिक संल्पव है। पिछले प्रकाश में दिए हुए विपुल नायक-नायिका भेदों के संदर्भ में इनके उदाहरण। ये प्रकाश के अन्त तक (834-पृष्ठ तक) चलते हैं—

(प्रकृत्यर्थो)पसर्गार्थप्रत्ययार्थोऽवकल्पितः।

उक्तः सम्भोगशब्दार्थः व्यक्तकालश्च तद्गतः॥

सामान्य विषयो यश्च विशेषविषयश्च यः।

सोऽयं सम्भोग-शृङ्गारः प्राणितं पुष्पधन्वनः॥

अथोच्यते साम्प्रतमानुपूर्व्या पूर्वानुरागादि विशेषितानाम्।

अनन्तराणामखिलस्वरूपं विस्रम्भणादिप्रतिपादनेन॥

इति श्री + + शृ० + प्र० सम्भोग शब्दार्थ प्रकाशोनाम त्रयस्त्रिंशत् प्रकाशः

चतुस्त्रिंश प्रकाश (पृष्ठ 834—863)

प्रथमानुरागान्तर सम्भोग

पृष्ठ 835-36 नाम की व्याख्या । यह निम्नलिखित चौंसठ से बना है—विस्त्रम्भण प्रेक्षोदीक्षण, परिहार, परिहार-विलास, कन्दुक क्रीड़ा, केलिधूत, ऋतूपय....चर, (7-11) समायात ? कालावस्थानुभव, पूर्वाह्निक, मध्याह्निक, अपराह्निक अस्तमय, संध्या, तमस् चन्द्रोदय, ज्योत्स्ना, प्रादोषिक, निशीथा, रात्रिपरावृत्ति, प्राभातिक, वनविहारगमन, वनविहार, पुष्पावचय, श्रमानुभव, प्रच्छायादिसेवा, जलक्रीड़ा, नेपथ्ययोग, क्रीड़ापर्वत विहार, एकशा-त्मली, नवलतिका, पाञ्चलानुयान, नवपत्रिका, कदम्बयुद्ध बिसखादिका, इन्द्रोत्सव, कौमुदी प्रचार, यक्षरात्रि, अष्टमी चन्द्रक, कुन्दचतुर्थी, सुवसन्त, सहकारभञ्जिका, दोलाविलास, उदक क्ष्वेदिका, मदनोत्सव, गृहप्रत्यागमन, सहायव्यापार, प्रसाधनग्रहण, गोष्ठीविहार, वासग्रहोपाग-मन अभिसारिका प्रतीक्षण, द्वीतीविसर्जन, स्वयं वा गमन, आगतोपचार, परिचरण, विसर्जन, कञ्चुकादिमोक्ष, रतारम्भ, रत, रतावसान, और निद्रानुभव । चौंसठ में से 6 वृत्ति हो गए और केवल 58 स्पष्ट हैं । इसके बाद इनमें प्रत्येक के दो तीन या चार उदाहरण दिये गये हैं । पृष्ठ 840 पर वृत्तन है जिसमें पाँचवे से बारहवें अंग तक के उदाहरण नष्ट हो गये हैं । पृष्ठ 862 पर प्रकाश की समाप्ति होती है ।

क्रियात्मनोऽमी कालस्य भेदाद् विस्त्रम्भणादयः ।

विस्त्रम्भणादि सम्भोग भेदावच्छेद-हेतवः ॥

चतुष्पष्ठिरतोऽत्रैव केचित् विस्त्रम्भणादयः ।

मानाद्यनन्तरे ऽपि स्युः केचित् चन्द्रोदयादयः ॥

सम्भोग उक्तः प्रथमानुरागादनन्तरः सोऽयमनेकभेदः ।

मानात्प्रवासात् करुणाच्च संप्रत्यनन्तराः केचिदुदाह्रियन्ते ॥

इति श्री + + शृ० + प्र० + प्रथमानुरागप्रकाशोनामचतुस्त्रिंशः प्रकाशः ॥

पञ्चत्रिंशप्रकाश पृष्ठ(863-901)

मानान्तरादि-सम्भोग-प्रकाश

इस उपान्त्य प्रकाश में सम्भोग के तीन अवशिष्ट भेदों का वर्णन है । मालूम नहीं कि भोज ने इन तीनों को केवल एक ही प्रकाश में क्यों गड़मड़ कर दिया है जबकि उन्होंने अन्य विषयों की व्याख्या इतने विस्तार के साथ आराम से की है । मान प्रवास और करुण विप्र-लम्भों के पश्चात् सम्भोग की चर्चा है । और फिर यहाँ सम्भोग के तीन भेदों का निरूपण है । पृष्ठ 863-65 मानान्तर सम्भोग के नाम पर समासादि की व्याख्या की । मान की समाप्ति के पश्चात् इस सम्भोग में निम्नलिखित के दर्शन होते हैं—मानशैथिल्य, मानापगम-लिङ्ग, मानापह्व, मानापगम, प्ररोदन, प्रियाम्युपपत्ति, मुधाप्रतिषेध, परिसान्त्वना, चित्र चाटु-क्तियाँ, स्खलितगोपन, प्रणिगत, प्रियोत्थापन, अध्रुप्रमार्जन, मानशेष, अपराधस्मरण, प्रेमवैमनस्य स्तनोत्कम्प, निःश्वसित, स्वेद और रोमाञ्च, कपोलोष्ठ स्पन्दन, मुखप्रसाद, व्याजशपथ, वक्र-वीक्षित, उपालम्भ, प्रत्युत्तर, अवस्था (ज्ञा ?) अंश, प्रेमाविर्भाव, प्रेमालिङ्गन, प्रियोपरोध,

शृङ्गारवृद्धि, हथकचग्रह, प्रसह्यश्लेष, पाणिताडन, पादाभिवात, दयितयातना, प्रत्यनुनय, प्रेम, वकृत, लज्जागम, मानरामणीयक, विसम्भसंभाषण, मानासक्ति, मानप्रतिपादन, सखीपरिहास, मानानुशय, माननिन्दा, मानानुचिन्तन, मानप्रध्वंस और मानापुनर्भाव ।

इनमें से प्रत्येक के दो या अधिक उदाहरण । ये अड़तालीस कोटियाँ हैं जिनसे मान थोड़ा-थोड़ा करके नष्ट हो जाता है । पृष्ठ 881 प्रवासानन्तर सम्भोग ।

मानानन्तर इत्येष सम्भोगः स च वर्णितः ।

प्रवासानन्तरस्याथ स्वरूपमुवर्ण्यते ॥

पृष्ठ 881-83 नाम के समासादि की व्याख्या । प्रोषित प्रेमी के समाचार की प्राप्ति से लेकर उसके साथ समागम तक चौबीस स्थितियाँ होती हैं—प्रियागमनवार्ता, प्रियसखिवाक्य दिष्ट्यावृद्धि, प्रीत्यादि, संभ्रम, अभ्युत्थान, प्रियाभ्यागम, सन्दर्शन, प्रियाभ्युत्पत्ति, परिजन-प्रमोद, मङ्गलसंविधान, मनप्रहर्ष, उत्सव, भवनप्रतिसंस्कार, कार्ष्णिपूलम्भ, प्रहर्षोपचय, प्रेम-पुष्टि, प्रसाधनग्रहण, वृत्तानुस्मरण, अवस्थानिवेदन, दुःखादिपरिप्रश्नः देशसम्पदुपवर्णन, स्वदुःख संकीर्तन, और शृङ्गारवृद्धि । इनमें से प्रत्येक के दो-दो उदाहरण पृष्ठ 890 तक । पृष्ठ 890 पर करुणानन्तर सम्भोग

प्रवासानन्तरोऽप्येष सम्भोगः समुदाहृतः ।

करुणानन्तरस्याथ प्रपञ्चः परिकीर्त्यते ॥

पृष्ठ 890-92 नाम के समासादि की व्याख्या । इस पक्ष का विश्लेषण करुण विप्रलम्भ के अनन्तर होने वाले पुनर्मिलन को लक्षित करने वाली कोटियों के रूप में विश्लेषित किया है । ये कोटियाँ 24 हैं । प्रियासंदर्शन संभ्रमाकुलता, प्रमोदवृद्धि, चित्त विस्मय, प्रियाभिमर्षण, जीवितेअतिलज्जा, प्रियोपच्छन्दन, सुहृदपेक्षा, वृत्तन्तकथन, सिम्भोत्पत्ति, इतिकर्तव्य योग, बान्धनागम, प्रियजनाभ्युत्पत्ति, गुरुजनस्नेह, ज्ञात्याभिनन्दन, भाग्यप्रशंसा, नेपथ्यादिग्रहण, पुरप्रवेश, नागरिकक्षोभ, ग्रहोपगमन, उत्सवानुभन दयित, साहचर्य, शृङ्गारपुष्टि और सौख्य परम्परा । पृष्ठ 901 अर्थात् प्रकाश की समाप्ति तक इनमें से प्रत्येक के दो-दो उदाहरण ।

करुणानन्तरस्येयमुदाहरणपद्धतिः ।

प्रदर्शितानर्थवासां समानन्यायमूह्यताम् ॥

अनन्तराणां सर्वेषामयमेकः प्रकृष्यते ।

रतिविसम्भजास्मिन् हि निष्कम्पत्वं प्रपद्यते ॥

इति गदितमशेषं विप्रलम्भस्वरूपोपहितनिजसमृद्धेः श्लाघ्यशृङ्गारनाम्नः ।

रति-समुदयरूपं जीवितं पुष्पकेतोः निवसतु सुकवीनां सर्वदा मानसेषु ॥

इतिश्री++शृ० प्र० मानान्तरादि प्रकाशो नामपञ्चत्रिंशः प्रकाशः ।

षट्त्रिंशः प्रकाश (पृष्ठ 902-918)

सम्भोगावस्था

यह अन्तिम प्रकाश है। पृष्ठ 902 पर उपयुक्त चारों सम्भोगों में से प्रत्येक की चार कोटियाँ हैं। ये ही इस प्रकाश में निरूपित हैं। ये हैं—सत्ता, अभिव्यक्ति, अनुबन्ध और प्रकर्ष। दो के मिलन पर रति का प्रारम्भ मात्र सत्ता कहलाता है। व्यभिचारियों और अनुभावों के प्रकट होने तथा चन्द्रादि उद्दीपक विभावों द्वारा रति के और अधिक आगे बढ़ जाने पर उसका स्पष्ट दिखाई पड़ने लगना अभिव्यक्ति कहलाता है। इस प्रकार विभावों, अनुभावों एवं व्यभिचारी भावों के स्थायी भाव के साथ संयोग का नाम अभिव्यक्ति है। प्रवृद्ध-रति का बने रहना ही अनुबन्ध कहलाता है। इसमें इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवारण का प्रयत्न होता है। प्रकर्ष रति की चरमावस्था है। इसमें रति शृङ्गार रस में परिणत हो जाती है। इन चारों कोटियों में सम्भोग शब्द के सम के चारों उपसर्गार्थ क्रमशः देखे जाते हैं सत्ता में संक्षिप्त भोग के दर्शन होते हैं, अभिव्यक्ति में भोग संकीर्ण रहता है, अनुबन्ध में वह सम्पूर्ण होता है और प्रकर्ष में सम्यक् स्थिति को प्राप्त करता है।

सम्भोग के मुख्य दो प्रकार हैं। सामान्य अर्थात् पशु-पक्षियों का सम्भोग और विशेष अर्थात् नागरिकों का सम्भोग। यह निरूपण पुनरुक्त है। यहाँ उक्त दोनों के उदाहरण भी दुबारा दिये गये हैं। इसके पश्चात् विभावादि की व्याख्या प्रारम्भ होती है जो कुमार सम्भव के प्रथम और तृतीय वर्ग से लिये गये उदाहरणों पर आश्रित है। यहीं पर चारों अवस्थाओं के भी उदाहरण हैं। सामान्य सम्भोग पृष्ठ 909 तक चला गया है।

विशेष सम्भोग संक्षिप्त, संकीर्ण, पूर्ण और सम्यक् इन चारों अवस्थाओं में से प्रत्येक में बारह प्रकार का होता है। संक्षिप्त में सत्ता-राग के बारह भेद-सात्विक नाथक में इसके चार प्रकार होते हैं। हरिद्वाराग, रोजनराग, काम्पित्यराग और रीतिराग, राजसनायक में भी राग के चार प्रकार मिलते हैं। यथा—कुसुम्भराग लाक्षाराग, क्षीरराग, और मज्जिष्ठ राग। तामस् नायक में राग के चार भेद हैं—कर्दम राग, काषायराग, सकल-राग और नीलीराग, विभिन्न नाटकों एवं काव्यों से इनके उदाहरण। पृष्ठ 913 अभिव्यक्ति और संकर इस स्थिति में प्रेम के बारह भेद। आवृत्त व्याज, अनुवृत्त व्याज, परिणत, अध्याहृत, कृत्रिम, अपेक्षित, अन्तर, बहिर, उभय, बहु निर्व्याज, और सर्वव्याज। 915 तक इनके उदाहरण। अनुबन्ध और सम्पूर्ण इसमें प्रेम के बारह भेद—धर्मानुबन्ध, अर्थानुबन्ध, धर्मार्थानुबन्ध अधर्मार्थानुबन्ध, यहाँ पर कुछ भाग खण्डित है। जिसमें शेष आठ अनुबन्ध और इन बारहों भेदों के उदाहरण नष्ट हो गये हैं। खण्डित भाग में इनके अतिरिक्त प्रेम की प्रकर्ष नामक चतुर्थ और अन्तिम अवस्था तथा सम्यक् के बारह भेदों का परिगणन भी नष्ट हो गया है। ये प्रेम पाक के बारह भेद कहे गये हैं। पृष्ठ 916 पर जहाँ मूल पाठ फिर प्रारम्भ हुआ है निम्नलिखित पाकों के उदाहरण मिलते हैं। पिचुमण्डपाक, कपित्थपाक, क्रमुक पाक, खर्जूर पाक, ये चार हैं। मृद्वीकापाक, नारिकेलपाक, और आम्रपाक सम्भवतः ये तीन अप्राप्तपाठ के अन्तर्गत रहे होंगे। शेष पाँच के विषय में कुछ पता नहीं। मृद्वीका आदि तीन का संकेत

स० क० आ० के पञ्चम अध्याय (पृष्ठ 609) से मिलता है। यहीं पृष्ठ 917 पर विशाल शृङ्गार प्रकाश समाप्त होता है। यहाँ पहले रतिप्रकाश के कामशृङ्गार की प्रशस्ति है।

तदेतत् कामसर्वस्वं तदेतत् काव्यजीवितम् ।

य एष द्विप्रकारोऽपि रसः शृङ्गारसंज्ञकः ॥

इसके पश्चात् यहाँ पर भोज द्वारा प्रतिपादित अहंकार नामक नवीन शृङ्गार की प्रशस्ति के साथ जैसे कि उसका प्रारम्भ किया था, ग्रन्थ समाप्त होता है।

.....तारका ।

अविदग्धा यथा गोष्ठी नि (श्) शृङ्गारा (तथाङ्गना) ॥

यथाशुमाली पी (वी) तांशुयंथानचिह्नुताशनः ।

यथाऽप्रतापो नृपतिशृङ्गारस्तथा पुमान् ॥

यथेन्दुना निशा भाति निशा भिश्च (यथा) (शशी) ।

(अङ्गनाभिश्च शृङ्गारः) शृङ्गारेण तथाङ्गना ॥

यथा तटिनम्भोदा पयोदस्त (टितम्बिना) ।

(अहंकृतिर) शृङ्गारा शृङ्गारश्चानहंकृतिः ॥

रसः शृङ्गार एवैको भावा रत्यादयो मताः ।

प्रकर्षगामिनोऽपीह प्रेमग्लानिश्चमादिवत् ॥

इसके पश्चात् दो मङ्गल श्लोकों के साथ ग्रन्थ का उपसंहार होता है ये दोनों श्लोक स० क० आ० के भी अन्त में मिलते हैं।

इति निगदित भङ्ग्याऽनङ्गसर्वस्वमेतत् आदि और यावन्मूर्ध्नि हिमांशुकन्दलभृति स्व-
र्वाहिनी धूर्जटेः आदि ।

इति श्री महाराजाधिराज श्री भोजदेवविरचिते शृङ्गारप्रकाशे सम्मोगस्थावा प्रकाश-
नाम षट्त्रिंशः प्रकाशः समाप्तिमगमत् ।

समाप्तः शृङ्गार प्रकाशः ।



षष्ठ परिच्छेद

सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गार प्रकाश

“इष्टं हि विन्दुषां लोके समासव्यासभाषणम् ।” महाभारत 1—1

भोज का प्रथम अलंकार ग्रन्थ सरस्वती कण्ठाभरण है। भोज ने इस ग्रन्थ में स्व-प्रतिपाद्य लगभग सभी मौलिक बातों का समावेश कर दिया है। इसमें वे सब बातें भी आ गई हैं जिन्हें वे अपने ढंग से पुनः प्रतिपादित करना चाहते थे किन्तु स. क. आ. छोटा सा ग्रन्थ था और शीघ्र ही भोज को बड़ा ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता जान पड़ी। वे इसमें मुख्यतः रस की विस्तार-पूर्वक चर्चा करना चाहते थे जो स. क. आ. के केवल एक-पञ्चम अध्याय में निरूपित था। दोनों ग्रन्थों में वर्णित विषयों पर विचार करके हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि काव्य शास्त्र की दृष्टि से शृ. प्र. में ऐसी कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है जो स. क. आ. में विद्यमान न रही हो। इस दृष्टि से शृङ्गार प्रकाश, स. क. आ. के संग्रह का विशदीकरण, विस्तार या व्यास कहा जा सकता है। जैसा कि शृङ्गार प्रकाश के क्षेत्र और योजना — सम्बन्धी प्रकरण में कहा जा चुका है, स. क. आ. ने स्वयं को साहित्य के अन्तिम चार पक्षों दोषहान, गुणादान, अलंकार-योग और रसावियोग अथवा रसान्वय तक सीमित रखा है। ये चार ही साहित्य का सार हैं। शृ. प्र. काव्य की साहित्ययुक्तो शब्दाथौ काव्यम् इस परिभाषा से प्रारम्भ होता है और शब्द, अर्थ, और साहित्य इन तीनों का पूरी तरह प्रतिपादन करता है। शब्द और अर्थ की प्रकृति एवं उनके भेदों का छः प्रकाशों में सविस्तार वर्णन है। और उसके बाद उतने ही विस्तार के साथ निरूपण के लिये शब्द और अर्थ के बीच रहने वाले विभिन्न सम्बन्धों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इन सम्बन्धों की संख्या बारह है जिनमें आठ शब्द सम्बन्ध—शक्ति, वृत्ति (अभिधा या मुख्या, गोणी और लक्षणा), विवक्षा, तात्पर्य (अभिधीयमान, प्रतीयमान और ध्वनि), प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, और एकार्थी भाव कहलाते हैं। इन आठ सम्बन्धों का वर्णन सप्तम और अष्टम इन दो प्रकाशों में किया गया है। स. क. आ. में शृङ्गार प्रकाश के इन आठ प्रारम्भिक प्रकाशों की विषय-वस्तु बिलकुल छोड़ दी गई है। यह शृ. प्र. का अतिरिक्त भाग है। अष्टम प्रकाश के पश्चात् साहित्य का शीर्षण्य या सबसे महत्वपूर्ण भाग दोषहानादि प्रारम्भ होता है। यही स. क. आ. का आरम्भ है। इस प्रकार स. क. आ. शृ. प्र. के नवम प्रकाश के साथ प्रारम्भ होता है। स. क. आ. के मंगल-श्लोक में सरस्वती के चतुर्विधरूप ध्वनि, वर्ण, पद, और वाक्य की चर्चा है।

ध्वनिर्वर्णः पदं वाक्यमित्यास्पदं चतुष्टयम् ।

यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवी तामुपास्महे । स. क. आ. 1--1

इससे हम यह समझ सकते हैं कि इस श्लोक में शृ. प्र. के आठ प्रकाशों में वर्णित पद और वाक्य इन दो विषयों की ओर संकेत है। मालूम नहीं कि शृ. प्र. की रचना का इतने विशद् ढंग से प्रारम्भ करके भी भोज ने केवल पद से ही चर्चा का प्रारम्भ क्यों की। उन्होंने काव्य शास्त्र से दूरगत सम्बन्ध रखने वाले छोटे से छोटे प्रकरणों का ग्रन्थ में समावेश करके भी स. क. आ. के मंगल श्लोक में वर्णित ध्वनि या स्फोट और वर्ण की चर्चा इस ग्रन्थ में क्यों नहीं की। वे चाहते तो और अधिक समग्रता के साथ विषय-वस्तु का ग्रहण कर सकते थे। और जैसे कि उन्होंने पद और वाक्य का निरूपण करते समय भर्तृहरि के वाक्यपदीय के बहुत से अंश का उपयोग किया है उसी तरह यदि वे स्फोट या शब्द ब्रह्म की चर्चा शृ. प्र. में करते तो वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड का और अधिक परिमाण में उपयोग कर सकते थे। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि शृ. प्र. में शब्द ब्रह्म और स्फोट की चर्चा ही नहीं की है। केवल सप्तम प्रकाश में ही प्रतीयमान और ध्वन्यमान का निरूपण करते समय दो बार इनका उल्लेख किया है। भोज ने शब्द ब्रह्म का विवर्त मानकर ही प्रतीयमान और ध्वन्यमान की व्याख्या की है। दूसरी बार इनका उल्लेख सत्ताईसवें प्रकाश में मिलता है। जहाँ उन्होंने भर्तृहरि से न सोस्ति प्रत्ययो लोके आदि को उद्धृत करते हुए शब्द ब्रह्म की महत्ता प्रतिपादित की है।

अब स. क. आ. की ओर लौटें। इसका प्रारम्भ शृ. प्र. के नवम प्रकाश से होता है। शृ. प्र. के प्रथम आठ प्रकाशों में अधिकतर व्याकरण सम्बन्धी चर्चा है। शृ. प्र. में वास्तविक काव्य शास्त्र का प्रारम्भ नवम प्रकाश से होता है। शृ. प्र. में यहाँ से प्रारम्भ होने वाली विषय-वस्तु का पता स. क. आ. के द्वितीय श्लोक से लग सकता है।

निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलंकृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

इस प्रकार शृ. प्र. के नवम प्रकाश का मुख्य प्रतिपाद्य है दोषहान। गुणादान के साथ मिलकर यही दोषहान स. क. आ. के प्रथम अध्याय का प्रतिपाद्य है। दूसरा विषय है अलंकार योग। जो तीन प्रकार का होता है—शब्दगत, अर्थगत और उभयगत। स. क. आ. में इन तीनों का अलग-अलग और द्वितीय तृतीय और चतुर्थ इन तीन अध्यायों में विस्तार के साथ वर्णन है। स. क. आ. के इन तीन अध्यायों की विषय-वस्तु शृ. प्र. के नवम प्रकाश में ही ग्रथित कर दी गई है। दूसरा विषय है-रस। स. क. आ. में इसके लिये सारा पञ्चम अध्याय दिया है। शृ. प्र. का ग्यारहवाँ प्रकाश इससे मेल खाता है। यदि हम शृ. प्र. के नाट्यतन्त्र से सम्बन्धित बारहवें प्रकाश को निकाल दें तो कहा जा सकेगा कि सारा शृ. प्र. स. क. आ. के पाँचवें प्रकाश का ही विस्तार या प्रस्तार है। मोटे तौर पर इसमें शृ. प्र. की सारी बातें सामान्य रूप से ही सही आ गई हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि शृ. प्र. के प्रथम से अष्टम प्रकाश तक जो वर्ण्य-वस्तु स. क. आ. में नहीं है। नवम प्रकाश का प्रतिपाद्य इसके प्रथम, दशम का प्रतिपाद्य इसके द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, और ग्यारहवें तथा तेरहवें से लेकर छत्तीसवें प्रकाश अर्थात् अन्त तक का प्रतिपाद्य इसके

पाँचवें अध्याय में अन्तर्भूत हो गया है। और इस तरह स. क. आ. शृ. प्र. से मिलता जुलता है। अब जरा अधिक स्पष्टता से देखें कि इन दोनों ग्रन्थों में ऐकमत्य और वैमत्य के स्थल कौन कौन से हैं। शृ. प्र. के दोष प्रकरण अर्थात् नवें प्रकाश में भोज ने उन बातों का विवेचन किया है जो स. क. आ. में नहीं पाये जाते। वाक्य के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् शब्दों से सम्बन्धित अर्थात् पद-सम्बन्धी दोषों के वर्णन की भूमिका के रूप में भोज ने वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले शब्दों की सापेक्षिक सत्ता का विवेचन किया है। यहाँ अड़तालीस वाक्य घर्षों की परिगणना; परिभाषा एवं उदाहरण यह अतिरिक्त विषय जोड़ दिया गया है। शेष सम्पूर्ण प्रकाश शृ. प्र. के 342 पृष्ठ तक फैले प्रथम अध्याय की विषय-वस्तु से पूरी तरह मेल खाता है किन्तु उसकी शैली या ढंग में एक अन्तर है। शृ. प्र. में भोज ने दोषों, गुणों और अलंकारों, का जल्दी जल्दी आगे बढ़ते हुए विवेचन किया है। यद्यपि इन विषयों से सम्बन्धित शृ. प्र. और स. क. आ. दोनों के प्रकरणों में कोई खास अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल इतना कि स. क. आ. में भोज ने कारिकाओं और उनही समुचित वृत्ति के द्वारा इनका विशद विवेचन किया है जबकि शृ. प्र. में इनकी परिभाषाओं का गद्य में जल्दी जल्दी पदच्छेद मात्र कर दिया है। जहाँ तहाँ कुछ नई बातें भी जोड़ दी गई हैं। उदाहरणार्थ गुणों का उल्लेख करते हुए उनका अलंकारों से अन्तर, अलंकार और उनके तीन भेद, व्याख्यात्मक गद्यांश तथा नारी प्रसाधनों से उनका साम्य ये अतिरिक्त बातें अलंकार प्रकाश में मिलेंगी। शब्दालंकार प्रकरण के अन्त में लगभग चौबीस शब्दालंकारों के सम्बन्ध में कुछ सामान्य जानकारी देने वाली कारिकाएँ शृ. प्र. में जोड़ दी गई हैं। भोज के दोनों ग्रन्थों में पाये जाने वाले गुणों और अलंकारों के विवेचन के अन्तर की चर्चा इस ग्रन्थ के गुण और अलंकार सम्बन्धी परिच्छेद में मिलेगी और जिस प्रकार दोष प्रकरण वाक्य में पदों के अस्तित्व पर व्याकरणशास्त्रीय चर्चा से प्रारम्भ होता है उसी तरह गुण प्रकरण की समाप्ति गुणवृत्ति, उपचार, प्रभा, और भ्रम आदि के विषय में लम्बी शास्त्रीय चर्चा के साथ होती है।

स. क. आ. के पञ्चम परिच्छेद में पहली से तीसरी कारिका तक संक्षेप में शृङ्गाराहंकाराभिमान रस विषयक भोज का रस सिद्धान्त संक्षेप में परिभाषित कर दिया गया है। शृ. प्र. के ग्यारहवें प्रकाश के प्रथम भाग में इसका तर्क सहित विस्तारपूर्वक विवेचन है। शृ. प्र. में इस प्रकरण में जो कुछ अधिक जोड़ा गया है उसमें इस नवीन रस सिद्धान्त के समर्थन में दिये गये तर्क हैं और रस विषयक बहुत से प्राचीन विचारों का खण्डन है। जिन पर स. क. आ. के पञ्चम परिच्छेद की तीसरी कारिका में भोज के रसिक सम्बन्धी विचार हैं। शृ. प्र. के ग्यारहवें प्रकाश एवं सप्तम प्रकाश के ध्वनि प्रकरण में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। स. क. आ. की चौथी से छठी कारिका तक दोषहान द्वारा वाक्य में रसावियोग या रसान्वय की प्राप्ति के साधन बताये गये हैं। यह ग्राम्यता जैसे बड़े दोषों के निराकरण से सम्भव है। स. क. आ. की ये तीन कारिकाएँ बड़े स्पष्ट ढंग से कुछ अधिक विस्तार के साथ सप्तम प्रकाश [पृष्ठ 356] के वाक्य रसावियोगोपाय प्रकरण में उल्लिखित की गई हैं। इसके पश्चात् स. क. आ. के पञ्चम अध्याय की ग्यारहवीं कारिका में दी हुई नानालंकार

संसृष्टि श्रु. प्र. में भी ले ली गई है। संसृष्टि को अलंकारों में सबसे महत्वपूर्ण बतलाकर मालोपमा के साथ उसकी प्रशस्ति की गई है—यह वर्णन स. क. आ. में नहीं पाया जाता। संसृष्टि का दो रूपों में वर्गीकरण किया गया है—प्रधानाङ्गभाव और समकक्षता। इसी के साथ दण्डी के श्लोक “लिम्पतीव तमो ऽङ्गानि” आदि पर व्याकरण सम्बन्धी चर्चा है। यह सम्पूर्ण चर्चा स. क. आ. के पञ्चम अध्याय में पृष्ठ 616-642 तक मिलती है। अगला भाग नानालंकार संसृष्टि की व्याख्या करता है और सिद्ध करता है कि गुण, अलंकार और रस ये तीनों भी अलंकार हैं। ये भाग स. क. आ. के पञ्चम अध्याय में पृष्ठ 616-639 तक के अंश से मिलता-जुलता है। इसके पश्चात् नवीन रस-सिद्धान्त पर भोज की कारिकाएँ व्याख्या तथा उद्धरणों के साथ दी गई हैं। ये स. क. आ. में नहीं मिलतीं। स. क. आ. की आठवीं कारिका जो कि काव्य की तीन उक्तियों—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति से सम्बन्धित हैं श्रु. प्र. में भी विस्तृत व्याख्या के साथ दी गई हैं। श्रु. प्र. का अगला वर्ण्य विषय अष्ट रस विषयक है जिसमें रसोक्ति या रसवद् अलंकार अथवा विभावों से रस-निष्पत्ति का वर्णन है। यह प्रकरण स. क. आ. के पञ्चम अध्याय में पृष्ठ 512 से 515 तक का पूर्णतः उद्धरण है। अगले प्रकरण में श्रु. प्र. में भरत के रस सिद्धान्त का खण्डन करके भोज के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि रस अनन्त हैं। यह प्रकरण स. क. आ. में नहीं मिलता। यहाँ स. क. आ. के पृष्ठ 613 से भोज द्वारा स्वीकृत एक रस का तीन पक्षों—पूर्वकोटि, माध्यमावस्था, और परमाकाष्ठा—को उद्धृत कर दिया गया है। श्रु. प्र. का अगला अंश स. क. आ. में नहीं मिलता। इसमें भरत के रस सूत्र और रस निष्पत्ति की मनोरम मालोपमाओं द्वारा व्याख्या की गई है। आगे श्रु. प्र. रस के विविध पक्षों और स्थितियों यथा भाव, रस, उत्कण्ठा, अभिश्रद्धा आदि के उदाहरण प्रस्तुत करता है। ये स. क. आ. में यत्र तत्र बिखरे मिलते हैं। यद्यपि इसी क्रम से नहीं मिलते।

इसके पश्चात् श्रु. प्र. में नानालंकार संसृष्टि के विविध मार्गों का प्रकरण प्रारम्भ होता है जो क्रम के थोड़े से परिवर्तन के साथ स. क. आ. के पञ्चम अध्याय में पृष्ठ 615-639 तक के अनुविभागों से उद्धृत कर दिया गया। इसके साथ वाक्य में रसावियोग का प्रतिपादन समाप्त होता है और प्रबन्धगत रसावियोग का प्रारम्भ होता है। इस भाग का महत्वपूर्ण अंग है प्रबन्ध का दृश्य और श्रव्य में वर्गीकरण और इन दोनों वर्गों के भेदों की परिभाषा। यह प्रकरण स. क. आ. में नहीं है। हाँ, प्रबन्धगत रसावियोग का निरूपण स. क. आ. की 126-137 तक की कारिकाओं में संक्षेप से मिलता है। और इन पर वृत्ति पञ्चम अध्याय के अन्त में पृष्ठ 642 से 648 तक मिलती है।

बारहवाँ प्रकाश रूपक विधान से सम्बन्धित है जिसमें पांच अवस्थाएँ, सन्धियाँ और वृत्तियाँ आती हैं। यद्यपि यह विषय स. क. आ. में छोड़ दिया गया है फिर भी पञ्चम अध्याय के पृष्ठ 643-647 तक 127-28 कारिकाओं और उनकी वृत्ति में संक्षेप से समाविष्ट है। ऊपर इस बात की चर्चा की गयी है कि स. क. आ. में निरूपित वाक्य एवं प्रबंध सम्बन्धी रस के कौन-कौन से पक्ष श्रु. प्र. के एकादश और द्वादश प्रकाशों में दोहराये गये हैं या विशदीकृत हुए हैं। स. क. आ. के पञ्चम अध्याय के कुछ ऐसे रस सम्बन्धी अंश भी

हैं जिनकी सविशद् चर्चा शृ. प्र. में आगे भी है। शृ. प्र. के त्रयोदश से लेकर अन्तिम प्रकाश तक का वर्ण्य विषय यही है। शृ. प्र. के तृतीयग्रन्थ का त्रयोदश प्रकाश अहंकार शृङ्गार के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी चतुर्विध वर्गीकरण से प्रारम्भ होता है यह स. क. आ. के पञ्चम अध्याय में नहीं मिलता। त्रयोदश प्रकाश का शेष भाग रति के विविध प्रकारों की व्याख्या करता है जो स. क. आ. के पञ्चम अध्याय में पृष्ठ 515 से 521 तक वर्णित है। शृ. प्र. का चौदहवाँ प्रकाश शेष बचे हुए समस्त अड़तालीस भागों के लिये जन्म, अनुबन्ध आदि पाँच कोटियाँ में उदाहरण प्रस्तुत करता है यह स. क. आ. के पञ्चम अध्याय पृष्ठ 495-511 का ही विस्तार है। शृ. प्र. के पन्द्रहवें प्रकाश में रति की सविशेष और सविस्तार चर्चा है। इस प्रकाश में आलम्बन विभाव नायक और नायिका का वर्णन है और यह स. क. आ. के पञ्चम अध्याय पृष्ठ 587-601 का ही विस्तार है। और यह 101-123 कारिकाओं की वृत्ति है। शृ. प्र. का सोलहवाँ प्रकाश रति के उद्दीपन विभावों का निरूपण करता है। इसका थोड़ा-सा भाग स. क. आ. पृष्ठ 527-529 में मिलता है। शृ. प्र. में ऋतुओं, देशों, समय, कलाओं, संस्कारों और प्रसाधनों आदि की विस्तृत आलोचना है। सत्रहवें प्रकाश में रति के अनुभाव वर्णित हैं। ये स. क. आ. के पञ्चम अध्याय की 40-43 कारिकाओं में पृष्ठ 532-537 पर दिये गये हैं। शृ. प्र. ने इनका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए उनमें कुछ नवीन अनुभाव जोड़ दिये हैं जिनमें बुद्धिजात अनुभावों के रूप में रीतियों, वृत्तियों और प्रवृत्तियों का समावेश किया गया है। इस प्रकाश का अधिकांश स. क. आ. में नहीं मिलता।

शृ. प्र. के अठारहवें प्रकाश में एक नया प्रकरण प्रारम्भ होता है जो बीसवें प्रकाश के साथ समाप्त होता है। इसमें चार शृङ्गारों और चार पुष्पार्थों का विवेचन है। स. क. आ. ने इसे पूर्णतः छोड़ दिया है। यद्यपि बीसवें प्रकाश के कामशृङ्गार आदि से संबंधित कुछ विषय स. क. आ. के पाँचवें अध्याय में जहाँ तहाँ बिखरे मिलते हैं। इक्कीसवें प्रकाश का तीसरा भाग नायक, उपनायक, प्रतिनायक, नायिका तथा उनके अनेक गुणों से संबंधित है। यह प्रकरण स. क. आ. के पाँचवें अध्याय में पृष्ठ 587-88, 604-606 और 606-608 तक तथा 122-123 कारिकाओं में मिलता है।

बाईसवें प्रकाश के साथ शृङ्गार का और सविस्तार वर्णन प्रारम्भ होता है। इस प्रकाश में अनुराग के चौंसठ भेद दिये गये हैं। ये स. क. आ. में नहीं मिलते। इसी प्रकाश में अनुराग के आठ रूप-नित्य, नैमित्तिक आदि हैं। जो स. क. आ. के पञ्चम अध्याय की 97-98 कारिकाओं में पृष्ठ 581-584 में पाये जाते हैं। स. क. आ. में इन्हें अनुराग की "महर्षयः" कहा है। यहाँ शृ. प्र. में अधिक संक्षिप्तता का प्रयत्न देखा जा सकता है जो विचित्र सी बात है। स. क. आ. से इनके बारह भेद हैं जिसे शृ. प्र. में 8 में संक्षिप्त कर दिया है किन्तु उसमें चार अतिरिक्त भेदों को छोड़ दिया है। शृ. प्र. में इन आठों के बहुसंख्यक उपभेद बताये गये हैं जिनका स. क. आ. में कोई उल्लेख नहीं है। अनुराग के और अधिक विस्तार की दूसरी तरंग तेईसवें प्रकाश में उठती दिखाई देती है। इसमें शृङ्गार के सम्भोग और विप्रलम्भ नामक दोनों पक्षों का उनके चार-चार भेदों के साथ वर्णन है।

यह विषय स. क. आ. के पञ्चम अध्याय में पृष्ठ 537-545 पर मिलता है। चतुर्थ ग्रन्थ के चौबीसवें प्रकाश में विप्रलम्भ शब्द और उसके चारों स्वरूपों-पूर्वानुराग आदि नामों की निरुक्ति मिलती है। यह निरुक्ति स. क. आ. में पहले ही बहुत विस्तार के साथ चर्चित हो चुकी है। शृ. प्र. में उसमें कुछ और वर्गीकरण तथा उदाहरण जोड़ दिये हैं। स. क. आ. में यह विषय पञ्चम अध्याय की 95-96 कारिकाओं में पृष्ठ 575-581 पर मिलता है। पच्चीसवाँ प्रकाश दर्शन एवं श्रवण से उत्पन्न पूर्वानुराग की चर्चा करता है। यह चर्चा करते हुए भोज प्रत्यक्षादि प्रमाणों में दूर तक भटक गये हैं। यद्यपि यह विषय स. क. आ. में प्रामुख्य नहीं पा सका है। उसमें रस परिशेष शीर्षक के अन्तर्गत पञ्चम अध्याय के पृष्ठ 525-26 पर ज्ञान के दृष्ट, श्रुत और अनुमित इन तीन भेदों का उल्लेख मात्र है। शृ. प्र. का छवीसवाँ प्रकाश उपलब्ध नहीं है। निश्चय ही इसमें पूर्वानुराग के कुछ पक्षों की व्याख्या की गई थी किन्तु हम यह नहीं कह सकते। कि इसमें पूर्णतः नई विषय-वस्तु थी या नहीं और स. क. आ. के पञ्चम अध्याय के किस भाग में वह विषय मिलता है। शृ० प्र० के सत्ताइसवें प्रकाश का नाम है अभियोग और इसका वर्ण्य-विषय स० क० आ० में नहीं मिलता। फिर भी प्रेम परीष्टि शीर्षक के अन्तर्गत 54 वीं कारिका में पृष्ठ 548 पर इसका संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। शृ. प्र. के 28 वें प्रकाश में दूतों, उनके भेदों तथा कार्यों का वर्णन है। शृ. प्र. में एक बड़े प्रकाश के अन्तर्गत इसका व्यापक वर्णन है किन्तु स. क. आ. में इसे संक्षेप में ही अभियोग के साथ-साथ एक प्रेम परीष्टि के रूप में वर्णित कर दिया गया है। देखिये कारिका 54, अध्याय पाँच, पृष्ठ 550।

उन्तीसवें प्रकाश की विषय-वस्तु स. क. आ. में नहीं है। इसमें पूर्वानुराग के अड़तालीस पक्षों का वर्णन है। फिर भी इनमें से दो-‘दूतसम्प्रेषणम्’ और दूतप्रशन्ताः स. क. आ. के पञ्चम अध्याय में पृष्ठ 550 पर विप्रलम्भ परीष्टि शीर्षक के अन्तर्गत मिलते हैं। शृ. प्र. का तीसवाँ प्रकाश मान की विभिन्न सूक्ष्म और विश्लेषित मनःस्थितियों का विस्तृत वर्णन करता है। स. क. आ. में पृष्ठ 538 पर केवल एक उदाहरण श्लोक में इसका निरूपण है। यही बात प्रवास और कर्षण विप्रलम्भ के विषय में कही जा सकती है। शृ. प्र. में इसके लिये इकतीस और बत्तीस ये दो बड़े प्रकाश दिये हैं किन्तु स. क. आ. में पञ्चम अध्याय के पृष्ठ 538-39 पर इनका केवल उल्लेख कर उदाहृत कर दिया गया है। शृ. प्र. के तैतीसवें प्रकाश में सम्भोग शब्द की निरुक्ति है। इसमें स. क. आ. के पञ्चम अध्याय की 77-78 की कारिकाओं और पृष्ठ 562-65 पर दी हुई उनकी वृत्ति का ही विस्तार कर दिया गया है। 34-35 वें प्रकाश में चार विप्रलम्भों के ही ढंग पर चार सम्भोगों का वर्णन है। इसे भी स. क. आ. की 89-92 वीं कारिकाओं और पृष्ठ 540-42 तथा 565-574 पर दी गई वृत्ति का निश्चित रूप कहा जा सकता है। 34 वें प्रकाश के अन्तर्गत वर्णित प्रेमोत्सव स. क. आ. में पृष्ठ 375-381 पर 93-96 कारिकाओं में प्रकीर्णक शीर्षक के अन्तर्गत सोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। शृ. प्र. में प्रत्येक के दो या अधिक उदाहरण दिये जाने के कारण सूची पृथुलकाय हो गई है। और इसमें कुछ अन्य बातें जोड़ने पर उसे 64 तक पहुँचा दिया गया है जो कि लेखक की बहुत ही प्रिय संख्या है। इसी प्रकार 35 वें

प्रकाश में मान भंग की 48 और प्रवासान्त की 24 तथा मृत्यु से पुनर्मिलन तक की 24 कोटियाँ स. क. आ. में नहीं हैं वे श्रृ. प्र. में अतिरिक्त रूप से जोड़ दी गई हैं। 26 वाँ प्रकाश ग्रन्थ का अन्तिम भाग है। इसमें सम्भोग की सत्ता, अभिव्यक्ति, अनुबन्ध और प्रकर्ष इन चार कोटियों का वर्णन है। ये स. क. आ. के पाँचवें अध्याय में तेरहवीं तथा 24-27 वीं कारिकाओं में पृष्ठ 488-491 पर वर्णित है।

स. क. आ. में शृङ्गाराभास का वर्गीकरण सामान्य सम्भोग के रूप में नहीं किया गया है किन्तु श्रृ. प्र. में भोज ने उसे सामान्य (पशुविषयक) और विशेष (नागरिक विषयक) इन दो भागों में बाँटा है। अन्तिम प्रकाश में वर्णित अन्य विषय हैं-रागों के द्वादश भेद, व्याजों के बारह प्रकार तथा अनुबन्धों और पाकों की बारह बारह विधाएँ। इनमें से तीन पाकों का उल्लेख स. क. आ. पञ्चम अध्याय की 124 वीं कारिका में पाकभक्ति शीर्षक के अन्तर्गत पृष्ठ 609 पर हुआ है। इसी प्रकार रागों में से केवल तीन स. क. आ. की 124 वीं कारिका में 609-10 पर रागभक्ति शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित हैं। 124 वीं कारिका में पृष्ठ 610-11 पर तीन व्याजों और 124 वीं कारिका में हो पृष्ठ 611-12 पर उदकभक्ति शीर्षक के अन्तर्गत तीन उदकों का वर्णन मिलता है स. क. आ. के पाँचवें अध्याय में भोज ने सम्पूर्ण रस-विषय को 9-12 कारिकाओं द्वारा कुछ शीर्षकों में गुम्फित कर दिया है। कुल मिलाकर अनुराग की इन समस्त अवस्थाओं को रसान्वय-विभूति नाम दिया गया है और इसके अन्तर्गत विषयों को रस-विशेष, रस परिशेष, परिश्रुति, निरुक्ति, प्रकीर्ण आदि नाम दिये गये हैं। इन नामों का नियमित रूप से उपयोग नहीं हुआ है। स. क. आ. और श्रृ. प्र. के बीच पाये जाने वाले ऐक्य और अन्तर को इस ग्रन्थ के पाँचवें परिच्छेद में भी स्पष्टतः देखा जा सकता है। इस परिच्छेद में श्रृ. प्र. के वर्ण्य विषय का व्योरेवार उल्लेख है। श्रृ. प्र. के अन्त में भोज के अलंकार रस से सम्बन्धित कुछ अनुष्टुप छन्द मिलते हैं जो स. क. आ. में नहीं पाये जाते। श्रृ. प्र. की समाप्ति स. क. आ. के अन्त में पाये जाने वाले दो श्लोकों से होती है।



सप्तम परिच्छेद काव्य और नाट्य

“अतो ऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहुमन्यामहे; अभिनयेभ्यश्च काव्यमेवेति ।”

भोजः शृ. प्र.—प्रथम प्रकाश

साहित्य समीक्षकों में इस बात पर प्रायः मतैक्य देखा जाता है कि काव्य की सर्वोत्कृष्ट विधा रूपक है। इस विचारणा में यह मनोरंजक तथ्य देने योग्य है कि काव्यशास्त्र की उत्पत्ति नाट्य शास्त्र से हुई। अलंकार का विवेचन भी सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में हुआ है। अरस्तु के काव्य शास्त्र में भी दुःखान्त नाटक काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप माना गया है। संस्कृत अलंकार शास्त्र के लेखकों में सर्वप्रथम वामन ने कहा था कि समस्त निबन्धों में रूपक उत्कृष्टतम है क्योंकि उसमें चित्र के समान विविधता, पूर्णता और आश्चर्यमयता के एक साथ दर्शन होते हैं।

“सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्वि चित्रं, चित्रपटवत् विशेषसाकल्यात्। ततोऽन्यभेद क्लृप्तिः। ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः। कल्पनमिति दशरूपकस्य हि इदं सर्वं विलसितम्, यदुत कथाख्यायिके महाकाव्यमिति।” काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति 1-3-30 से 32 तक।

रूपक से ही काव्य के कथा, आख्यायिका तथा महाकाव्यादि भेदों की सृष्टि हुई है। संस्कृत के समीक्षाकारों ने इस प्रश्न के ऐतिहासिक पहलू पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया है कि पहले कविता, महाकाव्य या घामिक गीतिकाव्य का जन्म हुआ अथवा नाटकीय संवादों का। वामन ने काव्य की उत्कृष्टता को दृष्टि में रखकर ही इस प्रश्न का उत्तर दिया है और कहा है कि रूपक में ही पूर्णतः साकल्य पाया जाता है और शेष काव्यआख्यायिकादि सब उसी के विलसित हैं। वामन ने रूपक को श्रेयस् मानने के सम्बन्ध में एक तर्क यह भी दिया है कि रूपक में अद्भुतता, पूर्णता और साकल्य रहने के कारण वह चित्रपटवत् होता है। नाटक का चित्र के साथ इस समता का क्या महत्व है और विशेष साकल्य शब्द का क्या अर्थ है? वे कौन से विशेष या विविध तत्व हैं जिनसे साहित्यिक कृति का निर्माण होता है? वे कौन-सी विशेषताएँ हैं जो महाकाव्य और कथा में तो नहीं मिलती किन्तु रूपक में विद्यमान रहती हैं। वामन ने इन बातों को पूरी तरह स्पष्ट नहीं किया। शक्तिमान और प्रभावोत्पादक होने के लिए काव्य, कथा अथवा आख्यायिकादि में नाटकीय तत्व का होना आवश्यक है। जिस प्रकार नाटकों में उसके पात्र जीवन्त व्यक्तियों के सदृश प्राणमय दिखाई देते हैं इसी प्रकार इनके पात्रों को भी सजीव होना चाहिये। वास्तविकता का यह तत्त्व नाटक में पाया जाता है। क्योंकि उसमें कथा में वर्णित जीवन को फिर से जीने का प्रयत्न

होता है। काव्य में यह बात नहीं मिलती क्योंकि वह केवल श्रव्य होता है, दृश्य नहीं। पढ़ा और सुना तो जाता है किन्तु न करके दिखाया जा सकता है और न देखा जा सकता है। वामन ने जो रूपक की उपमा चित्र से दी है उसके पीछे यही संकेत जान पड़ता है कि यह दृश्यता और वास्तविकता गुण जो विश्व की घटनाओं की मूल प्रकृति को स्पर्श कर सकता है उसे हम नाटक में अपनी आँखों से देखते हैं।¹ इनमें वर्णित वस्तु नेत्रों के सम्मुख उपस्थित होकर दृश्यमान जगत् की सामान्य वस्तुओं के समान प्रभाव डालती है किन्तु केवल इसी एक कारण से नाटक काव्य से बड़ा नहीं माना जा सकता। नाटककार को काव्य या आख्यायिका के कवि के समान भावनाओं और संवेगों के प्रदर्शन की सुविधा नहीं होती। नाटक में ऐसा वर्णन असंभव है। श्लेगल ने नाटक और काव्य में यही भेदक तत्व माना है। काव्य में कवि अपनी ओर से वस्तु की व्याख्या कर सकता है। नाटककार को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। नाटककार नटों पर आश्रित होता है। आधुनिक काल में पाश्चात्य नाटककारों ने मनःस्थितियों और परिस्थितियों को स्पष्टतः समझाने के लिये लम्बे-लम्बे रंगमञ्चीय निर्देश दिये हैं। जिससे नाटक और काव्य के बीच का अन्तर दूर हो गया—सा प्रतीत होता है। किन्तु नाटक में इस प्रकार के निर्देश अनावश्यक हैं क्योंकि अभिनेता मञ्च पर अपनी वेशभूषा मनःस्थिति एवं भावनाओं के विशुद्ध अभिनय के द्वारा इस प्रकार की व्याख्याओं को निरर्थक बना देता है। इससे प्रतीत होता है कि जहाँ तक श्रोताओं को प्रभावित करने का सम्बन्ध है नाटक अपने उद्देश्य को सीधे सीधे अधिक शीघ्रता से और अधिक सफलता से प्राप्त करता है। इस प्रकार वामन के इस मत की कि काव्य, कथा आदि नाटक के ही विलसित हैं व्याख्या यों की जा सकती है कि महाकाव्य या कथा—काव्य एक प्रकार से नाटक की ऐसी पुनरुक्ति होती है जिसमें दृश्यों के मध्य का खाली भाग तथा वर्णन के लिये आवश्यक व्याख्या का अंश कवि द्वारा अपनी ओर से भर दिया जाता है। यह कहना भी सच है कि सब लोग नाटक के बदलते दृश्यों को ठीक तरह समझने में समर्थ नहीं होते और उन्हें संयोजक व्याख्याओं की आवश्यकता होती है। काव्यात्मक वर्णन के द्वारा वे बात को सरलता से समझ लेते हैं और इससे उन्हें निश्चित रसास्वाद प्राप्त होता है। कुछ लोग कहेंगे कि महाकाव्य में काव्य रचना की सारी विधाएँ समाहित होती हैं। यथा—वर्णनात्मक, गीतात्मक और नाट्यात्मक किन्तु अनेक बातों को एकत्र समाविष्ट कर देने की यह प्रक्रिया किसी भी साहित्यिक विधा में व्यक्ति की रुचि के अनुसार समाविष्ट देखी जा सकती है। इस प्रकार गीतात्मक पर एक पुस्तक लिखते हुए जॉन ड्रिक वॉटर को सारा ही काव्य गीतात्मक प्रतीत हुआ। इसी तरह कोई भी व्यक्ति किसी एक प्रकार की रचना में रचना के सारे प्रकारों को समाविष्ट देख सकता है। वस्तुतः इस प्रकार के सारे दावों में एक सीमा तक सत्य है ही। ड्रिक वॉटर के इस मत का कि सारा काव्य संगीतात्मक है, समर्थन संस्कृत लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से भी होता है। अपने पात्रों के बहाने वस्तुतः कवि ही बोला करता है क्योंकि मनुष्य होने के कारण उसे इस बात का पता

1. देखिये मेरा “सम् संस्कृत टेक्स्टस ग्रॉन पेण्टिंग” शीर्षक लेख—इण्डियन हिस्टो. क्वार्टर्ली जिल्द 11 पृष्ठ 901।

रहता है कि मनुष्य में कहाँ पर किस प्रकार की भावनाएँ संभावित हो सकती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कवि वस्तु को विश्वात्मकता प्रदान करता है और इसी साधारणीकरण के कारण पाठक या दर्शक काव्य या नाटक के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।

“नायकमुखेन कविरेव मन्त्रयते निश्चिनोति चेति केचित्।” रुद्रट पर निमिसाधु की व्याख्या, 13 पृष्ठ 169.

“न हि महाकविभिः वाल्मीकिप्रमुखैरिव ध्यानदृष्ट्या रामादीनामवस्थाः प्रातिस्विका निरूप्यन्ते किन्तु रामादिकमाश्रयतया परिकल्प्य स्वप्रतिभाप्रभावलब्धाः सर्वसाधारणा इति॥ विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय पर कुमारस्वामी की टीका, बालमनोरमा संस्करण, पृष्ठ 205।

इस प्रकार काव्य स्वभाव से ही अपने मूल कवि से होने वाले अपने उद्गम की दृष्टि से तथा पाठक या दर्शक के रूप में दूसरे व्यक्ति पर पड़ने वाले अपने प्रभाव की दृष्टि से गीतात्मक होता है। इसलिये ऐसा लगता है कि वे सारे प्रयत्न जो अन्य सब काव्य विधाओं को किसी एक विधा के भीतर लाने के लिये किये जाते हैं और उस एक विधा को सर्वोत्कृष्ट मनवाने के लिये होते हैं, केवल विशेष मत या विशिष्ट रुचि के ही परिचायक होते हैं चरम सत्य के नहीं। किसी विशेष प्रकार के साहित्य का कोई विशेष नाम इसलिये पड़ जाता है कि जैसा कि अभिनवगुप्त ने रूपक का शीर्यात्मक सामाजिक सुखान्त भाण आदि में वर्गीकरण करते हुए कहा है कि किसी भी रचना में अन्यों की अपेक्षा किसी एक तत्व की प्रधानता होती है। और उस विशिष्ट तत्व के कारण उसे अलग नाम दे दिया जाता है यही बात साहित्य को अन्य विधाओं के सम्बन्ध में सच है और इसी के आधार पर गीतिकाव्य, महाकाव्य, नाट्यकाव्य आदि आदि नाम दिये गये हैं। सत्य तो यह है कि प्रत्येक विधा में अन्य विधाओं के भी तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। इसलिये वामन द्वारा रूपक को साहित्य रचनाओं के अन्य प्रकारों से ऊँचा बतलाना उनकी विशिष्ट रुचि का ही द्योतक है। यह अर्थवाद जैसी आलोचना है जिसका समर्थन तो किया जा सकता है किन्तु वह पूर्णतः सत्य नहीं है। वामन के विचारों का अनुसरण करते हुए संस्कृत के सर्वोच्च समीक्षाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने भी साहित्यिक रचनाओं में रूपक को सर्वोत्कृष्ट माना है। वे कहते हैं कि रस का पूर्ण परिपाक अर्थात् उसमें रसास्वादोत्कर्ष की प्राप्ति मुक्तक छन्दों में नहीं पाई जा सकती क्योंकि वहाँ रस निष्पत्ति की विभिन्न अवस्थाएँ या उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भाव पूर्णतः उपस्थित नहीं रहते। अतः केवल पूर्ण काव्य या पूर्ण कथा प्रबन्ध में ही पूर्ण रसास्वाद सम्भव है। अभिनीयमान रूपक में प्रबन्ध काव्य की भी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण रसास्वाद होता है क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रूपक हमें वास्तविकता की निकटतम सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। इसमें वास्तविक जगत् के यथा सम्भव पुनरुपस्थापन का प्रयत्न होता है।

1. मेरे रस पर निबन्ध पृष्ठ 286। के आधार पर जे. ओ. आ. सप्तम पृष्ठ 277-290।

‘तच्च (रसास्वादोत्कर्षकारकं विभावादीनां समप्राधान्यम्) प्रबन्ध एव भवति । वस्तुतस्तु दशरूपक एव । यदाह वामनः—“सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । तद्विचित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् ।” अभिनवभारती-गायकवाङ् संस्करण, 1 पृष्ठ 288

इसलिये किसी छोटी कविता अथवा मुक्तक की व्याख्या करते हुए उसका सन्दर्भ भी बतलाना पड़ता है जिससे विभावादि की अवस्थाओं का ज्ञान कराया जा सके, क्योंकि ये बातें मूल छन्द में नहीं होती । छन्द में पात्र की वेशभूषा चलना फिरना और अन्य कार्य भी नहीं होते । इसलिये उनकी पूर्ति वर्णन द्वारा की जाती है । इस प्रकार रसास्वाद प्रमुख रूप से और सर्वोत्कृष्टता के साथ केवल नाटक में प्राप्त होता है । इसके बाद दूसरा स्थान महाकाव्य का है और अंतिम स्थान खण्ड काव्य या मुक्तक का ।

“तद्रूपसमर्पणया तु प्रबन्धे भावावेशप्रवृत्तयौचित्यादिकल्पनात् तदुपजीवनेन मुक्तके । तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितमत्र परिकल्प्य “ईदृगत्र वक्ता अस्मिन्नवसरे इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते ।” अभिनव भारती, गायकवाङ् सं. 1 पृष्ठ 288

अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती के ही पृष्ठ 292 पर फिर कहा है कि रूपक ही सर्वोत्कृष्ट रचना है क्योंकि इसी से पूर्ण रसास्वाद सम्भव है । काव्य में जो रसास्वाद प्राप्त होता है । उसका कारण काव्य में नाट्यगुणों का उपस्थित रहना है । कवि के शक्तिशाली वर्णन कथानक को ऐसी जीवनी शक्ति प्रदान करते हैं कि सारी कविता अभिनीयमान रूपक के समान मस्तिष्क के समक्ष उपस्थित हो जाती है ।

“काव्यं तावन् मुख्यतो दशरूपात्मकमेव । ++ काव्यं च नाटकमेव ।”

अभिनव भारती गाय. सं. 1 292 ।

अभिनवगुप्त के कुछ समय पश्चात् शृ. प्र. के रचयिता भोज ने कहा कि मैं कवियों और काव्यों को अभिनेताओं और अभिनय से उत्कृष्टतर मानता हूँ । अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है कि श्रोताओं की कुशल अभिनेता द्वारा रूपक को प्रस्तुत किये जाने पर ही इसका आस्वादन होता है या तब जब वे कवि द्वारा काव्यों में वर्णित व्यक्तियों या परिस्थितियों का चिन्तन करते हैं । इस दृष्टि से देखें तो वस्तुएँ तब उतनी आकर्षक नहीं होतीं जब वे प्रत्यक्ष देखी जाती हैं । वाक्सिद्ध कवियों द्वारा वर्णित होकर वे अधिक आकर्षक बन जाती हैं । इसलिये मैं कवियों को अभिनेताओं से और काव्य को जिसमें रूपक का मूल पाठ भी सम्मिलित है अभिनय से उत्कृष्टतर मानता हूँ ।

“स (रसः) च अनुभवैकगम्यत्वाद् असर्वं विषयत्वाच्च दुरवसेयः । सम्यगभिनयेषु वा विदग्धशैलूषैः प्रदर्श्यमानः सामाजिकैरवधार्यते । प्रबन्धेषु वा महाकविभिः यथावद् आख्यायमानः विदुषां मनीषाविषयमवतरति ।

तत्र न तथा पदार्थाः प्रतीयमानाः स्वदन्ते, यथा वाग्मिनां वचोभिरावेद्यमानाः । तदाह—

तदाह—

अत्यणिवेसा एवि तह चित्तविआसं कुणन्ति सच्चेविआ ।

जह उण ते उंमिल्लन्ति सुकविआहि सुसीसंता ।”

(अर्थनिवेशः नापि तथा चित्तविकासं कुर्वन्ति दृष्टाः ।¹

यथा पुनस्ते उन्मीलन्ति सुकविचोभिः कथ्यमानाः ॥)

अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहुमान्यामहे, अभिनयेभ्यश्च काव्यमेवेति ।

श्रृ० प्र०, प्रथम संस्करण, प्रथम प्रकाश पृष्ठ 3-4 ।

संस्कृत अलंकार शास्त्र में नाटककार के लिये कोई पृथक् नाम उपलब्ध नहीं है । उसकी भी कवि संज्ञा है और नाटक भी काव्य है । यहाँ भोज ने कहा है कि वे अभिनेता और अभिनय की अपेक्षा कवि और काव्य को अधिक ऊँचा मानते हैं । भोज के विचार से अभिनय द्वारा दर्शक के सम्मुख तथ्यों के प्रस्तुतीकरण की कला इतनी महान नहीं है जितनी नाटक के लेखक कवि की कला-उस लेखक की जो नाटक की रचना कर उसे बिना अभिनय की सहायता या किसी व्याख्या या अन्य सहायता या पूरक के, नाटक को रसास्वादन कराने में समर्थ बनाता है । भोज के इस कथन का कि वस्तुएँ वस्तुतः प्रत्यक्ष देखने पर उतनी आकर्षक नहीं लगतीं जितनी वाक्सिद्ध-कवियों के चमत्कारिक स्पर्श द्वारा ग्रहण की जाती हैं आपात् अर्थ यही मालूम होता है कि प्रकृति और कला का अन्तर स्पष्ट कर रहे हैं और यह समझा रहे हैं कि प्राकृतिक वस्तु कला का रूप ग्रहण कैसे करती है और उसकी प्रक्रिया या प्रस्तुतिकरण की विधि क्या है । किन्तु भोज द्वारा निकाले गये निष्कर्षों से ज्ञात होता है कि वे यहाँ नाटक के प्रयोग, दर्शन और उसके कविप्रतिभाजन्य मूलपाठ अर्थात् ग्रन्थ के अन्तर को स्पष्ट करना चाहते हैं । और इसीलिये वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कवि और उसकी कृति अभिनेता, प्रयोक्ता, अभिनय, एवं रंगमंचीय तन्त्र से बड़े हैं । यह स्थिति भरत और अभिनवगुप्त की मान्यताओं से थोड़ी भिन्न है । निश्चय ही नाट्य का अर्थ है प्रयुक्त रूपक । और इसीलिये भरत ने प्रेक्षागृह के निर्माण, वाद्यतूर्य, अभिनय, और संवाद कथन की ओर इतना ध्यान दिया । अन्यथा वे रस काव्यबन्ध और दशरूपक विषयक अध्यायों की रचना के बाद रुक गये होते । जब अभिनवगुप्त यह कहते हैं कि नाटक से ही रस का पूर्ण आस्वादन प्राप्त होता है तो निश्चय ही उनका आशय भी रंगमंच पर प्रयुक्त नाटक से ही है क्योंकि इस प्रसंग में वे रूप-प्रसाधन एवं संवाद कथन में काकु की भी चर्चा करते हैं । किन्तु इन संस्कृत समीक्षकों में से कोई भी यूरोपीय समीक्षकों के बराबर आगे बढ़कर यह नहीं कहता कि नाट्य रचनाकार कुछ नहीं है । नाटककार की प्रतिष्ठा ऐसे अभिनेता पर निर्भर करती है जो इसकी कृति की व्याख्या कर सके । और अभिनय, रंगमञ्चीय व्यवस्था तथा प्रेक्षागृह का वास्तु शिल्प ये बातें नाट्यकाव्य अथवा

1. गाथा के सच्चे विआ शब्द का संस्कृत में अनुवाद लक्ष्मीधर की शब्द चन्द्रिका (पृष्ठ 197) के अनुसार संस्कृत में दृष्टाः किया गया है । चन्द्रिका में पश्यति को सच्चवइ आदेश का विधान है और दृष्टा से अर्थ की संगति बैठ जाती है ।

नाट्य साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं ।

पश्चिम में इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है । श्री जे. इ. स्पिंगार्न (J. E. Spingarn) का ड्रेमिटिक क्रिटिसिज्म शीर्षक लेख बड़ा सुन्दर है । इसमें इस विषय की चर्चा है और इस प्रश्न पर कुछ निश्चित सूक्ष्म जानकारी प्रस्तुत की है । सर्वप्रथम यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे अरस्तु (Aristotle) अर्थात् भरत ने रूपक की चर्चा-कवि प्रतिभा जन्य कला के रूप में ही नहीं की है अपितु प्रयोक्ता और अभिनेता की कला के रूप में भी उसका विवेचन किया है । भरत वेषभूषा के औचित्य की भी चर्चा करते हैं । मातृगुप्त ने कहा है कि नेपथ्यरस भी एक प्रकार का रस है ¹ किन्तु इस प्रश्न पर भरत का निश्चित मत है कि रूपक वह कला है जिसका निर्माण पहले रूपककार करता है और फिर जिसे अभिनेता प्रस्तुत करते हैं । पश्चिम में जो यह गंभीर विवाद देखा जाता है कि क्या यह केवल अभिनेता की कला है ? अथवा रूपककार की अपेक्षा अभिनेता की ही अधिक कला है ? अथवा जैसा कि अन्य अतिरेकवादियों का मत है कि क्या यह केवल रूपककार की ही कला है । वैसा विवाद संस्कृत लेखकों में कभी नहीं चला । भरत और उनके अनुयायियों ने इस प्रश्न का उत्तर बहुत समझदारी से दिया किन्तु मैं इस अभिनवगुप्त और भरत के ग्रंथों में पाये जाने वाले इस उत्तर की चर्चा से पहले यूरोपीय समीक्षकों के मतों पर विचार करूंगा ।

इस विवाद को प्रारम्भ करने का दायित्व स्वयं अरस्तू पर है, क्योंकि उसने ही यह मत प्रकट किया था कि दुःखान्त रूपकों का रंगमंच पर प्रयोग किया जाना चाहिये और उस प्रयोग को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जाना चाहिये किन्तु वस्तुतः अभिनय और नेपथ्यसज्जा आदि का इन दुःखान्त रूपकों की महानता से कोई सम्बन्ध नहीं है । आहार्याभिनय अर्थात् नेपथ्य और दृश्य विधान के सम्बन्ध में उसने कहा ; "इसका अलग मावनात्मक आकर्षण होता है किन्तु कुल मिलाकर इसमें बहुत कम कलात्मकता होती है । और वह काव्य-कला से तो बहुत ही कम सम्बद्ध होता है । दुःखान्त रूपकों के शक्ति सामर्थ्य का अनुभव अभिनेताओं और रंगमंच पर उसके प्रयोग के बिना भी किया जाता है । यह बात हमें माननी होगी । इसके अतिरिक्त दृश्य प्रभावों का प्रस्तुतीकरण रंगमञ्चीय शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर होता है, कवि की कला पर नहीं" । उसमें नवम अध्याय में कहा है कि श्रेष्ठ रूपक को अभिनीत किये जाने की कतई आवश्यकता नहीं होती । और वह पढ़ने के साथ ही हम पर प्रभाव डाल सकता है । सचमुच निम्न कोटि के रूपक को ही प्रकाश-जन्य प्रभावों और मञ्चीय सज्जा की आवश्यकता पड़ती है । अरस्तु ने कहा है कि प्लॉट की संरचना इस प्रकार की जानी चाहिये कि उसकी कथावस्तु सुनने वाले को नेत्रों की सहायता के बिना भी घटनाओं से उत्पन्न होने वाले भयजन्य कम्पन और करुणा जन्य द्रवण की अनुभूति हो सके । उसने चौबीसवें अध्याय में फिर कहा है कि महाकाव्य के

1. अभिज्ञान शाकुन्तल की व्याख्या में राघवभट्ट द्वारा उद्धृत । तथा देखिये मेरा लेख "नम्बर ऑफ रसाज" पृष्ठ 153 अड्यार लायब्रेरी सीरीज ।

समान दुःखान्त नाटक बिना अभिनय के भी वास्तविक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। केवल पढ़ने से भी उनकी शक्ति का पता चल जाता है। लोदोविकों केस्टिलवेट्रो (Lodovico castelvetro) नामक इटालियन विद्वान् ने जिसने सन 1570 में आलोचनात्मक व्याख्या के साथ अरस्तू का अनुवाद किया था, अरस्तू से मतभेद प्रकट किया है। उसने कहा है—

1—यह बात सच नहीं है कि दुःखान्त नाटक पढ़े जाने और अभिनीत किये जाने पर समान प्रभाव उत्पन्न करता है।

2—जब दुःखान्त नाटक का अभिनय किया जाता है तो पढ़े-लिखे और अपढ़ दोनों उसे समान रूप से समझते हैं जबकि केवल पढ़ने पर विद्वान् लोग ही उसे समझते और उससे रस ग्रहण कर पाते हैं।

3—नाटक रंगमंच पर प्रयोग किये जाने के लिए होता है। और किसी नाट्य सिद्धांत की मूलमिति इस बात पर निर्भर होनी चाहिये।

जब भी किसी नाटककार ने नाट्यकृति निर्माण किया तो उसकी दृष्टि में यह बात बराबर रही कि दर्शकों के समक्ष इसका अभिनय किया जाएगा। उसने स्वीकार किया कि सुमंस्कृत लोग इसके प्रभाव का अनुभव केवल पढ़कर भी कर सकते हैं। किन्तु अभिनीत किया जाना, नाटक का सामान्य नियम है क्योंकि सारा संसार सुसंस्कृत नहीं है दूसरे लेखक डिडेटॉर्ट (Didetort) ने अपने ग्रन्थ एन्ट्रेटियन्स (Entretiens) में एक कदम आगे बढ़कर कहा कि नाटक के महत्वपूर्ण भाग का निर्माण कवि नहीं, अपितु अभिनेता करता है। ग्रिल पार्जर (Grill Parzer) नामक नाटककार ने इससे भी आगे बढ़कर पाठ्य नाटक पर आक्षेप किया। उसने ऐसी समस्त ललित कलाकृतियों, काव्यों तथा स्वागत भाषणादि के प्रति बेरोक घृणाभाव व्यक्त किया जिनमें उसके अनुसार अभिनय के लिये अवकाश न हो। उसके विचार से रंगमञ्चीय कृति और नाट्यकृति में कोई अन्तर नहीं हो सकता। फिर 19 वीं श. के मध्य में फ्रान्स में 'अनियन्त्रित नाट्य प्रयोग' (theatricalism rampant) के युग का भी प्रारम्भ हुआ। स्पिनग्राम ने नाट्य समीक्षा की इस सीढ़ी को नाटकीय वस्तुवाद (Dramatic materialism) नाम दिया है। केस्टेल वेट्रो (Castel vetro) से लेकर आधुनिक युग तक चली आती हुई मान्यता के विरुद्ध एक स्थायी रूप से स्वीकृत मत, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है स्वयं अरस्तू द्वारा पुरस्कृत था। जो रंगमंच अभिनय, सूत्रधार एवं अभिनेता को छोटा नहीं मानता था। इसमें इन्हें उचित स्थान प्रदान किया गया था और वह स्थान नाट्यकृति के रचनाकार कवि के ठीक बाद का था। अभिनवगुप्त तथा अन्य संस्कृत लेखकों का यही मत था। अपने नाटक और रंगमंच सम्बन्धी ग्रन्थ जो कि इस विषय का विश्वकोष ही है भरत ने कवि और अभिनेता दोनों को उचित स्थान दिया है।¹ भरत के

1 भोज भी अतिरेकवादी नहीं है। यद्यपि वे नाट्यकृति के निर्माता मौलिक कवि को अभिनेता और अभिनय से प्रकृष्ट मानते हैं। शारदातनय शाङ्गदेव, पार्श्वदेव और अन्य नाट्य तथा संगीत ग्रन्थों के अधिकारी लेखकों से पता चलता है कि भोज ने नाट्य शास्त्र से सम्बन्धित संगीत और अभिनय पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा था।

सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने कहा है कि नाटक साहित्य कला का सर्वोत्कृष्ट रूप है। क्योंकि उसी से पूर्ण रसास्वाद सम्भव है। उचित वेषभूषा और शुद्ध काव्यादि युक्त उच्चारणों के साथ अभिनय करने वाले पात्रों के द्वारा ही समस्त विभावादि स्थितियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। अभिनवगुप्त की भाषा में उसे यों कह सकते हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारीभावों का सम प्राधान्य केवल अभिनीत नाटक में ही पाया जाता है और इसलिये रसास्वादोत्कर्ष की सर्वप्रथम तृप्ति अभिनीत नाटक में ही होती है। केस्बिल वेट्रो के इस दावे में भी थोड़ी सचाई है कि यदि कोई चाहता है कि संस्कृत और असंस्कृत सभी नाटक का आनन्द ले सकें तो उसे नाटक का अभिनय करना होगा। वह स्वीकार करता है कि संस्कृत व्यक्ति केवल पढ़कर भी नाटक का आनन्द ले सकता है किन्तु अशिक्षित व्यक्ति उसे तभी समझ सकता है जबकि रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा उसका प्रयोग किया हो अभिनवगुप्त ने भी लगभग ऐसी ही बात कही है। यह सब श्रोताओं की प्रकृति पर निर्भर करता है। जब नाटक रंगमंच पर अभिनीत किया जाता है तो हर व्यक्ति भावावेश का अनुभव करता है। किन्तु उसे पढ़कर केवल अत्यन्त शिक्षित एवं संस्कृत व्यक्ति ही आनन्द उठा सकता है। अभिनवगुप्त का कहना है कि व्यक्ति जितना ही अधिक सहृदय होगा उतना ही अधिक वह काव्यकृति के सौंदर्य से प्रभावित होगा किन्तु इसके लिये काव्य का नियमित अनुशीलन और अभ्यास आवश्यक है। काव्य के अनुशीलन और अभ्यास के द्वारा व्यक्ति का हृदय जितना ही अधिक स्वच्छ और मुकुल-वत् बनता जाएगा उतनी ही सरलता से उसमें रसोत्पत्ति होगी। ऐसे सहृदय केवल पढ़कर भी नाटक का रसास्वाद कर सकते हैं। केवल मुक्तकों के पढ़े जाने पर भी वह शीघ्रता से परिस्थितियों और परिवेश का अनुमान कर लेता है। उसका मस्तिष्क रचना में अवर्णित और मुक्तकों से पूरा रस ग्रहण करता है। किन्तु जिसका हृदय उतना संस्कृत और संवेदन-शील नहीं होता उसे रस ग्रहण के लिये बहुत कुछ भूमिका और व्याख्या की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अल्पशिक्षित एवं कम संस्कृत लोगों को केवल पठन मात्र से समझ में आने के लिये नाटक की व्याख्या की आवश्यकता होती है।

किन्तु संप्राधान्य एवं रसास्वादस्योत्कर्षः । तच्च प्रबन्ध एव भवति, वस्तुतस्तु दश-
रूपक एव । यदाह वामनः—“सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । तद्वि चित्रम् । चित्रपटवद् विशेषसा-
कल्यात् ।” (1-3-30- से 32) । “तद्रूपसमर्पणया तु प्रबन्धे भाषावेशप्रवृत्त्यौचित्यादि-
कल्पनात्, तदुपजीवनेन मुक्तके । तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य, ईदृगत्र
वक्ताऽस्मिन्नवसरे” इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते । तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्या-
दिहेतुबलात् (इति) सहृदयाः, तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कार
कल्पः काव्यार्थः स्फुरति । अतएव तेषां काव्यमेव प्रतीत्युत्पत्तिकृद् अनपेक्षितनाट्यमपि ।

अभिनव भारती अध्याय 6 पृष्ठ 288 गाय सं. 1 ।

सहृदयों के भी हृदय कभी कभी कलुषित और मस्तिष्क विकृष्ट होते हैं। तब उन पर पढ़ने पर तो दूर अभिनीत किये जाने पर भी नाटकों का प्रभाव नहीं पड़ता ।

इसलिये संस्कृत समीक्षक इस बात पर जोर देते हैं कि काव्य और नाटक के आस्वादन के लिये व्यक्ति को सर्वप्रथम सहृदय होना चाहिये और सहृदय सब नहीं होते। दूसरे सहृदय भी मस्तिष्क की विकसित अवस्था में नाटकों का रसास्वादन नहीं कर पाते। अभिनवगुप्त का कहना है कि इस विक्षेप को दूर करने, संवेदनशीलता की अभिवृद्धि और अरसिक को भी सहृदय बनाने के लिये संगीत तथा अन्य रंगमंचीय क्रियाएँ विशेषतः सज्जित प्रेक्षामण्डल का विशिष्ट वातावरण ये सब भूमिकाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। 'निजसुखादिविवशीभाव' रसास्वादन में विघ्न उत्पन्न करता है जिसका प्रतिकार संगीतादिके द्वारा किया जाना आवश्यक होता है।

निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तद्रूपप्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैः आतोद्यगान-विचित्रमण्डपविदग्ध-गणिकादिभिः उपरंजनं समाश्रितं, येन अहृदयोऽपि सहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। अभिनव भारती, गाय स. 1 पृष्ठ 282-83

इसलिये नाटक का प्रभाव अधिक बढ़ा होता है। सहृदय के मन पर उसका प्रभाव अधिक बढ़ी मात्रा पर पड़ता है। यह प्रभाव दर्शकों की संख्या के अनुपात में और अधिक व्यापक होता जाता है। अशिक्षित, शिक्षित एवं मानसिक विक्षेप से पीड़ित शिक्षित सभी अभिनीयमान नाटक से आनन्द ग्रहण में समर्थ होते हैं।

इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि।

अभिनवभारती, गाय सं. 1 पृष्ठ 288।

इसी दृष्टि से नाटक का स्थान साहित्यिक रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट माना गया है। रूपक को दृश्य कहते हैं। और वह दृश्य तो तभी तक रहता है जब तक वह रंगमंच पर खेला जाता है। किन्तु जब वह रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किया जाता तब केवल पढ़कर ही उसका आनन्द प्राप्त किया जा सकता है और तब वह केवल काव्य रह जाता है। भरत ने काव्य शब्द का प्रयोग प्रायः रूपक के मूल पाठ के लिये किया है। नाट्य को भी काव्य कहते हैं किन्तु इसके शब्द का प्रयोग उसकी विशेष रचना शैली, संवादों, अंक विभाजन आदि के सन्दर्भ में किया जाता है या तब जबकि उसे अभिनीत किया जाय। संस्कृत समीक्षकों के पास कवि से पृथक् नाटककार के लिये कोई स्वतन्त्र शब्द नहीं है। उसके निकट रूपक और प्रबन्ध काव्य दोनों ही काव्य हैं। संस्कृत अलंकार—शास्त्र में जिस प्रकार गद्य और पद्य में कोई विरोध नहीं पाया जाता। उसी प्रकार ये सब काव्य हैं इन सब का सारतत्त्व क्या है?

1. अभिनवगुप्त ने सहृदय की परिभाषा इस प्रकार दी है — “वह व्यक्ति जिसका हृदय काव्य के निरन्तराभ्यास से दर्पण के समान पारदर्शी एवं ग्रहणशील बन गया है और इसलिये जो प्रदर्शित या चित्रित भावों के साथ तुरन्त तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ है सहृदय कहलाता है। “येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वणनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवाद भाजः सहृदयाः।

ध्वन्यालोक, पृष्ठ 11 पर उद्धृत पाठ।

रसात्मक वाक्य ही काव्य है। अर्थात् वह कथन जो श्रोता के हृदय में प्रतिक्रिया स्वरूप भावनात्मक समवेदना को जन्म दे सके। यह भावों और संवेगों की अभिव्यक्ति है और यही काव्य का शाश्वत् अपरिवर्तमान अनिवार्य, एवं मूल वैशिष्ट्य है। प्रबन्ध काव्य रूपक और गीतिकाव्य ये सब इसके विभिन्न रूप हैं। रूपक में कवि की अपनी व्याख्या, वर्णन और कथन नहीं रहते और इस कमी की पूर्ति अभिनय कला के संयोग से की जाती है। काव्य-प्रबन्ध या मुक्तक-और रूपक में यही सारभूत अन्तर है।

एक भावनात्मक स्थितियों को वर्णन द्वारा प्रस्तुत करता है तो दूसरा उन्हें अभि-नेताओं द्वारा।

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।¹
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम् ॥

काव्य और रूपक के सम्बन्ध में श्लेगेल (Schlegel)² ने भी यही बात कही है। उसने रूपक को संघर्ष तथा परिवर्तनों से युक्त किन्तु कृतिकार द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं से रहित संवाद कहा है। व्याख्याओं का सर्वथा अभाव इस बात को आवश्यक बना देता है कि समझ में आने के लिये नाटकीय संवादों को पुरुषों, स्त्रियों और दृश्यों की सहायता प्राप्त हो अन्यथा घटनाक्रम को समझाने के लिये व्याख्याकार की आवश्यकता होगी। भट्टतीत ने निर्देश किया है कि रस का आस्वाद विभाव, अनुभाव आदि के उत्कृष्टतया आस्वादन से ही सम्भव है। और उनका आस्वादन निश्चयपूर्वक तभी हो सकता है जब नाटक में वर्णित उन दशाओं और स्थितियों को नेत्रों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाय जो कि रस को उद्दीप्त करती हैं। रूपक प्रत्यक्ष साक्षात्कार प्रस्तुत करता है जो काव्य में उपलब्ध नहीं होता। समर्थ कवि अपनी अभिव्यक्ति से अपने वर्णनात्मक या निरूपणात्मक काव्य को इतना सजीव बना देता है जितना सजीव नेत्रों के सम्मुख प्रयुज्यमान या अभिनीयमान

1. महिमभट्ट द्वारा 5-5 पृष्ठ बीस पर उद्धृत यह बात काव्य या रूपक के मूल उद्देश्य अर्थात् आनन्द की दृष्टि से कही गई है। इनके गौण उद्देश्य अर्थात् विधिनिषेध के रूप में इनकी व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी इनमें कोई अंतर नहीं है। जैसा कि महिम भट्ट ने कहा है कि इनके साधनों या उपायों में ही अन्तर है। रूपक अपेक्षाकृत मन्दबुद्धि लोगों को शिक्षित करने के लिये है काव्य इन्हें प्रभावित नहीं कर पाता। ऊपर कहा ही जा चुका है कि रूपक के अभिनीत होने पर उसे कम शिक्षित लोग भी समझ लेते हैं। फिर संगीत-अभिनय आदि रूपक को शिक्षण का अधिक रुचिकर माध्यम बना देते हैं। जिससे यह मीठी बोली के समान सरलता से गले के नीचे उतर जाता है। सामान्यतः उभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधिनिषेध-विषयव्युत्पत्तिफलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्य-शास्त्ररूपोज्यं उपायमात्रभेद; न फलभेदः। पृष्ठ 20, 5-5, 1.

2. स्पिंगार्न (Spingarn) के 'ड्रैमेटिक क्रिटिसिज्म' निबन्ध के आधार पर।

रूपक होता है। इस प्रकार काव्य और नाट्य के बीच महत्वपूर्ण अन्तर बहुत कम रह जाता है।

“प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।”

“वर्णनोत्कलिकाभोग — प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः॥

उद्यानकान्ताचन्द्राद्याः भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः॥”

(भट्ट तोत — अभिनव भारती, गायक सं. 1, पृष्ठ 292 पर उद्धृत)

इसलिये सहृदय की संस्कृत आत्मा के लिये अभिनीत रूपक तथा काव्य में कोई अन्तर नहीं होता। जब रूपक अभिनीत नहीं होता किन्तु फिर भी उससे अभिनीत के समान आनन्द प्राप्त किया जाता है तो वह केवल काव्य होता है और तब हम उसे मुख्यतः कवि प्रतिभाजन्य कला कह सकते हैं क्योंकि तब उसे सम्पूर्ण सजीवता रूपककार की प्रतिभा से प्राप्त होती है। महान् रूपकों को न अभिनेता और न प्रेक्षागृह की आवश्यकता होती है। उसकी महानता का अनुभव किसी कक्ष के एक कोने में बैठकर केवल पढ़ने से ही प्राप्त किया जा सकता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है “प्रबन्ध काव्य के समान नाटक का भी सच्चा प्रभाव बिना अभिनय के भी पड़ता है। उसकी शक्ति केवल पढ़ने से ही प्रकट होती है। ड्राइडन ने कहा है मेरी आकांक्षा यही है कि लोग मुझे पढ़ें।” उसके मत से यही चरमतर टिकाऊ और भद्रतर उद्देश्य है। सत्रहवीं शताब्दी के अंत के एक बड़े फ्रांसीसी विद्वान् डेसीयर ने स्वीकार किया है कि मञ्चसज्जा आदि को काव्य सौंदर्य के साथ जोड़ देने से न तो वह अधिक अच्छा बन जाता है और न बुरा ही। अगली शताब्दी के मध्य में वाल्टेयर ने ट्रेजेडी ऑफ ओलेम्पी की टिप्पणी में कहा है “काव्य के गुणों का मञ्च-सज्जा से क्या सम्बन्ध? यदि सफलता आँखों से दिखने वाली वस्तुओं पर निर्भर है तो उसके लिये चलचित्र हैं ही। इसी शताब्दी के अन्त में काव्यशास्त्र (Poetics) पर अपनी व्याख्या में पाई (Pye) ने कहा है कि श्रेष्ठ ट्रेजेडियाँ कमरे में पढ़े जाने पर भी हमें जोर से प्रभावित करती हैं। मञ्चीय प्रभावों से स्वतन्त्र उनका अपना प्रभाव होता है। जर्मन लेखक लेसिङ्ग (Lessing) ने नाट्य शास्त्र विषयक अपने ग्रन्थ में ऐसी ही बात कही है। उसने कहा है कि विस्तृत दृश्य विधान या शानदार प्रेक्षागृह और महान् नाट्यकृति के बीच कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। मञ्चीय तन्त्र और दृश्य सज्जा की प्रचुरता पर बहुत अधिक जोर देना उच्छ्रंखल या अनियन्त्रित प्रेक्षागृहवाद है। इसका नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं। वास्तविक नाटकीय मूल्यों का इन सब बातों से क्या लेना-देना? जबकि समीक्षकों के मत में अभिनय कला जैसे महत्वपूर्ण सहायक साधन तक का नाटक की महानता से नाममात्र का ही सम्बन्ध होता है। नाटक के सौंदर्य का अनुभव पढ़ने से भी किया जा सकता है। महान् कवि वह जो ऐसे नाटक का निर्माण करे जिसके प्रभाव का अनुभव पढ़ने से भी किया जा सकता हो। लैम्ब (Lamb) का तो यहाँ तक कहना है कि महान् नाटक को ठीक तरह अभिनीत ही नहीं किया जा सकता। “श्रेष्ठतम रचना शायद ही कभी इतनी अच्छी तरह प्रस्तुत की जाती है जैसे कि वह लिखी गई हो अभिनेता उसे सदा ही सामान्य कोटि तक ला देते हैं। अतः अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा ही

स्थापित किया जा सकता है। महान् नाट्यकृति पूर्णतः नाट्यकार कवि की प्रतिभा की उपज होती है। वास्तविक महान् रूपक अभिनय की अपेक्षा नहीं करता और अभिनय कितना ही महान् क्यों न हो वह निःसत्त्व नाटक को महान् नहीं बना सकता। भट्टतीत के अनुसार कवि की वर्णनाशक्ति जितनी अधिक प्रबल होगी अभिनेताओं की आवश्यकता भी उतनी ही कम होती जायगी क्योंकि रसास्वाद वस्तुओं को भौतिक अथवा मानसिक चक्षुओं के सम्मुख शक्तिसालिता के साथ सजीव रूप से देखने से होता है। और यह काम अभिनय और प्रस्तुतीकरण अथवा कृति के भीतर वर्तमान नाटकीय सामर्थ्य के द्वारा पूरा किया जा सकता है। और यदि कवि की प्रतिभा के परिणाम स्वरूप यह तत्त्व उसमें पहले से ही उपस्थित नहीं है तो अभिनेताओं द्वारा प्रयोग के लाख प्रयत्न भी उसमें प्रत्यक्ष प्राणवत्त्व उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिये सम्पूर्ण नाट्य काव्य है और वह अभिनेताओं की नहीं कवि की कला है। इसीलिये भोज ने कहा है कि वे अभिनेताओं और अभिनय की अपेक्षा कवियों और काव्य तथा नाटक को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं।

“अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहुमन्यामहे अभिनयेभ्यश्च काव्यमेवेति।”



अष्टसु परिच्छेद साहित्य

‘शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्’—भामह, 1-16

1. भूमिका।

2. प्रारम्भ : मान्यता का प्रारम्भिक इतिहास;—भामह, मुकुलप्रतीहारेन्दुराज, राज-
शेखर और क्षेमेन्द्र।

3. भोज की साहित्य-विषयक मान्यता : शृङ्गार-प्रकाश और स. क. आ.।

4. शारदातनय भोज के अनुयायी हैं।

5. साहित्य मीमांसा, साहित्य की भोजानुसारिणी व्याख्या, प्रकारान्तर से साहित्य की
पाँच कोटियाँ।

6. कुन्तक की साहित्य-सम्बन्धी परिभाषा।

7. भोज और कुन्तक की साहित्य-विषयक मान्यता; साम्य और विरोध। भोज के
शब्दार्थगुण सम्मितत्व की पूर्ववर्ती तथा समकालीन साहित्यसे तुलना।

8. उपसंहार : मेनेल (Meynel), विद्याधर, नीलकण्ठ दीक्षित, पाराशर भट्ट और
कालिदास के साहित्य-विषयक विचार। साहित्य शब्द मूलतः व्याकरणशास्त्र से
सम्बन्धित था किन्तु राजशेखर के समय तक आते-आते यह शब्द काव्यशास्त्र से
सम्बन्धित हो गया।

आज तक उपलब्ध ग्रन्थों में काव्यमीमांसा ही प्रथम है जिसमें साहित्य और साहित्य
विद्या शब्द का प्रयोग काव्य और काव्यशास्त्र के अर्थ में मिलता है। राजशेखर के पश्चात्
भी भोज के समय तक इस शब्द का सम्बन्ध किसी न-किसी रूप में व्याकरणशास्त्र से बना
रहा। स्वयं भोज के समय में भी कुन्तक ने उसे व्याकरण के शुष्क क्षेत्र से पृथक् कर काव्य
में शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध की प्रकर्षता के साथ संयुक्त किया। कुछ समय के पश्चात्
सूर्यक या मंखक ने साहित्य मीमांसा नामक ग्रन्थ लिखा। यह प्रथम ग्रन्थ था जिसमें साहित्य
शब्द का उपयोग उसके वर्तमान अर्थ में किया गया आगे चलकर इसका प्रयोग सामान्य-
तया होने लगा जिसका प्रसिद्ध उदाहरण विश्वनाथ का साहित्यदर्पण है। साहित्य शब्द का

1. अड्यार लायब्रेरी सीरीज से प्रकाशित मेरे ‘सम कन्सेप्ट्स आफ अलंकारशास्त्र’ के
‘इवेल्युएशन आफ दी नेम्स आफ अलंकारशास्त्र’ नामक अध्याय के अनुसार।

निष्पत्तिसहित शब्द से हुई है जिसका अर्थ है परस्पर मिले हुए। सहितयोर्भावः साहित्यम्। सम्पूर्ण वाङ्मय का निर्माण परस्पर मिलित शब्द और अर्थ से होता है। यही बात काव्य के विषय में भी कही जा सकती है। काव्य की सर्वप्रथम उपलब्ध परिभाषाओं का सार है—
“शब्द और अर्थ रूप सामग्री।” भामह का कथन है—

‘शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।’ काव्यालङ्कार 1-16।

यह इसका मूल छोर है। और जब तक काव्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाला अभिव्यक्ति विशेष माना जाता रहेगा तब तक किसी के लिए भी इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। इसीलिये रुद्रट ने काव्य की प्रकृति की ओर संकेत करते हुए कहा—ननु शब्दार्थौ काव्यम्। मम्मट और विद्यानाथ जैसे अनेक परवर्ती लेखकों ने भी काव्य को शब्द और अर्थ द्वारा ही परिभाषित किया। और आगे चलकर जब काव्य की आत्मा की स्थापना कर दी गई तो भी शब्द और अर्थ काव्य के शरीर माने जाते रहे। ये दोनों असंपृक्त हैं और साथ-साथ रहते हैं। ये दोनों एक ही हैं। कोई भी वाङ्मय यहाँ तक कि वार्तालाप भी इन दो के बिना सम्भव नहीं है। किन्तु ऐसा लगता है कि काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक दिनों में इस व्याकरणिक काव्यात्मक प्रश्न के सम्बन्ध में एक मत यह भी रहा है कि शब्द और अर्थ इन दो तत्त्वों में से प्रथम अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है। सम्भवतः इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये माघ ने शिशुपालवध में कहा है कि जिस प्रकार सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों का समान सम्मान करता है उसी प्रकार विद्वान् भाग्य और उद्योग दोनों की अपेक्षा करता है।

शब्दार्थौ सत्काविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। 2-86

माघ ने शब्द और अर्थ इन दोनों के समान महत्त्व पर जोर दिया है। इसी विवादास्पद प्रश्न का उल्लेख भामह ने प्रथम अध्याय में किया है और माघ के समान ही उसका समाधान भी किया है।

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥

तदेतदाहुः सौशब्दयं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।

शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु न।

इसके तुरन्त बाद भामह ने कहा कि शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य से ही काव्य का निर्माण होता है—“शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।” केवल शब्द या केवल अर्थ पर जोर देना और एक को आभ्यन्तर तथा दूसरे को बाह्य बताना व्यर्थ है। भामह के उपर्युक्त श्लोकों को उद्धृत कर और इन श्लोकों के ठीक पश्चात् भामह द्वारा “शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्” कहकर व्यक्तमत के पूर्ण महत्त्व को समझाते हुए कुन्तक ने अपने कथन के उपसंहार में कहा—तेन शब्दार्थौ द्वौसम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। वक्रोक्ति जीवित 1-पृष्ठ 10—डे का संस्करण। इससे पहले भी कुन्तक ने कहा है।

1. रुद्रट पर नमिसाधु की व्याख्या 2-1 भी देखिये।

शब्दार्थों काव्यम्, वाचको वाच्यं चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम् । द्वावेकमिति विचित्रै-
बोक्तिः । तेन यत्केषांचिन्मतं कविकौशल-कल्पित-कमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति,
केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्य-चमत्कारकारि काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति ।
तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन् ।

वक्रोक्ति जीवित, 1-पृष्ठ 7

अत्यन्त पाश्चाद्वर्ती लेखक जगन्नाथ ने प्रारम्भ में एक दूसरे प्रकार से शब्द पर
जोर दिया है । यद्यपि अपनी काव्य-परिभाषा में उन्होंने अर्थ को भी समाविष्ट कर लिया
है । उनके मत से रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः
काव्यम्' । पण्डितराज ने अपने कथन की पुष्टि करते हुए कहा है—लोक में शब्द ही काव्य
कहा जाता है अर्थ नहीं । क्योंकि हम कहते हैं — “कि काव्य पढ़ा गया, लेकिन उसका अर्थ
नहीं समझा गया । किन्तु लोक की सामान्य भाषा में बक्ता एक समग्र वस्तु का खण्डों में
काल्पनिक विश्लेषण कर लेता है । इसलिये वास्तविक दृष्टि जैसा कि कुन्तक ने कहा है, यही
है कि शब्द और अर्थ दोनों सहित रहकर ही काव्य का निर्माण करते हैं । विचारकों की एक
शाखा द्वारा, जो कि अर्थ को बाह्य मानती थी, शब्द पर अधिक जोर देना वाक्यपदीय के
व्याकरणिक शब्द-ब्रह्म सिद्धान्त के प्रभाव का परिणाम था । ये लोग अर्थ को शब्द का विवर्त
मानते थे । भोज, भट्ट हरि और उनके वाक्यपदीय के पूर्ण अनुयायी थे । शृ. प्र. के प्रारम्भिक
परिच्छेदों में उन्होंने वाक्यपदीय को उद्धृत किया है । उन्होंने इस बात को समझाने का यत्न
किया है कि ध्वनि को स्वीकार कर लेने से इस मूल बात को मानने में कोई कठिनाई नहीं
होती कि समग्र अर्थ का विवर्त है । उन्होंने ध्वनि की भी शब्द विवर्त के रूप में व्याख्या की
है । (भोज और ध्वनि परिच्छेद के आधार पर) शब्द प्राधान्यवाद के विरुद्ध यह कहा जा
सकता है कि नरुक्तों ने अर्थ को प्रमुख और शब्द को गौण महत्व दिया है । यास्क पर भाष्य
करते हुए दुर्गाचार्य कहते हैं—

अर्थो हि प्रधानं, तद्गुणः शब्दः । (निरुक्त, पृष्ठ 3 वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस संस्करण) ।

इसी विवाद का समाधान करने के लिये भामह कहते हैं 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'
अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य से काव्य की सृष्टि होती है । यह साहित्य का प्रथम
वैशिष्ट्य है ।

प्राचीन लेखक काव्य को परिभाषित करने में शब्द और अर्थ के साहित्य से आगे नहीं
बढ़े । इस समय जो कुछ कहा या लिखा गया वह इसी प्रकार का है और वह काव्य की
परिभाषा नहीं है । यह सीधे सीधे हमें काव्यगत चमत्कार के स्वरूप के बारे में ही जानकारी
देता है ।

प्राचीन लेखकों ने काव्य का वर्णन संस्कृत या प्राकृत में लिखित पाठ्य और अभिनेय
गद्यात्मक और पद्यात्मक भाषा रचना (शब्द और अर्थ) के रूप में काव्य का वर्णन किया
है । किन्तु साथ ही साथ उन्होंने अनुभव किया कि काव्य में शब्द और अर्थ का एक विशेष

सौन्दर्य होता है जो अन्यत्र नहीं मिलता । संक्षेप में कह सकते हैं कि काव्यगत शब्द और अर्थ में कुछ विशेष का निर्माण करना ही काव्य की वास्तविक समस्या है । कुछ लोगों ने इस समस्या पर बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में जिसका परिधान शब्द और अर्थ है, विचार किया । किसी ने अर्थ को आभ्यन्तर कहा और किन्हीं ने इस बात पर जोर दिया कि चाहे वह शब्दार्थ का विशेष हो अथवा आभ्यन्तर कथ्य का, काव्य में सर्वत्र, चाहे शब्दार्थ शरीर में हो, चाहे आत्मा में, चाहे ध्वनि या रस की आत्मा में; कवि की विशिष्ट शैली और कवि व्यापार ही विशेष होता है । काव्य संबन्धी सिद्धान्तों का इस दृष्टि से उपसंहार अलंकारसर्वस्व की समुद्रबन्ध टीका में मिलता है ।

“इह विशिष्टो शब्दार्थो काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यञ्ज्य-
मुखेन वेति त्रयः पक्षाः । आद्योऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि भणिति-वैचि-
त्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम् ।” इति तच्चसु पक्षेषु आद्यः उद्भटादिभिर्ज्ञीकृतः द्वितीयो
वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमः आनन्दवर्णेन ।

(तंजौर संस्कृत सीरीज पृष्ठ 4) ।

विशेष का विश्लेषण हमारा ध्यात सबसे अधिक आकृष्ट करता है और यही संस्कृत अलंकार इतिहास का मुख्य विवेच्य है । यह एक प्रकार का सौन्दर्य है, इस बात को सभी स्वीकार करते हैं । भट्टनायक के प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है—मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि काव्य का आत्म-तत्त्व सौन्दर्य का साक्षात्कार है ।

“यच्चोक्तम्—चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्य आत्मा स्यात्” इति तदङ्गीकुम् एव ।

1. कुन्तक और भट्टनायक दोनों काव्य-व्यापार पर जोर देते हैं किन्तु दोनों में स्पष्ट अन्तर है प्रथम का कवि व्यापार प्राचीन लेखकों से कुछ मेल खाता है और अभिव्यक्ति की ओर से प्रारम्भ होकर भणिति वैचित्र्य पर पहुँचता है किन्तु भट्टनायक का कवि व्यापार रस से संबद्ध है । यह अर्थवादियों से मेल खाता है । किन्तु मेरे “राइटर्स कोटेड इन दी अभिनव भारती” शीर्षक लेख (जर्नल ऑफ रॉयल, मद्रास जिल्द 6 पृष्ठ 213-14) में स्पष्ट किया गया है कि भट्टनायक बहुत कुछ भामह और प्राचीन सम्प्रदाय से भी अभि-
प्रेरित थे । जैसा कि लोचन ने कहा है कि, भोगकृत्त्व से भावकृत्त्व रहता है और अभि-
नवगुप्त का कथन है कि जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है यह भावकृत्त्व कथन की विशेष
रमणीयता अर्थात् शब्दार्थ-गुण और अलंकार-पर निर्भर करता है—भावकृत्त्वमपि समु-
चितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते (लोचन पृष्ठ 70) अभिनवगुप्त ने
अभिनवभारती में भट्टनायक के इसी मत का उल्लेख किया है—अन्ये तु काव्येऽपि गुणा-
लङ्कारसौन्दर्यातिशयकृतं रसवर्णनमाहुः— पृष्ठ 292 नाय. ओरिन्सी. सं. 1 ।

नास्ति खल्वयं विवाद इति ।”¹

रमणीय शब्द और अर्थ काव्य है। रमणीयक के भीतर अलंकार, गुण, रीति, रस, ध्वनि और औचित्य ये सब आ जाते हैं। इन्हीं से काव्य में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध अर्थात् काव्योक्ति में वैशिष्ट्य का निर्माण होता है। सामान्य बातचीत में शब्द और अर्थ सहित अर्थात् संयुक्त होते हैं। बिना साहित्य के कोई भी भाषिक अभिव्यक्ति संभव नहीं है। फिर काव्य के संदर्भ में साहित्य शब्द का क्या अर्थ है ?

साहित्य का अर्थ है काव्यगत शब्द और अर्थ के बीच एक विशिष्ट प्रकार का असामान्य सौन्दर्य युक्त सम्बन्ध।

“ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् एतयोः न कथंचिदपि साहित्यविरहः, सत्यमेतत् किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्।

(कुन्तक-वक्रोक्ति जीवित-पृष्ठ 10)

काव्य अति सुन्दर वाक् होता है और साहित्य अति सुन्दर सम्बन्ध। इस प्रकार प्रारम्भ में साहित्य पद का अर्थ केवल वाच्यवाचक सम्बन्ध था। इसका एक अर्थ था कथन की व्याकरण शुद्धता। और दूसरा अर्थ था तर्कयुक्त अर्थवत्ता। शब्द और अर्थ के काव्यगत साहित्य को लेकर प्रारम्भिक काल के लेखकों ने शब्दों के विविध भेदों, विभिन्न भाषाओं और शब्दों के संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग आदि रूपों और शब्दों से निर्मित वाक्यों (पदसमूहात्मक वाक्य) और वाक्यों से निर्मित प्रबन्धों यथा सर्गबन्ध, नाटकादि के प्रकारों का परीक्षण किया। यह विश्लेषण शब्द से सम्बन्धित है और इसे भामह एवं दण्डी की कृतियों के प्रथम अध्याय में देखा जा सकता है किन्तु इन दोनों लेखकों के ग्रन्थों में काव्यगत अर्थ के विश्लेषण का कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। ध्वन्यालोक और लोचन के साक्ष्य से यह कहा जा सकता है कि काव्यगत अर्थ के एकाधिक प्रकारों की चर्चा करने वाले प्रथम उद्भट ने अपने भामह विवरण में भामह के 1-9 “शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थाः ॥ पर टीका करते हुए शब्द और अभिधान इन दोनों को पृथक् मानकर व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा कि काव्य में शब्दों के प्रधान अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ भी होता है जिसे गौण अर्थ कहते हैं।

“तथापि गुणवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टो (ऽपि न) लक्ष्यत, इति परिकल्प्यैवमुक्तम्।”

(ध्वन्यालोक पृष्ठ 10)

1. यदि इस बात को मान लें तो स्पष्ट ही नायक का मत कुन्तक से तथा विशेष को एक धर्म कहकर परिभाषित करने वाले प्राचीन सम्प्रदायों से बहुत दूर नहीं मालूम पड़ेगा। इन तीनों सम्प्रदायों के मतों के अन्तर का विश्लेषण समुद्रबन्ध ने किया है। इनमें प्रथम अभिव्यक्ति पर टिका हुआ है और तृतीय वर्ण्य वस्तु पर। द्वितीय मत वाचक और काव्य अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों पर जोर देते हुए कवि प्रतिभा से उद्भूत ऐसी रचना को अधिक महत्त्व देता है जो इनमें से प्रत्येक का निर्माण करती है। मेरे “दि इवेलुयेशन ऑफ दि नेम्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र” में सौंदर्य और चारुत्व शीर्षक के आधार पर।

“दर्शयतेति । भट्टोद्भट-वामनादिना । भामहोक्तं शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थाः इत्याभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भट बभाषे “शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारः” मुख्यगुणवृत्तिश्च इति वामनोऽपि “सा सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः इति ॥ लोचन पृष्ठ 10 ।

इस प्रकार उद्भट ने श्रमुख्य अर्थात् गौण अर्थ की चर्चा की तथा वामन ने कुछ जातियों में अन्तर्निहित गौण अर्थ का बोध कराने वाली लक्षणा का प्रतिपादन किया । शीघ्र ही समीक्षकों ने शब्द के तीसरे और सबसे महत्वपूर्ण अर्थ का पता लगा लिया जिसे ध्वन्यमान अर्थ या ध्वनि कहते हैं । शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य को लेकर इस बात का पता लगा लिया कि काव्य में इन दोनों के बीच का सम्बन्ध किसी सौन्दर्य विशेष से सम्पन्न होता है जिसे हम अलंकार और गुण आदि में विश्लेषित कर सकते हैं । यह विवेचन करते समय शब्दार्थ साहित्य के व्याकरणिक पक्ष की उपेक्षा कर दी गई । इस प्रकार आगे चलकर कालान्तर में साहित्य शब्द जिसका अर्थ पहले अनिवार्य रूप से व्याकरणिक और तात्त्विक सम्बन्धों तक सीमित था और यह बात भाषा सम्बन्धी हर प्रकार की उक्तियों पर लागू होती थी, उन बातों का बोध कराने लगा जो काव्य को अन्य प्रकार की उक्तियों से पृथक् करने वाली विशेषताओं का बोध कराती है और शीघ्र ही साहित्य शब्द काव्य के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने लग गया ।

हमें इस बात का पता नहीं है कि साहित्य शब्द ठीक-ठीक कब और कैसे अस्तित्व में आया और काव्य के अर्थ में व्यवहृत होने लगा । एक पुराने श्लोक में साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य के लिये अवश्य हुआ है ।

“साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषणहीनः” किन्तु इस श्लोक का समय निश्चित नहीं है । भामह ने विशेषण के रूप में “सहितौ” शब्द का व्यवहार किया है । इसी से साहित्य शब्द की निष्पत्ति हुई है । सहितयोर्भावः साहित्यम् । मुकुल ने इस शब्द का प्रयोग किया है ।

पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम् ।

यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति ॥ पृष्ठ 21-22

इसकी व्याख्या करते हुए स्वयं उन्होंने दो बार साहित्य शब्द का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में मीमांसा, व्याकरण और तर्क के साथ किया है । मुकुल के शिष्य और उद्भट के व्याख्याकार प्रतीहारन्दुराज ने काव्यालंकार सूत्र पर व्याख्या के अन्तिम श्लोक में अपने गुरु का वर्णन करते हुए इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के अर्थ में किया है । “साहित्यं श्रीमुरारेः” राजशेखर की काव्य मीमांसा में साहित्यविद्या अर्थात् काव्यशास्त्र भी एक विद्या मानी गयी है । “पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः । सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्पन्दः ।” उन्होंने साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए शब्द और अर्थ के ठीक-ठीक सहभाव को साहित्य कहा है । शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या । काव्यमीमांसा के (पृष्ठ 5) तृतीय अधिकरण में काव्य पुरुष और उसके इस लोक में अवतरण का वर्णन करते

हुए उन्होंने साहित्य विद्या को काव्य पुरुष की प्रेयसी का स्थान दिया है।

“तदेतस्य (काव्यपुरुषस्य) वशीकरणं कामपि स्त्रियं सृजामीति विचिन्तयन्ती साहित्यविद्यावधूमुदपादयत्, आदिशाञ्चैतां एष तं रूपा धर्मपतिः पुरः प्रतिष्ठते, तदनुवर्तस्व एनं निवर्तय च”

प्रथम उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय तक ग्रन्थों में यह बात निश्चित हो चुकी थी कि साहित्य शब्द काव्य अथवा काव्यशास्त्र का पर्याय है। अभिनवगुप्त के शिष्य, कवि और समीक्षाकार क्षेमेन्द्र ने साहित्य शब्द का व्यवहार काव्यशास्त्र के अर्थ में जिसका अध्ययन उन्होंने अभिनवगुप्त से किया था, दो बार किया है।

श्रुत्वाऽभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः ।

आचार्यशेखरमणोः विद्याविवृतिकारिणः ।

वृहत्कथामञ्जरी पृष्ठ 260

ग्यारहवीं शताब्दी में पहुँचने पर ही हम देखते हैं कि साहित्य शब्द की कल्पना मानों अपनी भाग्यदशा को प्राप्त हुई है। इसके क्षेत्र का विस्तार होता है और इसे दो बड़े पुरस्कर्ता प्राप्त होते हैं भोज और कुन्तक। जिनमें प्रथम मालव का था और द्वितीय कश्मीर का। ये दोनों प्रथम श्रेणी के आलंकारिकों के रूप में साहित्यिक इतिहास में परिगणित होते हैं। ये भी महत्वपूर्ण बात है कि भोज और कुन्तक दोनों भामह की परिभाषा शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्” से प्रारम्भ करते हैं। इन दोनों साहित्य समीक्षाकारों की तुलनात्मक समीक्षा से पूर्व हम इस बात पर विचार करेंगे कि साहित्य शब्द से भोज का आशय क्या था।

हम कह चुके हैं कि काव्य उक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इसलिये साहित्य निश्चय ही शब्द और अर्थ भाषा के इन दो भागों का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध है। साहित्य का प्रथम अर्थ है सम्पूर्ण वागुक्तिर्था तथा शब्द और अर्थ के बीच सामान्य एवं अनिवार्य व्याकरणिक एवं तर्काश्रित सम्बन्ध। फिर इसका अर्थ है काव्य और शब्द एवं अर्थ के बीच काव्यात्मक सम्बन्ध। साहित्य शब्द से भोज दोनों प्रकार के सम्बन्धों का ग्रहण करते हैं और इसीलिए उन्होंने न केवल काव्य अपितु भाषा का भी विवेचन किया है। नीचे स्तर पर भाषा और उसका सामान वाङ्मय है। उच्च स्तर पर भाषा इससे ऊपर उठकर काव्य का रूप ग्रहण करती है और यहाँ साहित्य शब्द का अर्थ होता है शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध। भोज काव्य की परिभाषा शब्द और अर्थ के साहित्य अथवा ऐक्य के रूप में देते हैं।

“तत् (काव्यं) पुनः शब्दार्थयौः साहित्यमामनन्ति । तद्यथा-शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति ।

शब्द और अर्थ के इस साहित्य का निरूपण श्रु. प्र. में किया गया है। भोज ने एकादश प्रकाश में इस ग्रन्थ को साहित्य प्रकाश कहा है।

“यस्मिन्नशेष-विद्यास्थानार्थविभूतयः प्रकाशन्ते ।

संहृत्य, स साहित्यप्रकाश एतादृशो भवति ॥”

एकादश प्रकाश पृष्ठ 430 श्रु. प्र. जिल्द 2 ।

ग्रन्थ की संपूर्ण योजना इस परिभाषा में निहित है 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' । और शृ. प्र. का प्रासाद साहित्य एवं उसके प्राकारों पर खड़ा है । यह बात पहले ही सप्तम परिच्छेद में कही जा चुकी है । इस प्रकार भोज ने साहित्य की परिभाषा यों दी है :—

यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है और बारह प्रकार का है । इन बारह साहित्यों में आठ सामान्य कहे जा सकते हैं और अन्तिम चार विशेष सम्बन्ध हैं जिन्हें काव्यात्मक साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है—

“किं साहित्यम्? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः । स च द्वादशधा, अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यम्, प्रविभागः, व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वयः, एकार्थीभावः दोषहानम्, गुणोपादानम्, अलंकार योगः, रसावियोगश्चेति ।

सप्तम प्रकाश के, जो साहित्य के विवेचन से प्रारम्भ होता है, प्रारम्भ में इन द्वादश प्रविभागों की पुनः आवृत्ति की है ।

“तत्र अभिधा-विवक्षा-तात्पर्य-प्रविभाग-व्यपेक्षा-सामर्थ्य - अन्वय-एकार्थीभाव-दोषहान गुणोपादान-अलंकारयोग-रसावियोगरूपाः शब्दार्थयोः द्वादशसम्बन्धाः साहित्यमुच्यते ।”

जिल्द 1 पृष्ठ 428 शृ. प्र. ।

शृ. प्र. से भी पहले रचित भोज के स. क. आ. में भोज की इस साहित्य सम्बन्धी मान्यता के संकेत मिलते हैं । इस कृति के पहले श्लोक “ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यम्” इत्यादि में शृ. प्र. के प्रथम से षष्ठ प्रकाश तक की विषय-वस्तु आंशिक रूप से आ जाती है । इसी प्रकार द्वितीय श्लोक में काव्यात्मक साहित्य के अन्तिम चार भेद दोषहान, गुणादान, अलंकार-योग और रसावियोग या रसान्वय अन्तर्भूत हो जाते हैं । उपर्युक्त प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए रत्नेश्वर ने जो कि शृ. प्र. से सुपरिचित थे कहा है—

‘तदयमत्र तात्पर्यसंक्षेप-साहित्यस्वरूपनिरूपणाय किल एष ग्रन्थारम्भः । साहित्यं च शब्दार्थयोः सम्बन्धः । तत्र एव क इत्यपेक्षायामयं विभागो ध्वनिरित्यादि । अर्थस्तु स्तम्भ-कुम्भादिलक्षणः लोके शास्त्रे च प्रसिद्धः सम्बन्धः । कश्चिदनादिः सर्वस्वायमानस्तु सम्बन्धः नान्यत्रेति अस्मिन्नायतते । स चतुर्विधः—दोषहानं, गुणोपादानम्, अलंकारयोगः, रसाभि (वि) योगश्चेति ।’

रत्नेश्वर-स. क. आ. 1-1 पर टीका

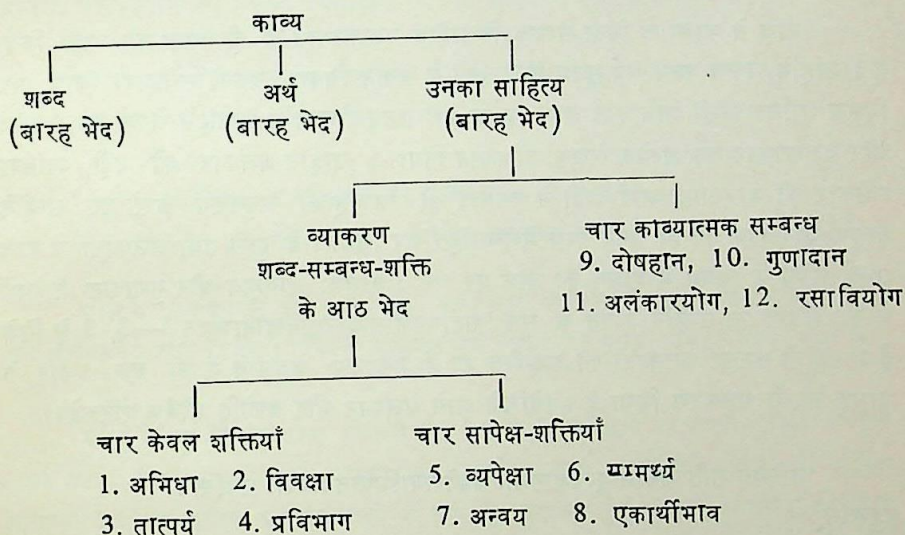
“निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥”

स. क. आ. 1-2

शब्द और अर्थ में शाश्वत बाह्य व्याकरणिक सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है । किन्तु इन विषयों का सम्बन्ध व्याकरण से है । जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है यह सम्बन्ध अपेक्षाकृत

उच्चकोटि का है—“विशिष्टं साहित्यम्” यह कुन्तक का मत है । रत्नेश्वर ने इसे “सर्वस्वा-यमानः सम्बन्धः” कहा है । इस प्रकार साहित्य वस्तुतः काव्यात्मक सम्बन्ध है । यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सुप्रसिद्ध बाह्य साहित्य को छोड़कर केवल काव्यात्मक साहित्य का ही विवेचन आवश्यक है । किन्तु व्याकरण में साहित्य विषयक मान्यता के मूल इतिहास के संकेत के साथ तथा अनेक लेखकों के समान व्याकरणशास्त्र के तीव्र प्रभाव से अनुप्रेरित भोज ने पहले शब्द और अर्थ के सामान्य सम्बन्ध पर विचार किया है और उसके भीतर व्याकरणिक तथा काव्य सम्बन्धी दोनों प्रकार के सम्बन्धों का समावेश किया है । व्याकरण सम्बन्धी आठ सम्बन्धों में इन्होंने चार को केवल शब्द-सम्बन्ध-शक्ति नाम दिया है । और शेष चार को सापेक्ष-शब्द-सम्बन्ध-शक्ति । निम्नलिखित तालिका से यह वर्गीकरण स्पष्ट हो जायगा ।



इनमें प्रथम आठ शब्द-सम्बन्ध-शक्तियाँ कहलाती हैं । अभिधा शक्ति मुख्यतः गौणी और लक्षणा इन वृत्तियों से बनती है । विवक्षा के तीन भेद हैं — काव्यादि व्यङ्ग्य, और अभिनयादि व्यङ्ग्य । तात्पर्य में प्रतीयमान और ध्वनि दोनों सम्मिलित हैं (देखिए भोज और ध्वनि शीर्षक अगला परिच्छेद) । इन आठ शब्द सम्बन्धों का विवेचन सप्तम और अष्टम प्रकाशों में किया गया है । काव्यात्मक सम्बन्ध का प्रारम्भ नवम प्रकाश में होता है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि काव्यशास्त्रीय कृति में केवल काव्य साहित्य का विवेचन ही उपयुक्त है । उसमें सुप्रसिद्ध वाच्यवाचक सम्बन्ध का विवेचन नहीं होना चाहिए । रत्नेश्वर का भी यही मत है । भोज ने व्याकरणिक सम्बन्ध को भी काव्य माना है । और अन्तिम चार सम्बन्धों को उनसे अलग करके उन्हें सम्यक् प्रयोग या प्रयोगार्हता अर्थात् काव्यात्मक वैशिष्ट्य के आधायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है ।

“तत्र अभिधाविविक्षादिभिः निरूपिते शब्दार्थयोः साहित्ये, वाक्यस्य प्रयोगयोग्यता, प्रयोगानर्हता च निश्चीयते । यदाह—‘एकशब्दः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति ।’ दुष्प्रयुक्तः पुनरधर्माय सम्पद्यते । सम्यक् प्रयोगश्च तदा उपपद्यते यदा दोषहानं, गुणोपादानम्, अलंकारयोगः, रसावियोगश्च भवति ।” (पृष्ठ 144 जिल्द 2 शृ. प्र.)

इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य न तो व्याकरणिक एवं काव्यनिष्ठ बारह सम्बन्धों का पूर्णयोग है और न प्रथम आठ सम्बन्धों का पूर्ण योग । अपितु यह केवल दोषहान, गुणादान, अलंकार योग और रसावियोग का चतुर्विध काव्यात्मक संबन्ध मात्र है । कुन्तक और रत्नेश्वर का भी मत इससे मिलता जुलता है । साहित्य भीमांसा में साहित्य को आठ शब्द सम्बन्ध-शक्तियों का पूर्णयोग बतलाया है । हम इस पर अभी विचार करेंगे ।

भोज ने काव्य के बिना सम्यक् विचारित एकात्मभाव के ही अपना मत व्यक्त किया है । उन्होंने अपना कथ्य सब पूर्ववर्ती लेखकों से उधार लिया, सबको स्वीकार किया और विशुद्ध धार्मिक जैसी भावना के साथ शृ. प्र. की समग्र योजना में भामह से लेकर आनन्दवर्धन और दशरूपकार तक प्रत्येक लेखक को स्थान दिया । उन्होंने अलंकार की वही व्याख्या स्वीकार की जो भामह और दण्डी ने बतलाई थी । भामह का अनुसरण करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण काव्यादर्श को ही अपने ग्रन्थ में समाहित कर लिया । वे गुणों तथा अलंकारों के साथ उनके संबंध के विषय में वामन की लीक पर चले । वस्तुतः दोषहान और गुणादान प्रकाशों के यह शीर्षक भी उन्होंने वामन के सूत्र “सदोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्”—2, 3 से लिये हैं । उन्होंने समस्त अलंकारों को वक्रोक्ति का ही एक रूप बतलाने में भी एक प्रकार से भामह का ही अनुकरण किया है । (देखिये आगे अलंकार और वक्रोक्ति शीर्षक परिच्छेद)

‘अस्मिन् सति सर्वालङ्कारजातयोः वक्रोक्त्याभिधानवाच्याः भवन्ति ।

तदुक्तम्—

वक्रत्वमेव काव्यानां पराभूषेति भामहः ।

श्लेषः पुष्पाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तितु श्रियम् ।”

शृ. प्र. जिल्द 2 पृष्ठ 372

भामह और दण्डी दोनों का अनुसरण करते भोज ने रसों और गुणों को भी अलंकार माना है ।

‘एवमवस्थापिते गुणरसतदाभासभावानामलङ्कारत्वे षट्प्रकारोऽलङ्कारसङ्करः सम्भवति ।’

शृ० प्र० जिल्द 2 पृष्ठ 883 ।

(साथ ही देखिये पृष्ठ 612-13 स.क.आ. तथा आगे गुण, अलंकार और रसविषयक परिच्छेद)

इसके आगे भी भोज वामन का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि गुण और अलंकार में गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने इस प्रसंग में वामन के दो श्लोक उद्धृत किये हैं ।

तत्र च गुणोपादानालङ्कारयोगयोः गुणोपादानं गरीयः । अतः तदेव प्रथममुच्यते ।
यदाह— यदि भवति वपुश्च्युतं गुणेभ्यः इत्यादि (वामन) ।

शृ. प्र. जिल्द 2 पृष्ठ 211

गुणयोगस्तयोर्मुख्यः गुणालङ्कारयोगयोः ॥

स. क. आ. 1, 59 पृष्ठ 52

रस सम्प्रदाय के अनुगामी के रूप में भी उनके विचार में साहित्य का अन्तिम पक्ष अर्थात् रसावियोग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । काव्य सौन्दर्य का यह सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है और पूर्ववर्ती तीन उसके पूरक मात्र हैं ।

निर्दोषस्य गुणवतो ऽ लङ्कृतस्य काव्यशरीरस्य कामिनीशरीरस्येव शोभातिशय -
निष्पत्तौ रसावियोग एव प्रकृष्ट उपयोगी । शृ. प्र. जिल्द 2 पृष्ठ 352 ।”

स. क. आ. में स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति सम्पूर्ण काव्य क्षेत्र को समावृत करने वाली इन तीन उक्तियों में उन्होंने रसोक्ति को सर्वोच्च स्थान दिया है ।

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।

सर्वासु ग्राहिणीं तामु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥ स. क. आ. 5-8

भोज ने आनन्दवर्धन की यथासंभव अधिकतम कारिकाओं को स्वीकार किया है । आगे भोज और आनन्दवर्धन शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय पर पृथक् विचार किया गया है ।

संक्षेप में इस योजना द्वारा भोज ने एक ऐसी साहित्य-पद्धति का प्रवर्तन किया जिसमें उनकी काव्य विषयक मान्यता व्याकरणिक, तार्किक एवं साहित्यिक दोषों से रहित (दोषहान) होकर अधिक रुचिकर वाणी के रूप में पुरस्कृत हुई । उसमें श्लेषादि शैलीगत विशेषताओं का ग्रहण किया गया (गुणादान) । जिनकी उपस्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के कारण काव्य में आवश्यक है । अलंकार-योग अर्थात् अलंकारों द्वारा वाणी की सज्जा जो स्वेच्छिक है और सौन्दर्य वृद्धि के लिये की जाती है तथा रसावियोग, जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और जिसका उद्देश्य है काव्य के किसी अंश को रसविरहित न होने देना, ये काव्य के अनिवार्य अंग हैं । उन्होंने काव्य की यह परिभाषा भी बतलायी है—

निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

स. क. आ. 1-2

“एतेन काव्यलक्षणमपि कटाक्षितम् — (उपर्युक्त पर रत्नेश्वर की टीका) । इस प्रकार भोज के शृ. प्र. में यदि कोई काव्य की चिन्तन-पद्धति है तो वह यही साहित्य पद्धति है ।

शारदातनय ने अपने भावप्रकाश (प्रकाश 6 पृष्ठ 145 गाय. ओ. सी. सं.) में साहित्य विषयक भोज के विचारों का अनुसरण किया है। उन्होंने साहित्य के ये बारह भेद स्पष्ट, वर्गीकृत और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किये हैं। बारह संबन्धों का 3-3 भेदों में वर्गीकरण भी, जैसा कि ऊपर बताया है भावप्रकाश में मिलता है। पृष्ठ 145-52 तक भाव-प्रकाश के श्लोक भोज के श्रु. प्र. के सातवें से नवें प्रकाश का सुन्दर छन्दोबद्ध सार है।

वाक्यार्थत्वं (रसस्य) च शब्दार्थसम्बन्धादवगम्यते ।
 सम्बन्धो द्वादशविधः स्मृतः शब्दार्थयोर्बुधैः ॥
 द्वादशधा सम्बन्धः शब्दस्यार्थस्य यस्य साहित्यम् ।
 त्रिस्कन्धः स चतुर्भिस्तनुभिस्स्यात् चतुर्भिश्च ॥
 वृत्तिविवक्षा तात्पर्यप्रविभागाविहोदितौ ।
 ततो व्यपेक्षासामर्थ्यान्वयाश्चैकार्थभावना ॥
 दोषहानं गुणादानं तथालङ्कारयोगिता ।
 रसावियोग इत्येते सम्बन्धाः कथिता बुधैः ॥ [पृष्ठ 145]

देखिये भाव प्रकाश, गाय. ओ. सी. सं., पृष्ठ 42-43 ।

यहाँ दशरूपककारादि ध्वनि-विरोधी तात्पर्यवादियों की शब्दावली का उपयोग करते हुए शारदातनय ने रस को वाक्यार्थ कहा है जिसके ग्रहण में भाव नामक पदार्थ सहायता पहुँचाते हैं। विभाव इत्यादि वाक्यार्थ पर अर्थात् रस पर होते हैं। उनका तात्पर्य है रस और वही वाक्यार्थ है। भोज ने ध्वनि और तात्पर्य दोनों में किसी प्रकार संगति बैठाने हुए पदार्थ और वाक्यार्थ के लिये क्रमशः भाव और रस शब्दों का प्रयोग किया है।

“किन्तु अन्यपरतया ते(विभावादयः) उपादीयमानाः तत्रैव न्यग्भवन्ति । न वाक्यार्थ-प्रतिपत्तौ पदार्थाः पृथक् स्फुरन्तीति ।

श्रु. प्र. षष्ठ प्रकाश ।

भोज के अनुयायी शारदातनय ने कहा है कि यह रस रूप वाक्यार्थ शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा प्राप्त होता है ।

काव्यादिबन्धबद्धस्य रसस्यस्थायिनोऽपि च ।

वाक्यार्थत्वं च शब्दार्थसम्बन्धादवगम्यते ॥

सम्बन्धो द्वादशविधः स्मृतः शब्दार्थयोर्बुधैः । पृ. 145 ॥

रस के वाक्यार्थ को अभिव्यक्त करने में सहायक यह सम्बन्ध ही भोज का द्वादशविध सम्बन्ध है। भोज ने इन सब में से अन्तिम अर्थात् रसावियोग को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है। भोज का कथन है कि रसनिष्पत्ति के लिये ही कवि लोग कान्त आदि गुणों,

ग्राम्यता आदि दोषों के अभाव, कैशिकी वृत्ति जैसे अलंकारों के योग एवं वैदर्भी रीति इत्यादि का संग्रहण करते हैं।

“तयोः वाक्यविषयः (रसावियोगः) अश्लीलामङ्गलवृणान्वयार्थं ग्राम्यमित्यादि दोषहानेन दीप्तरसत्वं कान्तिरित्यादि गुणोपादानेन कैशिकीवैदर्भ्याद्यलङ्कारयोगेन च — इत्यादि ।”

श्रु. प्र., एकादश प्रकाश पृष्ठ 356 ।

इस प्रकार भोज के अनुसार शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य (समुद्रबन्ध) द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के कारण ही सामान्य शब्दार्थ काव्य में परिणत होता है (विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्) और इसे ही साहित्य कहते हैं। इसलिये जहाँ अलङ्कार सम्प्रदाय और गुण-रीति सम्प्रदाय काव्य के इस विशेष को धर्म कहते हैं। कुन्तक की वक्रोक्ति इसे कवि-ध्यापार निरूपित करती है। आनन्दवर्धन उसे व्यङ्ग्यार्थ कह कर सम्बोधित करते हैं वहाँ भोज बिना किसी का खण्डन करते हुए सारे मतों को ठीक तरह व्यवस्थापित करके कहते हैं कि विशेष साहित्य कहलाता है और उसके अन्तर्गत अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, और रस ये सब आ जाते हैं। विशिष्ट प्रकार की शोभा से युक्त शब्द और अर्थ ही काव्य होते हैं। समुद्रबन्ध ने इस शोभा को ही वैशिष्ट्यार्थ विशेष नाम दिया है। काव्य शरीर ही वह केन्द्र बिन्दु है जहाँ से भोज ने काव्य का अनुशीलन प्रस्तुत किया है। उन्होंने शब्दार्थ को ही काव्य माना है और दण्डी की “शरीरं तावद्विष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली” यह परिभाषा स्वीकृत की है। भोज के मत में शरीर अर्थात् शब्दार्थ ही शोभा के कारण हैं — दोषहान, गुणादान, अलंकारयोग और रसावियोग। इनमें से प्रथम अर्थात् दोषहान शोभा का अभावात्मक पक्ष है। शेष तीन के विषय में भोज ने अपने सर्वश्रेष्ठ गुरु दण्डी का पूर्णतः अनुसरण किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में “काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते” को उद्धृत करते हुए कि काव्य के शब्दार्थ का हेतु चाहे कुछ भी हो उसे अलंकार ही कहेंगे। फिर चाहे वह गुण हो, चाहे अलंकार और चाहे रस। रस सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। गुण अलंकार इन तीनों में सबसे कम महत्व का है किन्तु क्रिया की दृष्टि से वे तीनों एक ही हैं क्योंकि वे सब कथन के सौंदर्य या शोभा को बढ़ाते हैं। वे काव्य शोभाकर धर्म हैं। इस प्रकार एक भिन्न मार्ग से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि समुद्रबन्ध के शब्दों में भोज उन लोगों में हैं जिन्होंने काव्य के इस वैशिष्ट्य या धर्म को अलंकार कहा है। भोज भामह और दण्डी से सहमत हैं उनका मत है कि काव्य में कथन की व्यंग्यात्मक शैली जिसे रस भी कह सकते हैं अभिव्यक्ति की शोभा बढ़ाती है। वे स्वीकार करते हैं कि काव्य में ध्वनि का स्थान ही सर्वोच्च है (ध्वनिरेव काव्ये)। इसलिये संक्षेप में कह सकते हैं कि भोज के मत से काव्यगत वैशिष्ट्य का अर्थ है शोभा, जो साहित्य के कारण उत्पन्न होती है और साहित्य अलंकार है जिसका प्रविभाग रस, गुण और अलंकार में किया जा सकता है। इस तरह की संयोजना अथवा विभिन्न तत्त्वों के सामञ्जस्य के द्वारा समन्वय-सिद्धान्त का आश्रय लेकर इस समस्या का समाधान किया जा सकता है।

बहुरूप मिश्र दशरूपक के टीकाकार हैं किन्तु बहुत पश्चाद्वर्ती। उनके ग्रन्थ पर इसी

रूप में विचार किया जा सकता है कि वे भोज के साहित्य सिद्धान्त के अनुयायियों में से हैं। बहुरूप मिश्र ने शारदातनय के आधार पर ही अपनी बात कही है। किन्तु साथ ही सीधे सीधे शृ. प्र. का भी आधार लिया है। दशरूपक की व्याख्या में (इसकी मूलप्रति मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मेन्सुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी में उपलब्ध है) इन्होंने बार बार भोज और उनके शृ. प्र. को उद्धृत किया है।¹ दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश की व्याख्या में इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने साहित्य के सम्बन्ध में भोज के उसी मत को दोहराया है जिसे शारदातनय ने अपने भाव प्रकाश में उद्धृत किया है।

‘ननु रसस्य स्थायिनो वा काव्येन कः सम्बन्धः, येन वाक्यार्थः स्यात् ? उच्यते; साहित्यम् + + + द्वादशविधो हि शब्दार्थयोः सम्बन्धः साहित्यमित्युच्यते। चतुर्भिश्चतुर्भिः सम्बन्धैः त्रीणि पर्वाणि। स च वृत्तिविवक्षातात्पर्यप्रविभाग (व्यपेक्षा) सामर्थ्यान्वयैकार्थी-भावाः (दोषहानगुणादानालङ्कारयोग) रसावियोगा इति’। पृष्ठ 73—मद्रास मेनस्क्रिप्ट R 4188।

बहुरूप ने सोदाहरण परिभाषाओं के साथ प्रत्येक की व्याख्या की है। और उदाहरणात्मक छन्दों में से अधिकांश शृ. प्र. में मिलते हैं। उनके ग्रन्थ का यह भाग भोज द्वारा नौ प्रकाशों में निरूपित साहित्य का स्पष्टतः सार है। शारदातनय और बहुरूप दोनों ने थोड़ा-सा सुधार करके भोज द्वारा वर्णित प्रथम अंग अभिधा को वृत्ति नाम दे दिया है। अभी हम देखेंगे कि साहित्य-मीमांसा ने भी इसे वृत्ति नाम ही दिया है। इससे एक भ्रान्ति दूर हो जाती है क्योंकि अभिधा जिसके अन्तर्गत भोज ने मुख्या, गौणी और लक्षणा तीनों वृत्तियों को सम्मिलित किया है केवल प्रथम अर्थात् मुख्या के लिये ही सामान्यतः प्रयुक्त हुई है।

साहित्य पर साहित्य मीमांसा का मत :

तंजोर पुस्तकालय में साहित्य मीमांसा नामक एक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि विद्यमान है जिसकी एक प्रति मद्रास मेन्सुस्क्रिप्ट लायब्रेरी के लिये प्राप्त कर ली गई है। यह ग्रन्थ कारिकाओं और वृत्ति में निबद्ध है, साथ ही छोटा और अपूर्ण भी है। इस ग्रन्थ की एक प्रति-त्रिवेन्द्रम में क्यूरेटर की लायब्रेरी में भी उपलब्ध है। त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में इसका संख्याक्रम 114 है। और इसे बड़ी ही असावधानी से सम्पादित किया गया है। साहित्य का निम्नलिखित वर्णन तंजोर और मद्रास में उपलब्ध साहित्य-मीमांसा की उपलब्ध प्रतियों पर आधारित है।

साहित्य मीमांसा को देखकर किसी को भी लगेगा (तंजोर संस्कृत सीरीज के सम्पादक को भी लगा है) कि यह ग्रन्थ वही है जिसका उल्लेख अलंकार-सर्वस्व और व्यक्ति-

1. देखिये जे. ओ. आर. मद्रास, अष्टम भाग पृष्ठ 321-334 मेरा लेख बहुरूपश्र कामि दशरूपक व्याख्या।

विवेक की टीका में मिलता है। हमें पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान लोल्ल लक्ष्मीधर के पञ्चम पूर्वज विरश्चि मिश्र द्वारा लिखित साहित्य मीमांसा का पता है। मैसूर संस्करण वाली लक्ष्मीधर की सौन्दर्य लहरी व्याख्या के अन्त में लम्बे मंगल वाक्यों में इसका उल्लेख है। रायचूड़ामणि ने अपने काव्य दर्पण में भी एक साहित्य मीमांसा को उद्धृत किया है। साहित्य मीमांसा की प्रस्तुत प्रति पर न तो रुय्यक का और न मंखक का ही नाम है। स्पष्ट ही यह ग्रन्थ भोज, कुन्तक और क्षेमेन्द्र के बाद का है।¹ अपने नाम के अनुसार यह ग्रन्थ साहित्य शीर्षक के अन्तर्गत विषय की व्यवस्थित रूप से व्याख्या करता है। जहाँ तक हमारी जानकारी है संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में साहित्य की ऐसी व्याख्या पहली बार उपलब्ध होती है। यह ग्रन्थ अपनी योजना का इस प्रकार वर्णन करता है :—

साहित्य और परिष्कार का वर्णन अर्थात् वृत्तियों के आठ (4 + 4) सम्बन्धों यथा विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग और व्यपेक्षा, तथा सामर्थ्य, अन्वय, एवं एकार्थी भाव, इसके बाद परिष्कार का उल्लेख है जिसमें भोज के चार अन्तिम प्रकार दोषहान, गुणादान, अलं-कारयोग, और रसावियोग सम्मिलित हैं। इसके पश्चात् इस ग्रन्थ में कवियों एवं रसिकों की विभिन्न श्रेणियों का विवेचन है किन्तु इस समय हमें साहित्य-विषयक चर्चा पर विचार करना है। लेखक भोज के श्रु. प्र. से केवल परिचित ही नहीं था। उसे भोज की काव्य शास्त्र सम्बन्धी निरूपण-शैली की व्यापक जानकारी थी, उसने श्रु. प्र. के लम्बे अनुच्छेद उद्धृत किये हैं। साहित्य मीमांसा ने भोज की इस मान्यता से सहमति प्रकट की है कि साहित्य शब्द और अर्थ के वृत्ति से लेकर एकार्थी भाव तक के सामान्य संबंधों का साहित्य है। ये सम्बन्ध दो भागों में बँटे हैं जिनमें चार केवल और चार सापेक्ष शब्द-सम्बन्ध-शक्तियाँ हैं। साहित्य मीमांसा और श्रु. प्र. में केवल यही स्पष्ट अन्तर है कि उसने साहित्य को भोज के प्रथम आठ प्रकारों तक सीमित रखा है और दोषहान आदि अन्य भेदों को साहित्य परिष्कार या शब्दार्थ परिष्कार अथवा शब्दार्थ प्रसाधन नाम दिया है। उसने कहा है —

साहित्यं सपरिष्कारं कविना परिकल्पितम् ।
भाषयन् रसिको लोके सुखमत्यन्तमश्नुते ॥
वृत्त्यादीनां समष्टिः स्यात् साहित्यं तत्त्वनि (तत्परि) ष्कृतिः ।
शब्दार्थयोः परिष्कारः कविस्तस्य प्रसाधकः ॥

+ + + +

अष्टौ वृत्त्यादयस्तत्र परिष्कारश्चतुर्विधः ॥

साहित्य मीमांसा, मद्रास पाण्ड. पृष्ठ 1 तंजोर

सी. सं. पृष्ठ 1-2

1. इस ग्रन्थ में इन तीनों लेखकों को उद्धृत किया है। सम्पादक ने यदि इस बात की ओर ध्यान दिया होता तो यह ग्रन्थ अधिक सुष्ठु रूप से सम्पादित हुआ होता।

साहित्य मीमांसा के मत में चार केवल और चार सापेक्ष शब्द-शक्तियों अर्थात् आठ-वृत्यादियों से मिलकर साहित्य बनता है। इसमें पुनः कहा गया है।

‘एषां समष्टिर्या (ष्टा) नां साहित्यमिति निर्णयः’

पृष्ठ 1/5-तंजोर सं. सी. सं. पृष्ठ 2

पुस्तक में संक्षेपतः इन आठों की व्याख्या है जो थोड़े अन्तर के साथ प्रायेण भोज के अनुसार है। भोज के समान ही इसमें भी तात्पर्य के अन्तर्गत ध्वनि का उल्लेख नहीं है। इसमें दशरूपक के समान ही रस को वाक्यार्थ और तात्पर्य माना है।

वर्ततेयत्परः शब्दः स वाक्यार्थ इति स्थितिः ।

एतद् रसस्य प्रस्तावे परस्तान् साधयिष्यते ॥

पृष्ठ 3, तंजोर सं. सी. सं. पृष्ठ 7

रस सम्बन्धी इस तात्पर्य और वाक्यार्थ मूलक मत के आधार पर हमें इस बात का प्रबल सन्देह होता है कि यह साहित्य मीमांसा रय्यक या मंखक द्वारा लिखित मानी जाने वाली कृति से भिन्न है। उक्त दोनों लेखक काश्मीरी थे और आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के दृढ़ अनुयायी। जहाँ तक इस साहित्य-मीमांसा के साहित्य-सम्बन्धी मत का प्रश्न है साहित्य शब्द और अर्थ के उक्त आठ सम्बन्धों की समष्टि से बनता है। लेखक ने प्रथम उनकी चर्चा करके पश्चात् शब्दार्थ के परिष्कार का विश्लेषण किया है।

तत् परिष्कृतिः । शब्दार्थयोः परिष्कारः कविस्तस्य प्रसाधकः ।

मद्रास प्रति. पृष्ठ 1 (तंजोर सं. पृष्ठ 1)

कवि का काम केवल यह परिष्कार है। यह चार प्रकार का है, दोषहान, गुणादान, अलंकारयोग और रसावियोग। ग्रन्थ के मत से यह परिष्कार धीरे 2 आता है।

साहित्यस्य परिष्कारः पारम्पर्येण सिद्ध्यति ।

(तंजोर सं. पृष्ठ 12)

इस प्रकार इस ग्रन्थ के मत से साहित्य काव्य की कला नहीं अपितु भाषा और भाषिक अभिव्यक्ति मात्र है। काव्य के गुण काव्य को प्रभावित नहीं करते और न उसके शब्द या अर्थ को ही प्रभावित करते हैं। अनिवार्य सामान्य सम्बन्ध अर्थात् शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध ही काव्य की विशेषता होती है।

साहित्यं नाम सम्बन्धः सा (सो ऽ) ष्टधेति मनीषिणः ।

शब्दार्थाविष्टमिर्वर्गः सम्बन्ध्यन्ते परस्परम् ॥

वृत्यादयस्ताः कथ्यन्ते शक्तयः पुनरष्टधा ।

वृत्तिस्तदवद् विवक्षा च तात्पर्यं च विभागवत् ॥

चतस्रः केवला ह्येताः शब्दसम्बन्धशक्तयः ।

याकांक्षा यच्च सामर्थ्यमन्वयो यश्च तैमिधः ।

(एकार्थीभवनं चेति) सापेक्षाः शब्दशक्तयः ॥

साहित्य मीमांसा, मद्रास प्रति, पृष्ठ 5 (तंजोर सं. पृष्ठ 12)

वृत्ति भाग में और अधिक स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वृत्त्यादियों के आठ संबन्धों का ही नाम साहित्य है । यहां पर हम साहित्य-विषयक धारणा को मूल व्याकरणिक अर्थ पर परावृत्त होते हुए पाते हैं ।

वृत्ति का मूल पाठ इस प्रकार है—

वृत्तिर्विवक्षादेः साहित्यान्तर्भावं दोषहानगुणालंकाररससम्बन्धस्य वहिर्भावं च सहेतुकमाह ।

पृष्ठ 6 मद्रास प्रति (तंजोर सं. पृष्ठ 12 अशुद्ध छपा हुआ अनुच्छेद)

फिर भी यह भोज का मत नहीं है । स. क. आ. की द्वितीय कारिका की व्याख्या में रत्नेश्वर ने बतलाया है कि साहित्य वस्तुतः काव्य शब्द और अर्थ के काव्यात्मक संबन्ध का नाम है । कुतक ने भी इसे स्वीकार किया है । इसे ही साहित्य-मीमांसा ने परिष्कार कहा है । इसमें दोषहानादि चार गुण होते हैं । भोज ने अपने प्रारम्भिक एवं अपेक्षाकृत लघु ग्रन्थ स. क. आ. में केवल इन्हीं की व्याख्या की है । किन्तु शृ. प्र. में विशालकायता के कारण चर्चा के लिये अधिक अवकाश था । इसलिये इसमें उन्होंने काव्यात्मक संबन्धों के अतिरिक्त व्याकरणिक संबन्धों का भी समावेश किया और इस प्रकार यह बतलाया कि साहित्य का अर्थ केवल चतुर्विध काव्यात्मक संबन्ध ही नहीं है अपितु अष्टविध व्याकरणिक संबन्धों को भी साहित्य कहा जाता है ।

पहले निर्देश किया जा चुका है कि शृ. प्र. के प्रथम प्रकाश के प्रारम्भिक अनुच्छेद में ही भोज ने कहा है कि शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहते हैं । सभी प्रकार की भाषिक अभिव्यक्तियाँ काव्य नहीं होती । इस तरह लगता है कि भोज रत्नेश्वर से सहमत हैं और यह मानते हैं कि केवल दोषहानादि ही साहित्य है । यह भी कहा जा चुका है कि साहित्य मीमांसा का एक तीसरा मत है जिसके अनुसार केवल वृत्त्यादि आठ ही साहित्य का निर्माण करती हैं और दोषहानादि एक दूसरे विभाग का प्रतिनिधित्व करते हैं । यह बात भी नवम प्रकाश के प्रारम्भ में भोज ने कही है ।

“तत्र अभिधाविवक्षादिभिः निरूपिते शब्दार्थयोः साहित्ये, वाक्यस्य प्रयोगयोग्यता प्रयोगानर्हता च निश्चीयते । यदाह—एकः शब्दः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति । दुष्प्रयुक्तः पुनरधमयि सम्पद्यते । सम्यक् प्रयोगश्चास्य तदोपपद्यते यद दोषहानं, गुणोपादानं, अलंकारयोगः रसावियोगश्च भवति ।”

प्र. नवम शृ. प्रकाश जिल्द 2 पृष्ठ 144

साहित्य मीमांसा को उपर्युक्त अनुच्छेद से ही प्रेरणा मिली होगी । भोज ने दोषहानादि चार उपायों से प्राप्त होने वाले जिन प्रयोग, योग्यता प्रयोगानर्हता और सम्यक् प्रयोग शब्दों का उल्लेख किया है वे साहित्य मीमांसा के परिष्कार अथवा भाषा सौष्ठव से, जो कि अष्टविध साहित्य से प्राप्त होता है, बिल्कुल मिलते-जुलते हैं । इसके पश्चात् साहित्य मीमांसा ने साहित्य विषयक एक अन्य मत का विवेचन किया है ।

शब्दार्थयोः सहस्थानं साहित्यमपरे जगुः ।

श्रिया (द्वयोः) परस्परस्वार्थाः (स्पर्धा) युक्तयोः काव्यसंज्ञितम् ॥'

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥

(वक्रोक्ति जीवित पृष्ठ 27) साहित्य मी. पृष्ठ 7 प्रति
(तंजोर सं. पृष्ठ 13)

यह कथन वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक के मत का प्रतिनिधित्व करता है । साहित्य मीमांसा ने वक्रोक्तिजीवित की कारिकाओं को संग्रह एवं व. जी. की वृत्तियों के अन्तर श्लोकों के साथ मिला दिया है । उसने कुन्तक के अन्तर श्लोकों के दो जोड़ों को जोकि वक्रोक्ति जीवित के पृष्ठ 28-29 पर मिलते हैं, उद्धृत किया है । इन दो जोड़ों में से केवल तीन श्लोकों का पृष्ठ 28 पर पाया जाने वाला प्रथम जोड़ साहित्य विषय पर है । और पृष्ठ 29 पर प्राप्त चार श्लोकों का दूसरा जोड़ वक्रोक्ति पर है किन्तु साहित्य मीमांसा ने इन दोनों जोड़ों को एक साथ मिला दिया है । और वक्रोक्ति की व्याख्या को भी साहित्य की व्याख्या मान लिया है । उसने चर्चा का उपसंहार यह कहकर किया है कि यह मत प्रथम प्रतिपादित मत से भिन्न नहीं है । प्रथम प्रतिपादित मत भोज का है जोकि थोड़े से अन्तर के साथ यहाँ व्यक्त किया गया है ।

एतन्मतमपि प्रायो मतमस्माकमश्नुते । अभेदः ख्याप्यते तत्र किन्तु साहित्यकाव्ययोः ॥
एतन्मतमपि अस्मन्मतमेव आप्नोति । इदमन्तरम् । (स) परिष्कारं (रः) साहित्यमिति (त्यमिति) तेषां मतम् । वयं तु शब्दार्थयोः सम्मिलनमात्रयोः मिलनमात्रयुक्ते रूपं साहित्यम् । तत् शास्त्राख्यानादिसाधारणम् । अन्यद् यत् परिष्कारविशिष्टं तत् काव्यमिति मन्यामहे ॥

(तंजोर सं. सी. सं. पृष्ठ 15)

ग्रन्थ में अन्तर भी स्पष्ट कर दिया गया है । कुन्तक के अनुसार साहित्य का अर्थ है काव्य, परिष्कृत शब्दार्थ अथवा केवल परिष्कार । किन्तु साहित्य मीमांसा का कथन है कि साहित्य का अर्थ काव्य नहीं अपितु व्याकरणिक सम्बन्ध है जो काव्यशास्त्र और आख्यान सब में समान रूप से पाया जाता है । समस्त भाषाश्रित अभिव्यक्तियाँ अनपवाद रूप से इन्हीं व्याकरणिक सम्बन्धों (वृत्तादि) को बतलाती हैं । यह परिष्कार ही है जो साहित्य और भाषा

के अस्तित्व में आने के बाद काव्य को जन्म देता है। साहित्य मीमांसा का यह मत हमें एक कदम पीछे ले जाता है क्योंकि साहित्य का यह अर्थ इससे बहुत पहले माना जाता था। यह उसका मूल अर्थ था। स. क. आ. 1, 2 में भोज द्वारा प्रकटित और रत्नेश्वर द्वारा विशदीकृत मत कुन्तक के मत से मेल खाता है। केवल श्रु. प्र. में साहित्य के क्षेत्र अधिक व्यापक मान लिया गया और उसके भीतर शब्द और अर्थ के व्याकरणिक एवं तर्कपूर्ण सम्बन्धों को समाविष्ट कर दिया गया है। यह मत साहित्य की काव्यात्मक मान्यता से एकदम पीछे मालूम होता है। किन्तु साहित्य मीमांसा ने व्याकरणिक और काव्यात्मक सम्बन्धों को अलग करके इसे और भी पीछे ढकेल दिया है क्योंकि उसने शब्दार्थ का साहित्य केवल व्याकरणिक सम्बन्ध को माना है और काव्यात्मक सम्बन्ध को एक नया नाम दिया है परिष्कार। भोज ने काव्य के अतिरिक्त सामान्य वाङ्मय तथा चार काव्यात्मक सम्बन्धों के अतिरिक्त सामान्य एवं अपरिहार्य सम्बन्धों को भी साहित्य माना है। और इसका कारण है उनका व्याकरण प्रेम। उनकी यह व्याकरणप्रियता उनकी विशाल कृति श्रु. प्र. में आदि से अन्त तक स्पष्ट है। यह बात भोज और कुन्तक के साहित्य सम्बन्धी मतों के तुलनात्मक अध्ययन से समझी जा सकती है। इन मतों में बहुत अन्तर है। नवम प्रकाश में साहित्य के काव्य भाग का प्रारम्भ करते हुए भी भोज ने “सौन्दर्य-युक्त कथन” शब्द का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने केवल सम्यक् प्रयोग, प्रयोग योग्यता और प्रयोगानर्हता अर्थात् सुष्ठु और शुद्ध कथन इन शब्दों का ही प्रयोग किया है। यहाँ भोज ने एक पाठ उद्धृत किया है जिसमें अपूर्व की चर्चा है। यह अपूर्व व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध उक्ति से उत्पन्न होता है। यह पाठ व्याकरणशास्त्र में भी उद्धृत किया जाता है—

एकः शब्दः सम्यक् प्रयुक्तः—आदि। इससे एक अन्तर उपस्थित होता है। इस सम्बन्ध में साहित्य मीमांसा का लेखक भी अधिक कल्पना प्रवण एवं काव्यात्मक लगता है। काव्य को वैदिक प्रामाण्य देने के लिये उसने मनोरम उद्धरण दिया है—भद्रैषां लक्ष्मीनिहिताधिवाचि। भवभूति ने उत्तररामचरित (4-18) के एक छन्द में इस उद्धरण को अपना लिया है। साहित्य-मीमांसा का कथन है—

तदेवं काव्यार्थभावनया रसेन (स्य) निरतिशयानन्दलाभस्य कविवचनेषु भद्रया लक्ष्म्या निधानस्य च श्रवणात् कविकाव्ययोः महत्त्वम् रसिकस्य च प्रयोजनम् श्रुतिसिद्धमेवेति सर्वं समञ्जसम्।

पृष्ठ 49-50 मद्रास प्रति (तंजोर सं. पृष्ठ 161)

इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि—

(1) प्रारम्भ में शब्द और अर्थ के बीच शाश्वत एवं प्रसिद्ध सहभावात्मक व्याकरणिक धारणा को साहित्य कहा जाता था। यह इन दोनों के मध्य वृत्त्यादि सामान्य संबंध का बोधक था।

(2) जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत होता है कि भामह ने इस बात पर जोर दिया है कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य बनते हैं, केवल शब्द या अर्थ

नहीं। शब्द और अर्थ के मध्य कौन बड़ा है कौन छोटा, यह प्रश्न नहीं उठा। माघ और कुन्तक इस विषय में स्पष्ट हैं।

(3) तृतीय अवस्था में भोज का मत आता है। इनके अनुसार शब्द और अर्थ के मध्य व्याकरणिक या सामान्य संबंध का क्षेत्र व्यापक होकर काव्यात्मक गुणों का स्पर्श करने के लिए काव्यात्मक संबंध स्थापित करता है। भोज ने अपने विचारों को विशद रूप में स्पष्ट किया है। उन्होंने साहित्य का अर्थ सामान्य कथन और साथ ही काव्यात्मक कथन भी बतलाया है। उन्होंने इसका अर्थ सामान्य शब्दार्थ संबंध दोनों स्वीकार किये हैं।

(4) चतुर्थ स्थिति का प्रतिनिधित्व कुन्तक करते हैं। भोज से बहुत पहले भी साहित्य शब्द काव्य और काव्य शास्त्र का बोधक बन चुका था। राजशेखर की काव्य मीमांसा इसका प्रमाण है। कुन्तक मानते हैं कि साहित्य का प्रमुख अर्थ शब्द का और अर्थ का केवल सामान्य संबंध अर्थात् वाचक-वाच्य संबंध है। किन्तु वे कहते हैं कि काव्य शास्त्र में इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट साहित्य अर्थात् काव्यात्मक संबंध तक सीमित होता है। यहाँ वही वाच्यवाचक संबंध विशिष्ट बन जाता है। इस काल में साहित्य शब्द का अर्थ पदवाच्य प्रमाण से कुल ऊपर उठकर केवल काव्यात्मक मान्यता तक सीमित हो गया था कुन्तक के मत पर व्यापक रूप से विचार आगे किया जायगा।

(5) अगली स्थिति का प्रतिनिधित्व अज्ञात लेखक की कृति साहित्य-मीमांसा करती हैं। यह कुन्तक के मत की विरोधिनी है और इसके तथा कुन्तक के बीच में भोज की स्थिति है जो दोनों से थोड़ा बहुत मेल खाती है। साहित्य मीमांसा का साहित्य प्रथम स्थिति के आस पास का है। इस तरह वह पश्चात्तामी है। इसके मत में साहित्य व्याकरणिक क्षेत्र तक सीमित है। अर्थात् उसका अर्थ है शब्दार्थ शक्ति आदि। काव्य और काव्यात्मक शब्दार्थ संबंध इसके क्षेत्र से बाहर है और वे स्वतन्त्र रूप से परिष्कार के अन्तर्गत आते हैं।

कुन्तक और साहित्य :—

साहित्य मीमांसा के लिये ग्यारहवीं शताब्दी का समय अनुकूल था। ऐसा होता है कि ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में आविष्कारों और शास्त्रीय नियमनों के लिये एक समय निश्चित रहता है जबकि वे प्रकाश में आते हैं और जब एक से अधिक सत्यद्रष्टा विचारक उत्पन्न होते हैं। इसलिये यद्यपि बहुत-सी नवीन स्थापनाएं या आविष्कार किसी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के नाम पर ख्यात हो जाते हैं तथापि वस्तुतः वे या तो उस व्यक्ति के काल में पाये जाते हैं या कुछ पहले अथवा पीछे कुछ अन्य व्यक्तियों द्वारा भी उद्घाटित होते हैं। विचारों के क्षेत्र में भी ऐसा ही होता है। जब भोज साहित्य की परिभाषा दे रहे थे तो कुन्तक भी काश्मीर में यही कर रहे थे। संस्कृत काव्यशास्त्र में कुन्तक का नाम बहुत ऊँचा है। वक्रोक्ति सिद्धान्त के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे अन्य विषय हैं जिनमें उनकी प्रतिभा ने विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। साहित्य भी इनमें से एक है। भोज के समान कुन्तक भी प्राचीनों के अनुयायी हैं उन्होंने प्राचीन मान्यताओं की नई व्याख्या प्रस्तुत की।

भोज के समान कुन्तक भी भामह की काव्य परिभाषा “शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्” से प्रारम्भ करते हैं। और अपने वक्रोक्ति मत में जोड़कर इसे स्वीकार करते हैं। उन्होंने कहा है कि शब्द और अर्थ सहित होकर जब वक्रोक्ति बन्ध में व्यवस्थित हो जाते हैं तो काव्य कहलाते हैं।

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कवि-व्यापार-शालिनि ।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद-कारिणि ।

वक्रोक्ति जीवित पृष्ठ - 1

इस प्रकार शब्द और अर्थ काव्य बन जाते हैं यदि उनमें साहित्य गुण और वक्रोक्ति अलंकार हो। यहाँ कुन्तक ने गुण और अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। किन्तु साहित्य प्रमुख रूप से आवश्यक है। कुन्तक ने ही हमें साहित्य की पूर्ण और महत्वपूर्ण व्याख्या दी है। उन्होंने स्वयं कहा है— यद्यपि लोग बहुत समय से साहित्य शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं तो भी आज तक किसी लेखक ने व्यवस्थित रूप से इसके वैशिष्ट्य पर विचार नहीं किया और न किसी ग्रन्थ में उसका ठीक-ठीक निरूपण ही किया। कुन्तक ने इस कार्य को सम्पन्न करने का स्वयं श्रेय लेकर ठीक ही किया है।

“यदिदं साहित्यं नाम”, तदेतावति निस्सीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्दमात्रेण प्रसिद्धं न पुनरेतस्य कविकर्मकौशलकाष्ठाधिरूढिरमणीयस्य अद्यापि कश्चिदपि विपश्चिद् अयमस्य परमार्थ इति मनाडमात्रमपि विचारपदमवतीर्णः। तदद्य सरस्वती हृदयारविन्दमकरन्दविन्दु संदोहमुन्दराणां सत्कविचसामन्तरामोदमनोहरत्वेन परिस्फुरदेतत् सहृदयपट्चरणगोचरतां नीयते।

साहित्य का शब्दार्थ है—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध। साहित्योर्भावः साहित्यम्। कुन्तक पृष्ठ 27। सहितौ सहितभावेन साहित्येन अवस्थितौ। वही, पृष्ठ 10

यह सम्बन्ध शाश्वत है। कोई भी भाषा इससे विरहित नहीं होती। वाचक और वाच्य के रूप में शब्द और अर्थ के साहित्य के बिना किसी भाषा का अस्तित्व नहीं होता। वाच्य वाचक सम्बन्ध के अन्तर्गत वाचक अर्थात् पद का स्वरूप और उसके प्रकार शब्दों का वाक्य में क्रमानुसारी एवं रचना नियमानुकूल विन्यास तथा विचारों की तर्कसंगतता, आते हैं। इस तरह इसमें पद, वाक्य और प्रमाण तीनों का समावेश है। ये तीनों हर प्रकार के कथन में उपस्थित रहते हैं। यही साहित्य शब्द का मूल अर्थ है।

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।

सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते।

यह मूल साहित्य शब्द जो निसर्गसिद्ध शब्दार्थ-सम्बन्ध है अधिक उच्चकोटि का साहित्य बन जाता है। यदि उसमें कवि प्रतिभा या कवि व्यापार का संयोग हो। काव्य-शास्त्र में इसी उच्चकोटि के साहित्य का विवेचन किया जाता है। शब्द और अर्थ से सम्बद्ध यही चामत्कारिक गुण कवि से संपृष्ट होकर लोक की पद वाक्य और प्रमाण से युक्त सामान्य, उक्ति को काव्य बना देता है। यह न तो शास्त्र में मिलता है और न सामान्य उक्तियों में

यह केवल काव्य में देखा जाता है यह पदवाक्य प्रमाणातिरिक्त होता है। यह सामान्य नहीं अपितु विशिष्ट साहित्य है।

“ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोः न कथंचिदपि साहित्यविरहः सत्यमेतत् किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्।” वक्रोक्ति जीवित—पृष्ठ 10

कुन्तक ने साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि रस की व्यङ्ग्यता में शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध होना साहित्य है अथवा काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने में इनका परस्पर सम्बन्ध होना साहित्य है उन्होंने काव्य के सभी तत्त्वों में इसके प्रयोग को स्वीकार किया है। यह प्रकार का औचित्य है। साहित्य के प्रकारों में शब्दार्थ साहित्य प्रमुख है।

समसर्वगुणी सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।

परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतौ यथा ॥

वक्रोक्ति जीवित पृष्ठ 11

मनोरम उक्ति के साथ मनोरम विचार भी आवश्यक है। यह प्रश्न ही नहीं उठता कि काव्य में बाह्यरूप अर्थात् शब्द अधिक महत्वपूर्ण है या अन्तरङ्ग अर्थात् अर्थ। केवल विचार या संवेग मनोविज्ञान का विषय है। जब तक अभिव्यक्ति को काव्य माना जायगा उसके बाह्य रूप को निश्चय ही महत्त्व मिलता रहेगा। किन्तु उसमें अर्थ की उपस्थिति आवश्यक है और अर्थ समान रूप से चमत्कारिक होना चाहिये। यह कुन्तक का प्रथम प्रकार का साहित्य है। वे शब्द को उसके समग्र रूप में अभिव्यक्ति या कथन के अर्थ में और अर्थ को उसकी समग्रता के साथ तात्पर्य के रूप में ग्रहण करते हैं। उन्होंने कुछ श्लोकों को लेकर उनमें शब्द और अर्थ के साहित्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति की ओर संकेत किया है। अपूर्ण या असमग्र कथन और अर्थविरहित कथन दोनों दूषित हैं। रमणीय अर्थ से विरहित रमणीय उक्ति और उक्ति की रमणीयता से विरहित रमणीय भाव दोनों ही अच्छे नहीं कहे जा सकते। एक पक्ष का दोष दूसरे पक्ष को ही प्रभावित करता है।

‘द्वयोरप्येतयोर्मुदाहरणयोः प्राधान्येन प्रत्येकम् एकतरस्य साहित्यविरहो व्याख्यातः’ परमार्थतः पुनरुभयोरपि एकतरस्य साहित्यविरहः अन्यतरस्यापि पर्यवस्यति। तथा च अर्थः समर्थवाचका-असद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एव अवतिष्ठते। शब्दोऽपि वाक्योपयोगिवाच्यासंभवे वाच्यान्तरवाचकस्सन् वाक्यस्य व्याधिभूतः प्रतिभातीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

व. जी. पृष्ठ 14

अपर्याप्तता के साथ व्यक्त भाव मृतकल्प होता है। और भाव रहित अभिव्यक्ति अथवा उद्दिष्ट से भिन्न अर्थ को व्यक्त करने वाली उक्ति व्याधिभूत होती है। इस प्रकार रूप और वस्तु अथवा उक्ति और भाव के बीच पूर्ण सामञ्जस्य और समन्वय प्रथम साहित्य है। द्वितीय साहित्य होता है उक्ति में एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ और भाव में एक विचार का दूसरे विचार के साथ मेल।

‘सहितावित्यत्रापि’ यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण, वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यम्, परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम् व. जी. पृष्ठ 12

प्रथम साहित्य शब्द और अर्थ अथवा उक्ति और भाव का समग्र रूप में ग्रहण करता है। और द्वितीय साहित्य उक्ति में अनेक भागों यथा पदों पर जोर देता है। उनमें परस्पर साहित्य आवश्यक है। यही बात भाव के घटकों या अर्थ के प्रविभागों पर लागू होती है। इस साहित्य की 16-17 कारिकाओं और उनकी वृत्ति में विशदता के साथ व्याख्या की गई है।

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति ॥ व० जी० पृष्ठ 17

“सहितयोर्भावः साहित्यम् । अनयो शब्दार्थयोः या काप्यलौकिकी चेतन-चमत्कारकारितायाः कारणम् अवस्थितिः, विचित्रैव विन्यासभङ्गी । कीदृशी अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया । यस्यां द्वयोः एकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते, नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वा अस्तीत्यर्थः । ननु च तथाविधं साम्यं द्वयोरुपहृतयोरपि संभवति इत्याह-शोभाशालितां प्रति । शोभा सौन्दर्यमुच्यते । तथा शालते श्लाघ्यते यः स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, तां प्रति सौन्दर्यश्लाघितां प्रतीत्यर्थः । सैव च सहृदयाह्लादकारिता । तस्यां स्पर्धित्वेन यासववस्थितिः परस्परसाम्यसुभगम् अवस्थानं सा साहित्यमुच्यते । तत्र वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम्, वाक्ये काव्यलक्षणस्य परि-समाप्तत्वादिति प्रतिपादितमेव ।” व. जी. पृष्ठ 27 ।

शब्द और अर्थ को इस प्रकार विन्यस्त करना चाहिये कि उनमें से एक में भी विरसता न आने पाये। दोनों समान रूप से शक्तिशाली हों। उन्हें इस प्रकार से रखना करना चाहिये कि वे दोनों मिलकर काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाये। उक्ति और भाव दोनों एक दूसरे की अपेक्षा न दुर्बल हों और न शक्तिशाली अपितु औचित्य लिये हुए और समान शक्तिमन्त हों। सहृदय में रसोद्दीपन और चमत्कृति उत्पन्न करने में दोनों एक दूसरे के सहायक हों। यह प्रथम साहित्य है। इसी प्रकार उक्ति के भीतर प्रत्येक शब्द और अर्थ के भीतर प्रत्येक विचार-खण्ड एक दूसरे से समन्वित हों। कुन्तक ने शब्द और अर्थ की जिस परस्पर स्पर्धा का उल्लेख साहित्य की परिभाषा देते हुए किया है, उसका यही अर्थ है।

उन्होंने शब्द और अर्थ के बीच सहानुभूतिमय सहयोग की तुलना दो व्यक्तियों के मध्य मैत्री से की है। सुहृदाविव सङ्गतौ ।

‘तस्मादेतयोः शब्दार्थयोः यथा स्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयहृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग्

1. कुन्तक ने आगे कहा कि शब्द और अर्थ ऐसे हों जो एक दूसरे की शोभा में वृद्धि करे। वे एक दूसरे की सौन्दर्य वृद्धि के लिये हों-परस्परस्य शोभायै । कालिदास के शब्दों में कह सकते हैं कि वे दोनों समान रूप से इस तरह सुन्दर हों यह निर्णय करना कठिन है कि कौन भूषक है और कौन भूष्य

अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषण-भूष्य-भावः । कु० स०—42

भवति ।" व. जी. 1 पृष्ठ 27 ।

एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ साहित्य, जो कि कुन्तक के द्वितीय साहित्य का एक भाग है दो घनिष्ठ मित्रों के बीच मैत्री के उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है । पाराशरभट्ट (1123-1151 ई. के लगभग) नामक वैष्णव लेखक ने रचना में एक शब्द के साथ साहित्य की चर्चा की है और अपने एक श्लोक में उपमा द्वारा उसे स्पष्ट किया है । उन्होंने अच्छे प्रबन्ध में शब्दों के परस्पर सहायक होने और उन सबके द्वारा मिलकर मुख्य वर्ण्य या कथ्य को सहायता पहुंचाने के मनोरम ढंग की तुलना श्रेष्ठ मातृभाव अर्थात् सौभ्रात्र से की है ।

अनाघ्रातावद्यं बहुगुणपरीणाहि मनसो,
दुहानं सौहार्दं परिचितमिवाथापि गहनम् ।
पदानां सौभ्रात्रादनिमिषनिषेव्यं श्रवणयोः,
त्वमेव श्रीर्मह्यं बहुमुख्य वाणीविलसितम् ॥

श्रीगुणरत्नकोष श्लोक 8

कुन्तक एक तीसरे साहित्य का भी उल्लेख करते हैं जिसका सम्बन्ध सामान्यतः उक्ति के अन्य तत्त्वों यथा रीतिमार्ग, वृत्ति, गुण, अलंकार और वक्रता से है । उक्ति के प्रत्येक भाग अथवा पक्ष को काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि के लिये एक दूसरे का सहायक होना चाहिये ।

किन्तु विशिष्ट मेवेह साहित्यमभिप्रेतम् । कीदृशम् ? वक्रता-विचित्र-गुणालंकार-सम्पदां परस्परस्पर्धाधरोहः ।

वक्रोक्ति जीवित पृष्ठ 10

मागानुगुण्य-सुभगः माधुर्यादिगुणोदयः ।
अलंकरणविन्यासः वक्रतातिशयान्वितः ॥
वृत्त्यौचित्य-मनोहारि रसानां परिपोषणम् ।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥
सा काव्यवस्थितिः तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा ।
पदादिवाक्-परिस्पन्द-सारः साहित्यमुच्यते ॥

वक्रोक्ति जीवित पृष्ठ 28

इस प्रकार कुन्तक की साहित्य-विषयक सामान्य मान्यता है कि वाचक शब्द और वाच्य अर्थ और काव्य के इन दोनों पक्षों में इनके अनेकों घटक चामत्कारिक स्पर्धा के साथ पिरौये जाने चाहिये और उनमें यह परस्पर स्पर्धा काव्यशास्त्रातिशय के लिये होनी चाहिये साहित्य सम्बन्धी मान्यता का मूल काव्य के सौन्दर्य अथवा सहृदयास्वाद पर प्रतिष्ठित होना चाहिये । कुन्तक के अनुसार यही उसकी परीक्षा है । इस संदर्भ में मान्यता का अर्थ है रस की व्यञ्जकता में वाच्य वाचक की क्षमता और औचित्य क्योंकि कुन्तक रस को सर्वोपरि मानते हैं अतः उनकी साहित्य सम्बन्धी मान्यता उन्हीं की औचित्य-सम्बन्धी अन्य मान्यता के सहृदय है जिसका निरूपण वक्रोक्ति जीवित में प्रमुख रूप से हुआ है । प्रयत्नजन्य

शब्दालंकारों के प्रयोग की आलोचना करते हुए कुन्तक ने कहा है कि इसका परिणाम होगा औचित्य की हानि और इसका परिणाम होगा शब्द सौन्दर्य पर अत्याधिक जोर देना जिससे साहित्य को क्षति पहुंचेगी।

व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेः वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षण-साहित्यविरहः पर्यवस्यति- व. जी. 2 पृष्ठ 84

इस प्रकार कुन्तक ने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से अपना साहित्य सम्बन्धी मत प्रस्तुत किया है। उनके मत से साहित्य वाच्य और वाचक के मध्य सामंजस्य है। यह काव्य का महान सिद्धान्त है और इसी की पूर्णता कवि का लक्ष्य होना चाहिये। राजशेखर ने साहित्य की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ का उचित सहभाव ही साहित्य है। शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या-पृष्ठ 5। राजशेखर के मन में उक्त कथन के समय वे ही विचार थे जो कुन्तक ने व्यक्त किये हैं। साहित्य शब्द सहित अर्थात् संयुक्त से बना है। द्वितीय व्याख्या—शब्द और अर्थ का सहभाव—काव्य की उसी महत्ता को कायम रखते हुए दी जा सकती है। यह कुन्तक का औचित्य ही है। सहित शब्द में उपसर्ग है जिसका अर्थ है समम् अर्थात् समान रूप से और दूसरा मुख्य शब्द है धा धातु से बना हुआ कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त जिसका अर्थ है रखा हुआ, जड़ा हुआ। इस तरह सहित शब्द का अर्थ हुआ समान रूप से व्यवस्थित शब्द और अर्थ। 1

कुन्तक के निरूपण को भोज के साहित्य-विषयक निरूपण के साथ मिलाकर पढ़ने पर मनोरंजक बातें सामने आती हैं। प्रथम भोज और कुन्तक दोनों भामह की परिभाषा “शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्” से ही अपनी बात का प्रारम्भ करते हैं। अन्तर यह है कि कुन्तक साहित्य से शब्द और अर्थ के जिस गुण पर जोर देते हैं वह औचित्य से मिलता जुलता है। इसके अतिरिक्त कुन्तक रस-ध्वनि मार्ग, और सबसे अधिक वक्रोक्ति की चर्चा करते हैं। इस प्रकार कुन्तक भामह की काव्य परिभाषा में [शब्द और अर्थ सहित होने पर काव्य कहलाते हैं] वक्रोक्ति पर बहुत जोर देते हैं। जिसमें साहित्य युक्त शब्द और अर्थ का व्यवस्थित होना आवश्यक है—वक्रैकविद्यापारशालिनि। बन्वे व्यवस्थितौ। व. जी. 1.71

इस प्रकार यद्यपि वक्रोक्ति के समस्त प्रकारों में जो कि उक्ति के इसी पक्ष का निर्माण करते हों, साहित्य का होना आवश्यक है। तो भी वे साहित्य में अन्तर्भूत नहीं हैं। अतः कुन्तक की काव्य-परिभाषा में साहित्य और वक्रोक्ति ये दो अलग-अलग पक्ष हैं। भोज की साहित्य विषयक मान्यता अपनी व्यापकता के कारण इससे भिन्न है। भोज ने साहित्य

1. साहित्यदर्पण के निर्णयसागर संस्करण की भूमिका में उनके लेखक ने साहित्य शब्द निष्पत्ति भिन्न प्रकार से सुझाई है। उसका कहना है कि सहभाव का अर्थ है 18 विद्या स्थानों की उपस्थिति जो कि काव्य में होती है। उसने भरत औरत भामह [4-5] का इसी आशय का श्लोक उद्धृत किया है। “न स शब्दो न तद् वाच्यम्” आदि।

का प्रयोग समग्र काव्य के लिये किया है जबकि कुन्तक ने साहित्य शब्द का व्यवहार काव्य के सर्वोच्च गुण के लिये। कुन्तक के अनुसार काव्य में वक्रोक्ति के सहित साहित्य का होना अनिवार्य है। भोज के मत में कवि प्रतिभा के समस्त बहुमुख क्रिया-कलाप यथा दोषहान, शैली और उसके गुण, अलंकार, रसावियोग आदि साहित्य है। इसका आशय यह हुआ कि भोज की परिभाषा में न केवल कुन्तक की सम्पूर्ण वक्रोक्ति अपितु काव्य की हर अन्य वस्तु भी सम्मिलित है। शब्द और अर्थ के अतिरिक्त काव्य में अन्य तत्त्व केवल साहित्य है। और उसमें दूसरी सब बातें आ जाती हैं। दूसरे ढंग से भोज का साहित्य कुन्तक के साहित्य से कहीं अधिक व्यापक है क्योंकि भोज के लिये साहित्य का अर्थ है समग्र वाङ्मय और सब प्रकार के शब्दार्थ-सम्बन्ध जबकि कुन्तक के निकट साहित्य का अर्थ है काव्य और काव्य सम्बन्ध मात्र, यद्यपि वे भी यही स्वीकार करते हैं कि सामान्य साहित्य कहने से शब्दार्थ-सम्बन्ध या वाच्य वाचक सम्बन्ध का ही बोध होता है। कुन्तक ने भाषा और उसके पद वाक्य तथा प्रमाण से सम्बन्धित अनिवार्य शब्दार्थ सम्बन्ध को छोड़कर केवल काव्य सम्बन्ध की ही सबसे अधिक चर्चा की है। जिस प्रकार काव्य रमणीयतर उक्ति है उसी प्रकार साहित्य शब्द और अर्थ का रमणीयतर सम्बन्ध। राजशेखर ने साहित्य काव्य को चारों विद्याओं का सर्वोत्तम सार माना है। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्पन्दः (पृष्ठ 4) वर्डस्वर्थ ने भी कहा है कि काव्य सम्पूर्ण विद्याओं का प्राण और सूक्ष्मतर तत्त्व है। साहित्य के सम्बन्ध में यहां हम थोड़े से परिवर्तन के साथ कह सकते हैं कि साहित्य भाषा का प्राण और उसका सूक्ष्मतर सार है। भोज की साहित्य विषयक मान्यता कुन्तक की साहित्य विषयक मान्यता से पूरी तरह मेल नहीं खाती। यह मनोरंजक बात है कि कुन्तक की साहित्य विषयक मान्यता से लगभग मिलती जुलती बात भोज के सम्मितत्व (गुण) में पायी जाती है। यावदर्थपदत्वं च सम्मितत्वम्। स. क. आ. 1-74। अनावश्यक या प्रतिकथन से बचना और कथ्य के लिए पर्याप्त शब्दों का ही प्रयोग करना सम्मितत्व कहलाता है। भोज ने शब्द सम्मितत्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह शब्द और अर्थ को तुल्य परिमाण में रखने वाला गुण है।

अत्र अर्थस्य पदानां च तुलाविधृतवत् तुल्यत्वेन सम्मितत्वम्

स० क० आ०-पृ० 58

कुन्तक ने साहित्य शब्द का यही अर्थ बतलाया है। उन्होंने इसे अन्यूनानतिरिक्तत्व कहा है। अन्यूनानतिरिक्तत्व का अर्थ है शब्द और अर्थ का एक दूसरे से कम या अधिक न होना। सम्मित शब्द का भी अर्थ है सुयोजित या सामञ्जस्य पूर्ण उक्ति। उपर्युक्त परिभाषा सम्मितत्व नामक शब्द गुण की है। भोज ने यह गुण अर्थ में भी माना है। दोनों में अन्तर यह है कि प्रथम में कवि अर्थ की दृष्टि से शब्दों की पर्याप्त को तौलता है और द्वितीय में उक्ति की दृष्टि से अर्थ की पर्याप्त को। शब्दाथौ यत्र तुल्यो स्तः सम्मितत्वं तदुच्यते। स० क० आ० 1-86

इसकी व्याख्या करते हुए रत्नेश्वर ने कहा है — अर्थस्थ विभज्य तुलावृतवत् प्रतिनिवेशः

सम्मितत्वमिति । अर्थमुद्दिश्य शब्दतुलनम् काव्यभावबीजं शब्दगुणः । शब्दमुद्दिश्य त्वर्थतुलनम् अर्थगुणश्च ।” स० क० आ० — पृष्ठ 71

शब्द और अर्थ के इस तुलन में संक्षिप्तता, सामर्थ्य, स्पष्टता और ऐसे अन्य गुण समाविष्ट हो जाते हैं । किन्तु इनके विस्तार में वृथापल्लव, अपुष्टार्थ, नेयार्थ और महिमभट्ट के अवकर जैसे दोष प्रविष्ट हो जाते हैं । जब हम बहुत अधिक शब्दों का प्रयोग करते हैं और जब अपर्याप्त शब्दों का प्रयोग होता है तो नेयार्थ दांप होता है जिससे प्रसाद और अर्थव्यक्ति नष्ट हो जाते हैं । संभवतः यह काव्योक्ति के सर्वोत्कृष्ट गुण और काव्य कला की पूर्णता का सर्वोच्च शिखर है । कुन्तक ने इसे “कविकर्मकांशलकाष्ठाधिरुद्धि” (व. जी. पृष्ठ 26) कहा है । समीक्षकों ने वर्णनात्मक और आलंकारिक ढंग से इस गुण को अलग अलग नाम दिये हैं । कुन्तक इसे साहित्य अन्यूनानतिरिक्तत्व या शब्दार्थ की परस्परस्पर्धा परस्पर अनुरक्त मित्रों से की है । पराशर ने इन्हें सौभ्रात्रयुक्त बन्धु कहा है । भोज ने इसे शब्दार्थ-सम्मितत्व नाम दिया है और कहा है कि कविकर्म में शब्द और अर्थ तुलाधृत के समान बराबर बराबर होते हैं । और अधिक अच्छी उपमा कालिदास ने दी है । उन्होंने रघुवंश के प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक में पुरुष और नारी के प्रतीक पार्वती और परमेश्वर का उपमान शब्द और अर्थ माना है । उन्होंने शब्द और अर्थ को इस प्रकार अभिन्न स्वीकार किया जैसे पार्वती और परमेश्वर हैं । उनका साहित्य स्मृतियों द्वारा निरूपित पति और पति का साहित्य है । दोनों के बीच किसी छोटे बड़े होने का प्रश्न ही नहीं उठता । जैसे विवाह पवित्र कर्म है और पुरुष एवं नारी इस पवित्र बन्धन में इसलिये बंधते हैं कि वे साथ मिलकर धर्माचरण कर सकें । धर्म के सम्मुख वे दोनों समान रूप से अवनत होते हैं । यहाँ काव्य सौन्दर्य या रस उपमान धर्म को माना जा सकता है तथा शब्द और अर्थ का उपमान दम्पती को । संभवतः महाकवि कालिदास ने उपर्युक्त छन्द वागर्थ-संबन्ध अथवा सुप्रसिद्ध एवं शाश्वत् शब्दार्थ —संबन्ध बतलाने के लिये नहीं लिखा । उनका आशय इस संबन्ध से भी रहा होगा किन्तु यहाँ वे जोर देकर विशिष्ट साहित्य या विशिष्ट संबन्ध की ओर संकेत करते हैं । इसी प्रकार यह कहने में महाकवि का कोई सारस्य या वैशिष्ट्य नहीं है कि वागर्थ प्रतिपत्ति द्वारा कवि ने शब्दों और अर्थों अर्थात् शब्दकोष में नैपुण्य प्राप्त करने की प्रार्थना की है । महामहोपाध्याय प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री इस समास की व्याख्या करते हुए प्रायः कहते हैं— “वागर्थयोः परस्परप्रतिपत्तिः” अर्थात् शब्द और अर्थ में परस्पर सहयोग या साहित्य इसी सहयोग को कुन्तक ने शब्दार्थ स्पर्धा कहा है । वागर्थ के इसी महान् गुण की प्राप्ति के लिये कालिदास ने प्रार्थना की है । उन्होंने इस वागर्थ की उपमा दिव्य दम्पती अर्धनारीश्वर से की है जो कि शब्द और अर्थ के समान परम सहानुभूति एवं समन्वय के साथ परस्पर गुंथे हुए अथवा सम्पृक्त हैं । विल्फ्रेड मेनेल (Wiltred Meynell) ने फ्रांसिस थॉमसन (Francs Thompson) के काव्य संग्रह से सम्बद्ध उनकी जीवन वृत्तीय टिप्पणी में साहित्य के विषय में ऐसे ही दाम्पत्यरूपक का प्रयोग किया है । उन्होंने थॉमसन की सिस्टर सांग्स शीर्षक विशिष्ट कविता के विषय में कहा है कि इस कविता को जोर

जोर से पढ़ा जाना चाहिये क्योंकि इस कविता में ध्वनि और अर्थ अपना दिव्य परिणय सम्पन्न करते हैं। कालिदास द्वारा काव्य की उपमा अर्धनारीश्वर के साथ दिये जाने में भी यही भाव निहित है विद्याघर ने भी काव्यगत शब्द और अर्थ का वर्णन इसी रूपक द्वारा किया है।

“बन्धोऽर्धनारीश्वर श्लाघालङ्घनजाङ्घिकः”— एकावली। देवी पार्वती वाक् का शब्द हैं और परमेश्वर अर्थ अर्धनारीश्वर के रूप में उनका मिलन काव्य के उच्चतम आदर्श की ओर संकेत करता है। जिसे साहित्य और सम्मतत्वादि नामों से उपर्युक्त लेखकों ने व्यवहृत किया है। नीलकण्ठ दीक्षित ने इस बात को निम्न श्लोक द्वारा प्रतिपादित किया।

सर्वं वपुः शब्दमयं पुरारेरर्थात्मकं दक्षिणमामनन्ति ।

अङ्गं जगन्मङ्गलमैश्वरं तद् अर्हन्ति काव्यं कथमल्पपुण्याः ॥

शिवलीलारण्व 1-15

और अपना अमर काव्य लिखते समय कालिदास के सन्मुख भी यही बात थी—

वागर्थीविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये

जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरी ।²

1. “अर्थः शम्भुः शिवा वाणी इति लिङ्गपुराणम्” विश्वेश्वर द्वारा कवीन्द्रकर्णाभरण काव्यमाला गुच्छक 8 पृष्ठ 52 पर उद्धृत। “रुद्रोऽर्थोऽक्षरस्सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः।” रुद्रहृदयोपनिषद् का 1925 का अङ्क्यार सं, पृष्ठ 151 यह बात अन्य अनेक ग्रन्थों में भी मिलती है।
2. कालिदास इस विचार पर मोहित थे। कुमारसंभव 6-79 में उन्होंने कहा तमर्थमिव भारत्या सुतयायोक्तुमर्हसि। प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री को इसकी व्याख्या शब्द पार्वती और अर्थ परमेश्वर करते हुए के परस्पर योग द्वारा रसस्कन्द के जन्म का निरूपण करने में बड़ा आनन्द आता है। रस के अवाच्य होने के कारण कुमारसंभव में भी इस सन्दर्भ शब्द और अर्थ का परिणय कराकर रसस्कन्द का जन्म अनुमान के लिये छोड़ दिया है।



‘उक्ति विशेषः काव्यम्’—राजशेखर, कपूरमञ्जरी-प्रस्तावना ।

अलंकार संयोजना से अत्यन्त निकट रूप से सम्बन्धित भोज की एक अन्य संयोजना है जिसे हम उक्ति संयोजना कह सकते हैं । भोज के श्रृ० प्र० में साहित्य और अलंकार-पद्धति के अतिरिक्त उक्ति शैली भी है । उक्ति सम्बन्धों मान्यता का इतिहास बड़ा मनोरंजक है । उक्ति को हम ऐसी काव्यात्मक अभिव्यक्ति या काव्यवाणी कह सकते हैं जो दैनन्दिन जीवन की सामान्य अभिव्यक्ति अथवा वैज्ञानिक प्रयोगशाला या विद्वत्तापूर्ण विद्या या दार्शनिक पाठ्य ग्रन्थों की भाषा से सर्वथा भिन्न होती है । जैसा कि हम दोष प्रकरण में कहते हैं काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द न तो ग्राम्य, लोकमात्र प्रयुक्त सामान्य भद्दे और दैनन्दिन जीवन के मामूली नीरस शब्द होने चाहिये और न अप्रतीत, शास्त्रमात्र प्रयुक्त तान्त्रिक और पाण्डित्य से बोझिल ही । इसी तरह हम काव्यवाणी के विषय में भी कुल मिलाकर कह सकते हैं कि वह ऐसे स्थान में स्थित होती है जहाँ पहुँचना ग्राम्य और पामर अथवा केवल पण्डित और आलंकारिक के लिये संभव नहीं होता । यह वाणी का सार, सौन्दर्य सज्जित भाषा और उच्चकोटिक सम्प्रेषण का माध्यम है । ऐसी काव्यवाणी में वह विशिष्ट सौंदर्य होता है जो सामान्य बातचीत या लेखन या वैज्ञानिक ग्रन्थों अथवा केवल ऐतिहासिक अभिलेखों में नहीं पाया जाता । यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है कि यह सौन्दर्य और शक्ति कथन की प्रणाली पर आश्रित है क्योंकि काव्यात्मक अभिव्यक्ति या काव्य रूप कथ्य पर नहीं अपितु कथन के प्रकार या ढंग पर निर्भर करता है । सामान्य बातचीत में कथ्य पर जोर दिया जाता है । वहाँ हमें कथन शैली की चिन्ता नहीं होती । किसी कहानी का कहने या इतिवृत्त के वर्णन अथवा केवल वैज्ञानिक या दर्शनिक तथ्यों के अभिलेखन में भी ऐसा ही होता है । विधि सम्बन्धी मामलों पर भी यही बात लागू होती है । हाँ, वहाँ इस बात पर जोर नहीं दिया जाता कि बात कितने सुन्दर ढंग से कही गई है । संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास¹ में इस विषयक विवेचन करने और एक ओर काव्य तथा दूसरी ओर शास्त्र और आख्यान (वेद और कथा साहित्य) के मध्य अन्तर को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय महान् समीक्षक भट्टनायक को प्राप्त है ।

1. मैंने समस्या के इस पक्ष की जिसे एबर क्रॉम्बी (Aber Crombie) जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने काव्यात्मक एवं अन्य अभिव्यक्तियों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये प्रतिपादित किया है, चर्चा पाश्चात्य साहित्य समीक्षा एवं संस्कृत अलंकार शास्त्र का स्वतंत्र अध्ययन प्रस्तुत करते समय की है । यहाँ मैं केवल इस विषय पर संस्कृत लेखकों के आदर्शों की ही चर्चा करूँगा ।

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः ।
 अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्तयाख्यानमेतयोः ।
 द्वयोर्गुणत्वे व्यापार-प्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ॥ भट्टनायक ।

शास्त्रे शब्द प्रधानत्वमितिहासेषु (इतिहासेऽर्थं) निष्ठता ।
 अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ।

अग्निपुराण 337-2-3

वेद शब्द प्रधान हैं और पुराण अर्थप्रधान । काव्य में शब्द और अर्थ दोनों अप्रधान अर्थात् गौण होते हैं । उसमें व्यापार ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । भट्टनायक के अनुसार व्यापार कवि की विशिष्ट सुन्दर उक्ति को कहते हैं जिसमें गुण और अलंकार का समावेश रहता है । यह सर्वजनीन हो सकता है और पाठक में आनंद की उत्पत्ति करता है । यह व्यापार अभिधा, भावकात्व और भोजकात्व के रूप में मिलता है ।

‘भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कार-परिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते ।’

लोचन-पृष्ठ 70

काव्योक्ति की इस विशिष्ट शोभा अथवा रूप सौन्दर्य को हम विशिष्ट काव्यात्मक अभिधा व्यापार कह सकते हैं । यहाँ अभिधा शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है । नाट्यशास्त्र में वर्णित लक्षणों के प्रकरण पर टीका करते हुए अभिनव गुप्त ने अपनी अभिनव भारती में भट्टनायक की उपयुक्त पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और उनके भीतर निहित विचारों की भामह द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति से समानता बतलाई है । यहाँ अभिनवगुप्त ने भामह को उद्धृत किया है । सैषा सर्वैववक्रोक्तिः आदि । भट्टनायक ने वेद से काव्य का अन्तर स्पष्ट किया है । वेद के शब्द अपरिवर्तनीय हैं । आख्यान और काव्य में भी अन्तर है । आख्यान अथवा अर्धैतिहासिक वर्णन में केवल कथा अथवा घटनाओं का महत्त्व होता है किन्तु काव्य में यह देखा जाता है कि कैसे सुन्दर ढंग से घटना या कथा का वर्णन किया गया है और कैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है । मुख्य बात है कथन की मनोरम शैली । केवल उक्ति के रूप में ही वह हमें रुचिकर होता है । अन्य सब प्रकार की उक्तियों में जिनका सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन अथवा वैज्ञानिक साहित्यादि से होता है हम केवल अर्थ में रुचि रखते हैं । उन सब में अर्थ ही सार तत्त्व होता है । किन्तु काव्य में तत्त्व भूत होती है वह शैली जिसमें कवि वे बातें कहता है । इसी बात को थोड़े स्थूल रूप में राजशेखर की काव्य मीमांसा पर अपना मत प्रकट करते हुए उद्भट ने निम्न लिखित पङ्क्तियों में कहा है—

“अस्तु नाम निस्सीमा अर्थसार्थः । किन्तु द्विरूप एवासी विचारितसुस्थः अविचारित रमणीयश्च । “तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि” इत्योद्भटाः ।¹
 काव्यमीमांसा

पृष्ठ 44 ।

1. क्या ये उद्धरण भामह विवरण 5-33 का तो नहीं है ?
 तत्र श्लोकाश्रयं काव्यमागमाः तत्त्वदर्शिनः ?

भङ्गिभणिति की अपेक्षा वस्तु स्वरूप कम महत्त्वपूर्ण है। भङ्गिभणिति काव्यात्मक उक्ति की सुन्दर शैली को कहते हैं। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी ने कहा है—

वस्तुस्वभावो ऽत्र कवेरतन्त्रः गुणागुणावुक्ति-वशेन काव्ये ।

स्तुवन्निवध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दंस्तु दोषाकरमाहः धूर्तः ॥

तथा—“विदग्धभणिति—भङ्गि-निवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियत-स्वभावम्” इति अवन्तिसुन्दरी । काव्य मीमांसा पृष्ठ 46 । शिवलीलार्णव महाकाव्य के प्रथम सर्ग में कवि नीलकण्ठ दीक्षित ने भी इसी बात पर जोर दिया ।

यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः ।

तैरेव विन्यासविशेषमव्ययैः सम्मोहयन्ते कववयो जगन्ति ॥ 1-13

यह विन्यास विशेष ही भट्टनायक के व्यापार का रहस्य है । इसी को भामह वक्रोक्ति और राजशेखर उक्ति कहते हैं ।

मेरे विचार से उक्ति शब्द को महत्त्व प्रदान करने का श्रेय राजशेखर को मिलना चाहिये । भामह द्वारा वर्णित अलंकारों में हमें समासोक्ति, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति और सर्वोपरि वक्रोक्ति नाम मिलते हैं । इन सबमें विशेष्यभूत उक्ति शब्द के भिन्न भिन्न विशेषण मिलते हैं । यहीं पर उक्ति विषयक मान्यता का जन्म हुआ है । निर्विशेषण उक्ति शब्द का मूल अर्थ था काव्यात्मक कथन । सम्पूर्ण काव्यात्मक कथनों के लिये उक्ति शब्द के साथ वक्र विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता उस समय नहीं जान पड़ी । काव्य पुरुष का वर्णन करते हुए राजशेखर ने कहा है कि उसका भाषण उक्ति से समृद्ध है—
—“उक्तिचणं ते वचः ।” काव्य मीमांसा, पृष्ठ 6 । भामह की दृष्टि में सभी अलंकार वक्रोक्ति है—किन्तु विशुद्ध काव्यात्मक वचन का बोध केवल उक्ति शब्द द्वारा होता है । इस समय हमें काव्य मीमांसा के रूप में केवल उसका प्रथम अध्याय कवि रहस्य ही उपलब्ध है । स्वयं राजशेखर के अनुसार इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में उक्ति का विवेचन था । औक्तिक-मुक्तिगर्भः । खेद की बात है कि राजशेखर के ग्रन्थ का बड़ा भाग नष्ट हो गया है । इस अध्याय में राजशेखर ने अवश्य ही विभिन्न उक्तियों का, जिनके द्वारा कवि अपनी बात कहता है, वर्गीकरण किया होगा । पृष्ठ 27 (1-5) पर कवियों को वर्गीकृत करते हुए उन्होंने कहा है कि उक्ति कवियों का भी एक वर्ग होता है और पृष्ठ 28 पर उन्होंने इन उक्ति कवियों को निम्न प्रकार से उदाहृत किया है ।

उक्ति कवि :—

उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं स्तनतटपरिणाहो दोलतालेह्यसीमा ।

स्फुरति च वदनेन्दुः दृक्-प्रणाली-निपेयः तदिह सुहृदि कस्याः केलयो यौवनस्य

यह समाधिगुण से मिश्रित विशिष्ट शोभापूर्ण कथन से युक्त अत्यन्त सजीव वर्णन है । सीमित

अर्थ में इसे उक्ति कहते हैं। सीमित अर्थ में ही उक्ति का एक और उदाहरण राजशेखर में मिलता है जिसे उन्होंने शास्त्रोक्ति कहा है—“सैयं शास्त्रोक्तिः” (पृष्ठ 3) इसका उदाहरण है “द्वा सुपर्णा सयुजा” आदि छंद। एक अन्य संदर्भ में सीमित अर्थ में भी उक्ति की चर्चा राजशेखर ने की है।

“या शब्दग्रामं, अर्थसार्थम्, अलङ्कारतन्त्रम्, उक्तिमार्गम्, अन्यदपि ततथाविधमधि-
हृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।” काव्यमीमांसा पृष्ठ 11

सीमित अर्थ से बाहर निकलकर उक्ति की व्यापक मान्यता का विकास वक्रोक्ति मान्यता सम्बन्धी के रूप में भी हुआ। सामान्य अर्थ में उक्ति शब्द का प्रयोग अन्य सब प्रकार के निरूपणों या कथनों से भिन्न केवल विशिष्ट काव्यात्मक सौन्दर्यमय कथन के रूप में स्वयं राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना में किया है।

अर्थविशेषास्त एव शब्दास्त एवं परिणमन्तोऽपि ।

उक्ति विशेषः काव्यं भाषा या भवतु सा भवतु ॥

केवल अर्थ या केवल शब्द किसी काम का नहीं। किन्तु शब्दों द्वारा विचार या अर्थ को अभिव्यक्त करने की शैली अर्थात् उक्ति विशेष ही वह वस्तु है जो काव्य का निर्माण करती है। प्रस्तुत छन्द तथा नीलकण्ठ दीक्षित का पूर्वोद्धृत श्लोक दोनों पूर्णतया मेल खाते हैं। अभिनव भारती में भरत के लक्षण सम्बन्धी मत को विशदीकृत करते हुए अभिनव गुप्त ने भामह की वक्रोक्ति और भट्टनायक के व्यापार और इन उपर्युक्त दोनों मतों का बन्ध गुम्फ, भणिति और अन्ततः लक्षण-सम्बन्धी मान्यताओं के साथ साम्य बतलाया है। (देखिये, मेरे कानसेप्टस आफ अलंकार शास्त्र में लक्षण विषयक अध्याय पृष्ठ 17-18) विशिष्ट काव्यात्मक अभिव्यक्ति या कथन सम्बन्धी इन मतों के साथ उक्ति विषयक मत भी मेल खाता है। भोज ने गुण और अलंकार इन दोनों अर्थों में उक्ति शब्द का प्रयोग किया है। उक्ति गुण के दो भेद हैं एक शब्द सम्बन्धी दूसरा अर्थ सम्बन्धी। भोज ने शब्दगुणोक्ति की परिभाषा विशिष्ट भणिति अथवा कथन की अभिराम शैली के रूप में दी है।

विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्तितां कवयो विदुः। स. क. आ. 1 पृष्ठ 7

इस छंद की वृत्ति तथा शब्दोक्ति का उदाहरण देते हुए इसकी व्याख्या में भोज ने उक्ति भङ्गी पद का प्रयोग किया है। एक व्यक्ति दूसरे से उसका कुशल क्षेम पूछता है दूसरा व्यक्ति सीधे-सीधे यह बतलाने के बदले कि वह स्वस्थ है या रुग्ण, कहता है “वह जीवित है” और पूरा छंद बड़ी सुकुमारता के साथ स्त्री की दयनीय स्थिति का चित्रांकन कर देता है। कथन की यह शैली अधिक सामर्थ्य के साथ स्त्री की पीड़ा की ओर संकेत करती है। जीवितमात्र सैषा शब्द इस दयनीय स्थिति को व्यक्त करता है। यह कथन का सौन्दर्य अर्थात् उक्ति गुण ही है और यह कथन की समग्र प्रणाली ही है जो काव्य का अपना निजी वैशिष्ट्य है। भोज का अर्थ गुण भी उक्ति के शब्द गुण से पूर्णतः भिन्न नहीं है। शब्द गुण में अर्थ की अपेक्षा

शब्दों द्वारा इस सौन्दर्य की उपलब्धि होती है जबकि उक्ति के अर्थ गुण में विचार को सूक्ष्म रूप और घुमाव देने के लिये अभिराम वैशद्य या विशेष निरूपण का सहारा लिया जाता है चाहे उसे संकेतित कर दिया गया हो अथवा साफ साफ कह दिया गया हो ।

उक्तिनाम यदि स्वार्थो भङ्ग्याभव्यो ऽभिधीयते ।

अत्र अभीष्टस्य नायक-नायिका-सङ्गमस्य भङ्ग्या भणनमुक्तिः ॥

विशिष्ट भणिति या उक्ति भङ्गी और भङ्ग्याभणन (स. क. आ. 1 पृष्ठ 73) में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । उक्ति के ये दोनों प्रकार काव्य के किसी विशिष्ट भाग में पाये जाने वाले गुणमात्र नहीं अपितु वे काव्योक्तियों को अन्य प्रकार की उक्तियों से पृथक् करने वाले तत्त्व हैं । शब्द और अर्थ की द्विविध उक्ति (जोकि गुण है) के अतिरिक्त भोज ने एक उक्ति नामक शब्दालंकार भी माना है । उन्होंने स. क. आ. 2- 42 (पृष्ठ 146) में इसकी परिभाषा दी है और उसे विधि उक्ति निषेधोक्ति अधिकारोक्ति, विकल्पोक्ति, नियमोक्ति और परिसंख्योक्ति इन स्वयं परिगणित कथन शैलियों के रूप में स्वीकार किया है । अपने छाया नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत भी भोज ने कुछ उक्तियों का उल्लेख किया है यथा लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति, उन्मत्तोक्ति, पोटोक्ति और मत्तोक्ति । केशव ने अपने अलंकार शेखर (1-2) में भोज के छाया अलंकार को उक्ति नाम दिया है । और उसे लोक, छेक, अर्भक, और उन्मत्त, भेदों में बांटा है ।

व ने इस उक्ति को भोज के दोनों शब्दालंकारों उक्ति और छाया से निर्मित कर काव्यात्मक कथनों के तीन बहिरंग भागों में से एक भाग के रूप में स्वीकार किया है । उन्होंने 1-2 के अन्त में कहा है कि मैंने इसके विषय में तथा इन सब के रस संबंध के विषय में अलंकार सर्वस्व नामक अपने अन्य अलंकार ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है । दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ अब हमें प्राप्त नहीं है । संभवतः राजशेखर ने रीति के साथ साथ उक्ति का उल्लेख बहिरङ्ग के रूप में किया था और केशव ने उन्हीं का अनुसरण किया है । राजशेखर की काव्य मीमांसा के गा. ओ. सी. सं. की टिप्पणी में इस बात का निर्देश किया गया है कि काव्य मीमांसा के अनुपलब्ध अलंकार खण्ड से एक उद्धरण केशव ने अपने अलंकार शेखर नामक ग्रन्थ में लिया है मैंने इस ग्रन्थ में अलंकार सम्बन्धी परिच्छेद में इस बात की चर्चा की है । छाया और उक्ति नामक दोनों शब्दालंकारों में उक्ति शब्द का अर्थ बहुत संकुचित है । किन्तु भोज की परिभाषा के द्वारा इसके अर्थ के सीमित कर दिये जाने पर भी उक्ति के शब्द गुणों और अर्थ गुणों से यह प्रदर्शित होता है कि इस शब्द का अर्थ सामान्यतया कथन की काव्यात्मक शैली था । इसे विशिष्ट भणिति या भङ्ग्या अभिधान कहते हैं । रत्नेश्वर की व्याख्या से यह बात स्पष्ट हो जाती है । शब्दगुणोक्ति के अन्तर्गत उन्होंने कहा है—

“लोकोक्तराः सन्ति हि भाणितिप्रकाराः (.) लोकप्रसिद्धः (द्वाश्च) । यथा सुप्तो ऽसीति प्रश्ने गृहे देवकुले वेत्यादि । एतत् प्रसिद्धिव्यतिक्रमेण तु या काचित् कविप्रतिभया भणि-

तिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा । तथा च प्रतिभाकृष्टतया चमत्कारित्वाद् गुणत्वम् । अतएव कवय इत्याह । कविसहृदयानामेव तादृशोक्तिपरिचयसंभवात्—पृष्ठ 60

अर्थगुणोक्ति का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं—

स्वीयो ऽभीष्टो ऽर्थः, स्वार्थः, तस्य साक्षात् प्रतिपादनमनुचितमपि अर्थान्तरभङ्गिभिः प्रतिपादनमर्थगुणः ।

वात को सामान्य वार्तालाप से भिन्न ढंग से कहना, वात को सीधे सीधे और भोड़े ढंग से न कहकर उसे काल्पनिक रंग देकर कहना कुछ घुमाव या पेच देकर कहना, विचार को कुछ लुकाछिपी अर्थात् पिहित प्रकाश शैली में कुछ संकेत या व्यञ्जना के साथ कहना उक्ति कहलाता है और इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भोज का उक्ति गुण स्वयं अपनी सीमा से आगे बढ़कर सामान्य काव्यात्मक भणिति का बोध कराता है ।

भोज का यह आशय है कि उक्ति व्यापक रूप से काव्यमयी भणिति की बोधक है । वे राजशेखर के उक्ति विशेषः काव्यम् इस कथन से सहमत हैं । उन्होंने भट्टनायक की इस बात को दोहराया है कि शास्त्र शब्द प्रधान होता है और इतिहास अर्थ प्रधान किन्तु काव्य उक्ति प्रधान है । भोज ने अध्येय नामक शब्दालंकार के वर्णन में यह बात स्पष्ट रूप से कही है । यहाँ उन्होंने काव्यशास्त्र और इतिहास के बीच भेद की स्पष्ट व्याख्या की है उन्होंने कहा है

“तदिदम् उक्तिप्राधान्यात् काव्यमित्युच्यते ।” “शब्दस्य प्राधान्यमिति

शासनात् शास्त्रमिदम्” “अतीतार्थप्राधान्याद् इतिहासः ।” स. क. आ. पृष्ठ 120

इसी संदर्भ में उन्होंने और अधिक संक्षेप के साथ श्रृ. प्र. (जिल्द 7, पृष्ठ 285) में लिखा है “तेषु उक्ति प्रधानमिति काव्यम् शब्दप्रधानं शास्त्रम् ।” अर्थ प्रधानं इतिहासः ।” इससे पहले श्रृ. प्र. में विवक्षा का वर्णन करते हुए भोज ने लिखा है—

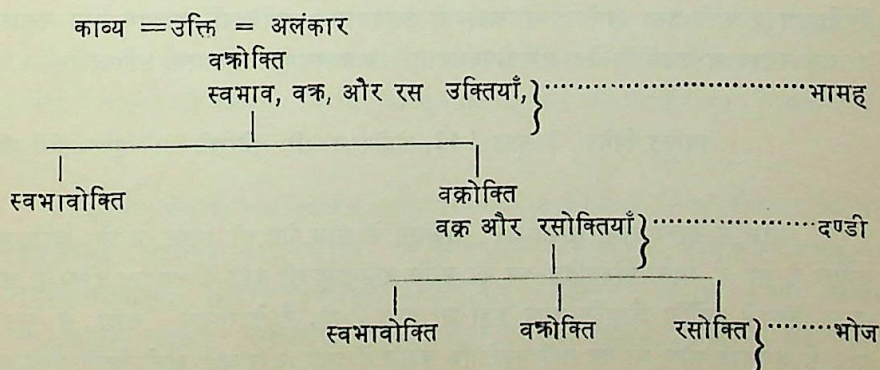
“तत्र शब्दप्रधानमपौरुषेयं, मन्त्रो ब्राह्मणं च । ++ अर्थप्रधानमार्षः स्मृतिरितिहासश्च । (उभय) प्रधानं पौरुषेयञ्च ।”

यह बात भट्टनायक के कथन साथ पूरी तरह मेल खाती है । एक दूसरे स्थान पर श्रृ. प्र. के ग्यारहवें परिच्छेद में उक्ति संबंधी मत व्यक्त करते हुए भोज ने काव्य भणिति के सम्पूर्ण क्षेत्र के बीच समन्वय स्थापित किया है । इस प्रयत्न के द्वारा उन्होंने साथ ही साथ अलंकार के साथ दूसरा समन्वय स्थापित किया है । मैंने अपने कांसेप्टस ऑफ अलंकार शास्त्र (पृष्ठ 92-116) के स्वभावोक्ति विषयक परिच्छेद तथा इस प्रबन्ध में भोज के अनुसार स्वाभावोक्ति नामक परिच्छेद में इस प्रश्न पर विशद रूप से विचार किया है । और यहाँ संक्षेप रूप में इस बात को स्पष्ट करता हूँ । भामह ने वक्रोक्ति के नाम से कई अलंकारों का एक में संकलन किया है । काव्य में कुछ विशिष्ट मनोरम तत्त्व होते हैं, अतः उसे भी वक्रोक्ति नाम दिया गया । इस वक्रोक्ति में भामह ने उपमा और रूपक एवं रस और अलंकार को

सम्मिलित किया। अलंकार, रसवद् अलंकार और स्वभावोक्ति को भी इसके अन्तर्गत माना। मेरा मत यह है कि भामह ने स्वाभावोक्ति को अलंकार के रूप में स्वीकार किया किन्तु इस विषय में उनका मत दण्डी से भिन्न था। यद्यपि प्रकृति-वर्णन का जो उदाहरण उन्होंने दिया है, उसमें अलंकार की उतनी मात्रा नहीं है जितनी अन्य अलंकारों में शब्द और अर्थ के वक्र ढंग से कहने में पाई जाती है। फिर भी हम इसे अलंकार ही कहेंगे क्योंकि इस प्रकृति-वर्णन में भी एक निश्चित सीमा तक कवि प्रतिभा-प्रसूत विशिष्ट चमत्कार है। और वह सामान्य प्रसाहित्यिक सपाट वर्णन से भिन्न है। रस भी अलंकार माने गये हैं क्योंकि वे भी कथन को शोभा प्रदान करते हैं। भामह के निरूपण में, यही स्थिति मिलती है। दण्डी दूसरी स्थिति के प्रतिनिधि हैं। वे अनुभव करते हैं कि स्वभावोक्ति को पूरी तरह वक्रोक्ति के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसमें वक्रत्व अथवा लीक से हटकर चलने की बात नाम मात्र को ही मिलती है। इसलिये उन्होंने काव्योक्ति को दो भागों में बाँटा है। स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति।

‘भिन्नं द्विधा स्वाभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।’

फिर भी उन्होंने रस प्रधान वाणी—‘रसवद् वाचः’—को रसवद् अलंकार अर्थात् अलंकार से शोभाग्रहण करने वाले कथन के अन्तर्गत रहने दिया है। उन्होंने भामह का अनुसरण किया है। किन्तु उन्होंने आठों रसों को रसवद् अलंकार के अन्तर्गत वर्णित करके बात का क्षेत्र व्यापक बना दिया है। दण्डी भाव प्रधान और रस प्रधान उक्तियों की श्रेष्ठता से परिचित थे। उन्होंने माना कि प्रेयस्, रसवत् और उर्जस्वि अलंकार अन्य वक्रोक्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। इसीलिये उन्होंने कहा—‘युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्’ 2-275 भोज ने दण्डी के ‘युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्’ इस कथन में निहित संकेत को ग्रहण कर लिया और काव्य—सम्बन्धी उक्तियों का तर्क संगत विश्लेषण करके उन्हें वस्तुओं का स्वाभाविक वर्णन, आलंकारिक वर्णन और भाव प्रधान वर्णन अर्थात् स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति इन तीन वर्गों में रखा। यह तीनों उक्ति के प्रकार हैं। उक्ति से भोज का तात्पर्य है काव्यात्मक वर्णन या कथन। इसे उन्होंने अलंकार नाम भी दिया है। क्योंकि भोज गुणों और रसों को भी अलंकार ही मानते हैं। इस प्रकार उक्ति का अर्थ है अलंकार कुल मिलाकर सुन्दर काव्यात्मक वर्णन।



शृ. प्र. के दशम परिच्छेद में भोज ने कहा है—

त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति । तत्र उपमाद्यलङ्कार प्राधान्ये वक्रोक्तिः । सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः । विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिपत्तौ रसोक्तिरिति ।

स. क. आ. के पञ्चम परिच्छेद में भी भोज ने कहा है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।

सर्वासु ग्राहिणीं तामु रसोक्तिं प्रतिजानने ।

ऊपर कहा जा चुका है किस प्रकार उक्ति या भङ्गीभणिति काव्यात्मक अभिव्यक्ति को अन्य कथनों से पृथक् करती है । उक्ति का वक्रोक्ति अलंकार और भट्टनायक के व्यापार से साम्य दिखाया जा चुका है । यह भी कहा जा चुका है कि उक्ति सम्बन्धी इस मान्यता के आधार पर ही राजशेखर ने 'उक्ति विशेषः काव्यम्' कहकर काव्य की परिभाषा की है । उक्ति की व्याख्या अभिव्यक्ति की विशिष्ट काव्यात्मक शैली के रूप में की जा चुकी है । यह काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व तथा पहचान है । शब्द और अर्थ के ये तत्त्व इसकी तुलना में छोटे और इसके अधीन हैं । यह भी स्पष्ट कहा जा चुका है कि किस प्रकार यह परिभाषा व्यापार प्राधान्य पर आश्रित भट्टनायक की परिभाषा से साम्य रखती है । भट्टनायक के ही मत का थोड़े से परिवर्तन के साथ महिमभट्ट ने पुनरुल्लेख किया है । महिमभट्ट ने कहा है कि काव्यात्मक कथन में शब्द और अर्थ दोनों की समान महत्ता होती है । केवल शब्द या केवल अर्थ की नहीं । उन्होंने कहा कि काव्य उभय प्रधान है भट्टनायक के समान यह नहीं कहा कि काव्य व्यापार प्रधान या उभय-अप्रधान है

“त्रिविधं हि शास्त्रं शब्दप्रधानम् अर्थप्रधानम् उभयप्रधानं चेति । तत्र शब्दप्रधानं वेदादि अध्ययनादेव अम्युदयश्रवणात् मनागपि पाठविपर्ययसि प्रत्यवाय श्रवणाच्च । अर्थप्रधानमितिहासपुराणादि तस्य अर्थवादमात्ररूपत्वात् उभयप्रधानं सर्गबन्धादिकाव्यम् तस्य रसात्मकत्वात् रसस्य च उभयौचित्येन परिपोषदर्शनात् । काव्यस्यापि शास्त्रत्वं प्रतिपादितमेव ।”

व्यक्ति विवेक 3—पृष्ठ 142, तंजोर स. सी. । देखिये 1—पृष्ठ 20 भी ।

भोज ने काव्य तथा शास्त्र और आख्यान के मध्य भेद को स्पष्ट करने वाले भट्टनायक के मत के स्वल्प परिवर्तित रूप का जोकि महिमभट्ट की कृति में उपलब्ध होता है, अनुसरण किया है क्योंकि जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है शृ. प्र. के सप्तम काश से उद्धृत पाठ के अनुसार भोज भी यह नहीं कहते कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों किसी अन्य वस्तु

की अपेक्षा अप्रधान या गुणीभूत बना दिये जाते हैं अपितु वे काव्य में दोनों को प्रधान मानते हैं ।

‘तत्रशब्दप्रधानमपीरूपेयम् + + + अथ प्रधानमार्पः + + + (उभय) प्रधानं पीरूपेयम्’ ।

जिल्द 2 पृष्ठ 18 ।

शब्दों में परिवर्तन तथा अर्थों में उलट फेर से कवि की रचना का चमत्कार नष्ट हो जाता है । इसीलिए काव्य उभय प्रधान माना गया है । कथन की परिपक्वता अर्थात् काव्य पाक गुण प्राप्त होने पर कवि जो कुछ लिखता है वह स्वल्प परिवर्तन को भी सहन नहीं कर सकता । राजशेखर ने कहा है —

पदनिवेशनिष्कम्पता पाक इत्याचार्याः । तदाहुः —

“आवापोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः ।

पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥”

इति वामनीयाः । + + + ‘पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः’ इति वामनीयाः । तदाहुः —

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।

तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥

(वामन 1-3) काव्यमीमांसा, पृष्ठ 20

काव्य में इस पाक का अर्थ है शब्दों की अपरिवर्तनीयता । इससे भी उसी विचार को बल मिलता है जिसका प्रतिपादन महिमभट्ट और भोज ने यह कहकर किया है कि काव्य उभय प्रधान है । भोज ने इत काव्यपाक या उक्ति पाक का वर्णन शब्द और अर्थ के प्रौढि नामक गुण के ठीक पश्चात् किया है । पर्याप्त समय के बाद बहुरूपमिश्र नामक दशरूपक के व्याख्याकार ने भोज के बहुत से मतों को पुनः प्रस्तुत करते हुए जो कुछ कहा है उससे भोज की उपर्युक्त विचार सारणि अथवा उक्तिमत के सम्बन्ध में हमारी धारणा की पुष्टि होती है । बहुरूप ने उक्ति के स्थान पर सूक्ति शब्द का ग्रहण किया है । और इसके सम्बन्ध में भोज के त्रिधा वर्गीकरण का उल्लेख किया है एवं उससे भामह के काव्य सम्बन्धी वक्रोक्ति मत तथा भट्टनायक के काव्य में अभिधा प्राधान्य मत को जैसा कि हमने भी ऊपर प्रदर्शित किया है, सम्बन्ध स्थापित किया है । दुर्भाग्य से मद्रास गवर्नमेण्ट ओरि० मेनिस्क्रिप्ट लायब्रेरी में दो जिल्दों में बहुरूप की दशरूपक व्याख्या का मूलपाठ यहाँ पर अप्रत्याशित रूप से समाप्त हो गया है । बहुरूप ने कहा है—

केचित् शोभाकरत्वविशेषात् रसगुणरयोलङ्कारत्वं मन्यन्ते । तन्मते त्रिविधा सूक्तिः, स्वभावोक्तिः, वक्रोक्तिः, रसोक्तिरिति । तत्र गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, उपमारूपकाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः, विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद् रसनिष्पत्तौ रसोक्तिः । अतः शब्देन अर्थप्रतिपादनं भूषयितुं यत्कविना उपादी (यते, तत् सर्वमलङ्कारः) । अत एव भट्टनायकेन अभिधाव्यापरः (काव्ये प्रधानमित्युक्तम्) ।

(शब्द) प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ॥

अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ॥

द्वयोर्गुणत्वे (व्यापारप्राधान्ये) काव्यमेव तत् ।

भामहेनापि-संघा सर्वे (वक्रोक्तिरनयार्यो) विभाव्यते ॥

पृष्ठ, 107-108 मद्रास मेन. बहुरूपमिश्र कृत दशरूपक व्याख्या, 1-3-41

परिशिष्ट

(1) दण्डी ने 2—13 में कहा है कि शास्त्र में वस्तु का यथातथ वर्णन—स्वभावा-
ख्यान— किया जाता है और काव्य में भी कुछ प्रसङ्गों में यह स्वभावाख्यान मिलता है ।

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।

इस पर व्याख्या लिखते हुए हृदयङ्गमा ने कहा है कि शास्त्र तत्त्व प्रधान होते हैं ।
अर्थात् उनका लक्ष्य वस्तुओं वा कथ्यों का यथातथ वर्णन होता है किन्तु काव्य वर्णन प्रधान
होता है । वह वस्तु के वर्णन अथवा अभिव्यक्ति के ढंग पर जोर देता है ।

शास्त्रेषु धर्मघर्मदिशास्त्रेषु अनृतवचनाभावात् अस्यैव स्वभावालङ्कारस्य साम्रा-
ज्यं सम्पत्तिर्भवति । काव्येषु वर्णनाप्राधान्याद् असत्यवचनं कल्पितमपि च अस्ति ।

काव्यादर्श, पृष्ठ 64 मद्रास सं० ।

(2) एकावली में भट्टनायक के कथन की व्याख्या करते हुए विद्याधर ने कहा है—

शब्दप्रधानं वेदाख्यं प्रभुसम्मतिमुच्यते ।

ईपत्पाठाज्यापाठे प्रत्यवायस्य दर्शनात् ॥

इतिहासादिकं शास्त्रं मित्रसम्मतिमुच्यते ।

अस्यार्थवादरूपत्वात् कथ्यतेऽर्थप्रधानता ॥

ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मतिमीरितम् ॥

शब्दार्थौ गुणताम् नीत्वा व्यञ्जनप्रवर्णं यतः ॥ 1-4-6

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुयायी होने के कारण विद्याधर ने व्यापार की
व्याख्या ध्वनि के रूप में की है । उन्होंने लोचन में एतत्सम्बन्धी अभिनवगुप्त के मत का अनु-
सरण किया है ।

तेन यदाह भट्टनायकः “शब्दप्राधान्यं + काव्यधीर्भवेत्” इति तदपास्तम् व्यापारोहि
यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावः, तन्न अपूर्वमुक्तम् । + लोचन पृष्ठ 27 ।

दशम परिच्छेद भोज और वक्रोक्ति

“वक्रोक्तिरेव काव्यानां पराभूषेति भामहः” भोज, शृ. प्र., एकादश प्रकाश । वक्रोक्तिमत भामह और दण्डी से भी कहीं पुराना है क्योंकि हम इन दोनों के ग्रन्थों में हम निश्चित मत के रूप में इसका प्रयोग देखते हैं । भामह के वक्रोक्ति विषयक निम्नलिखित वाक्यों की ओर संकेत करना आवश्यक नहीं है । उनके लिए वक्रोक्ति का अर्थ था चमत्कार-वाचां

वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते । 5-66

युक्तं वक्र-स्वभावोक्त्या सर्वमेवैदिव्यते । 1-30

अपने अतिशयोक्ति अलंकार (2-85) के वर्णन में उन्होंने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अलंकार के पर्याय के रूप में किया है अतः भामह के मत से सम्पूर्ण काव्योक्तियों का क्षेत्र ही वक्रोक्ति का क्षेत्र है । सारा चामत्कारिक और असाधारण कथन इसके अन्तर्गत आता है । भामह ने 2-86, 87 में हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों का खण्डन करते हुए कहा है कि कुल मिलाकर इनमें वक्रोक्ति नहीं हंती, अतः वे अलंकार पद के अधिकारी नहीं हैं ।

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः । 2-86

उक्ति की वक्रता काव्य की प्रथम आवश्यकता है और यही काव्य को अन्य कथनों से पृथक् करती है । भामह ने कहा है कि वक्रोक्ति के अभाव में काव्य नहीं होता वह केवल सादा कथन, भाषण या वार्ता हो सकती है ।

गतो ज्ञस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इत्येवमादि किं काव्यं वातमिनां प्र चक्षते ॥ 2-87

अतः भामह की कृति में सामान्य तथा काव्यात्मक उक्ति अर्थात् वार्ता और वक्रोक्ति दोनों भिन्न माने गये हैं । मैंने अपने कान्सेप्ट्स ऑफ अलंकारशास्त्र (पृष्ठ 92-116) के स्वभावोक्ति परिच्छेद में इस बात को तथा ‘भामह स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं’ इस दूसरी बात को भी भलीभांति स्पष्ट किया है । इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि स्वाभाविक वर्णना या स्वभावोक्ति चमत्कारपूर्ण और प्रभावोत्पादक चित्रण होता है । और इस रूप में वह केवल वार्ता के प्रतिवेदन या सामान्य नीरस भाषण से भिन्न होती है । मम्मट ने भी निर्देश किया है कि स्वभावोक्ति की इसी आकर्षक एवं चामत्कारिक मात्रा को हम वैचित्र्य कहते हैं और इसी कारण स्वभावोक्ति की गणना अलंकारों में करते हैं । कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के विरोधी है । वे इसे अलंकार नहीं मानते । उनके मत

से वस्तुस्वभाव अलंकार नहीं अपितु अलंकार्य है। किन्तु वे भी यह स्वीकार करते हैं कि प्रकृति मनुष्य तथा वस्तुओं को प्रभावोत्पादक तथा चमत्कृति पूर्ण रूपांकन के पाये जाने वाले उदाहरण वस्तु वक्रता का निर्माण करते हैं (तृतीय उन्मेष) स्वभावोक्ति में पाये जाने वाले इसी वक्रता तत्त्व के आधार पर भामह भी स्वभावोक्ति को भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत अलंकार मानते हैं। इसलिए स्वभावोक्ति क्री गणना अलंकार तथा वक्रोक्ति में करना तर्क विरुद्ध नहीं है, विशेषतः तब जबकि रसवत् अलंकार को हम वक्रोक्ति का एक भेद मान लेते हैं। इस प्रकार भामह वक्रोक्ति जगत् को तीन भागों में बाँटते हैं—वस्तु का यथातथ वर्णन (अर्थस्य तदवस्थत्वम् स्वभावोक्तिः) अधिक स्पष्ट रूप से वक्र आकर्षक एवं चमत्कार पूर्ण वर्णन जिसे वक्रोक्ति नाम देना उचित होगा और जो अपनी उच्चतम मात्रा में रूप-कादि कहलाता है। और तीसरे रस का वर्णन या चित्रण जिसे रसवत् अलंकार कहते हैं।

दण्डी का विवेचन अधिक स्पष्ट है। निःसन्देह स्वभावोक्ति में चमत्कार रहता है किन्तु उसकी मात्रा अत्यल्प होती है। अन्य अलंकारों अथवा वक्रोक्ति के लिए यह प्रारंभिक बिन्दु है। इसलिए दण्डी ने इसे अन्य अलंकारों से पृथक् करके प्रथम अलंकार (आद्या अलंकृतिः) की संज्ञा दी है। उन्होंने काव्यात्मक कथन को वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति इन दो भागों में बाटा है। जिनका अर्थ है वस्तुओं का यथातथ वर्णन करना और अलंकार युक्त अर्थात् सामान्य से कुछ हटकर वर्णन करना। रसवर्णना के संदर्भों को भामह के समान दण्डी ने भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत रखा है। तीसरी श्रेणी में भोज आते हैं। जिन्होंने काव्योक्ति का और आगे विवेचन किया है। उक्ति अलंकार और स्वभावोक्ति के प्रकरणों के अन्तर्गत मैंने अपने अन्य ग्रन्थ में इस विषय पर चर्चा की है। भोज ने संकेत रूप में दण्डी की बात को ग्रहण किया है। उनके समय तक रस को काफी महत्ता प्राप्त हो चुकी थी प्रेयस्, रसवत् और उर्जस्वि इन तीन अलंकारों का वक्रोक्ति के अन्तर्गत वर्णन करते हुए भी दण्डी ने अनुभव किया था कि रसों और भावों से सम्बद्ध होने के कारण इनकी प्रकृति पृथक् और विशिष्ट है तथा प्रभाव महत्तर। इसीलिए उन्होंने कहा था कि ये अपेक्षाकृत अधिक बड़े हैं “युक्तोत्कर्षं चतत्त्रयम्” भोज ने प्रेयस् और उर्जस्वि को रसवत् के अंतर्गत माना है। उन्होंने रसवत् अलंकार को एक वर्ग ही मान लिया इसमें रसों और भावों का वर्णन होता है। भोज ने रसवत् अलंकारों को वक्रोक्ति के अन्य भेदों से पृथक् स्वीकार किया। यह विवेचन अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है क्योंकि रसवर्णना वक्रोक्ति की अपेक्षा स्वभावोक्ति के अधिक सन्निकट है। रुय्यक ने तथा उन पर टीका करते हुए जयरथ ने कहा है कि सहृदय को काव्य में संवाद प्राप्त होता है और यह संवाद दो प्रकार का है—चित्र संवाद और वस्तु संवाद। प्रथम का संबंध रसवर्णना और भाव वर्णना से है और द्वितीय का अर्थ और वस्तुओं के वर्णन से है। दोनों वर्णन स्वाभाविक और अलंकृति-विहीन होते हैं। इन्हें ही रसवत् अलंकार और स्वभावोक्ति कहा जाता है। यद्यपि भोज ने भामह, दण्डी और वामन का अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण काव्यात्मक वर्णनों के क्षेत्र को अलंकार के अंतर्गत मान लिया है फिर भी उन्होंने वक्रोक्ति को उपमादि अलंकारों तक सीमित रखा है। भामह और दण्डी के मत में आगे बढ़कर उन्होंने रसों को इससे पृथक् और बाहर माना है।

स. क. आ. के पञ्चम परिच्छेद में उन्होंने कहा है “वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्” ॥ शृ. प्र. के नवम प्रकाश में उन्होंने कहा है कि “धूमोऽयमग्नेः” श्लोक 8 जैसे उदाहरण अलंकार नहीं हैं क्योंकि उनमें आवश्यक वक्रता अथवा काव्य-सौन्दर्य दृष्टि-गोचर नहीं होता। यहाँ उन्होंने वक्रता या वक्रोक्ति का अलंकार-सामान्य-लक्षण अर्थात् काव्यशोभा के रूप में उल्लेख किया है।

“न चैतद् वाच्यं धूमोऽयमग्नेः इत्यत्राप्यथन्तिरन्यासः पृथज्यत् । यद्यपि धूमस्य उत्पाद्यस्य साधनसमर्थोऽग्निः तथापि काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान्-प्रचक्षते इत्येतदपि सर्वालङ्कारसाधारणं लक्षणमनुसर्तव्यम् । अस्मिन् सति सर्वालङ्कार जातयोः वक्रोक्त्यभिधान-वाच्या भवन्ति । तदुक्तम् —

वक्रत्वमेव काव्यानां पराभूषेति भामहः ।

श्लेषः पुष्पाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ॥¹

ननु एवं सति विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रसनिपत्तिरित्यादिना न भवितव्यमेव अलंकारेण ? नैवम् । त्रिविधः खलु अलंकारवर्गः — वक्रोक्ति, स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति । तत्रोपमाद्यलङ्कार-प्राधान्ये वक्रोक्तिः, सोपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्तु रसनिपत्तौ रसोक्तिरिति ।”

शृ. प्र., मद्रास मेनस्क्रिप्ट

सप्तम प्रकाश, पृष्ठ 371-72

(1) डॉ. ए. शंकरन ने अपने थ्योरीज ऑफ रस एण्ड ध्वनि के पृष्ठ 23 पर इस श्लोक को दण्डीकृत माना है। काव्यादर्श की मुद्रित प्रति में इसकी प्रथम पङ्क्ति जिसमें भामह का उल्लेख है, नहीं मिलती। डॉ. शंकरन का अनुमान है कि काव्यादर्श की प्रति में 2-362 पर मूल पाठ कुछ त्रुटित है जिसकी पूर्ति शृ. प्र. में उद्धृत इस पङ्क्ति से हो जाती है। किन्तु छपी हुई प्रति में कोई अंश त्रुटित नहीं दिखाई देता और यदि 362 वें श्लोक के आगे इस पङ्क्ति को जोड़ दिया जाय तो इस अध्याय का अन्त महाकाव्य के अनुष्टुप् छन्द के समान तीन पङ्क्तियों या तीन चरणों में होगा। या “भिन्नद्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्” यह पङ्क्ति अकेली पड़ जायगी। तीसरे वक्रोक्ति इतनी प्राचीन है कि दण्डी द्वारा भिन्नद्विधा इत्यादि श्लोक में उसका उपयोग किया जा सकता है। किन्तु यदि हम अलंकार-शास्त्र में विभिन्न शब्दों के प्रयोग के इतिहास, उत्कर्ष और काल पर ध्यान दें तो देखेंगे कि वक्रता या वक्रत्व इस संक्षिप्त नाम के भीतर निहित मान्यता आनन्दवर्धन के बहुत पीछे काल की है। मेरी धारणा यह है कि यदि भोज ने यह श्लोक अन्यत्र कहीं से उद्धृत किया है तो यह किसी ऐसे पश्चाद्वर्ती लेखक से लिया गया है।

इस प्रकार भोज अलंकार शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं जिस अर्थ में इसका प्रयोग वामन ने अपने सौंदर्यमलङ्कारः सूत्र (1-1-2) में किया है। यहाँ सौंदर्य का अर्थ है सामान्य काव्यसौंदर्य इसी अर्थ में भोज ने वक्रोक्ति शब्द का भी प्रयोग किया है। और

इस विषय में उन्होंने भामह का अनुसरण किया है। इस प्रकार भोज में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है व्यापक और संकुचित। प्रथम का अर्थ है सामान्य काव्यात्मक भणिति और द्वितीय का अर्थ है उपमा रूपकादि अलंकार। द्वितीय अर्थ में प्रयुक्त वक्रोक्ति के इतिहास का उपर्युक्त ढंग से दण्डी के माध्यम से पता लगाना है क्योंकि पहले पहल दण्डी ने ही इसे रसों और उपमादि अलंकारों तक सीमित किया था और अन्ततोगत्वा भोज ने उसे उपमादि अलंकारों तक सीमित किया।

के अंशों को आवश्यक परिवर्तनों के साथ परिवर्तित और अनुकूलित करके अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर लिया होगा। शृ. प्र. को पढ़ने पर ऐसे बहुत से उदाहरण मिलेंगे जहाँ भोज ने प्राचीन लेखकों के श्लोकों को यथावश्यक परिवर्तन करके ले लिया है। भोज ने वामन के वैदर्भी रीति-विषयक अनुष्टुप् की पहली पङ्क्ति बदलकर उद्धृत किया है। दोष और गुण के प्रकरण इस प्रकार के परिवर्तनों के साथ भामह, दण्डी और वामन के उद्धरणों से भरे पड़े हैं। इसलिये इस बात की बहुत अधिक संभावना है कि “वक्रत्वमेव काव्यानाम्” इत्यादि श्लोक भोज का अपना हो। तदुक्तम् जैसे प्रारंभिक शब्दों को लेकर चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। यह शब्द श्लोक के किसी अन्य लेखक से उद्धृत होने की ओर संकेत करता है हम जानते हैं कि भोज ने स्वयं अपनी ही रचनाओं को तदुक्तम् कहकर उद्धृत किया है।

किसी विशेष उक्ति में किसी विशिष्ट अलंकार के शास्त्रीय विशेषताओं की उपस्थिति ही पर्याप्त नहीं होती। परिभाषा से मेल खाने के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि भणिति में सर्वांगीण सौंदर्य मूल रूप से विद्यमान हो यह सौंदर्य काव्य की पहिली आवश्यकता है और इसी के कारण कोई उक्ति अलंकार पद की अधिकारिणी बनती है। क्योंकि अलंकार सौंदर्यमय वस्तु होती है भोज के मत में इसी सौंदर्य को वक्रत्व, वक्रोक्ति और शोभा कहते हैं। भोज ने अलंकार की दण्डीकृत परिभाषा की बड़ी महत्वपूर्ण व्याख्या की है।

काव्यशोभाकारान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।

उक्त पंक्ति में अलंकार-सम्प्रदाय का समर्थन है। मैंने अपने कान्सेप्ट्स ऑफ अलंकार शास्त्र (पृष्ठ 258-267) के क्रियाकलाप एण्ड अदर नेम्स ऑफ दी अलंकार शास्त्र शीर्षक अध्याय में इसका उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन के ग्रन्थ से काव्य में चारुत्व या सौंदर्य की अनिवार्य उपस्थिति सम्बन्धी मान्यता लेकर अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत पर लिखे गये अपने लोचन में इस विचार को उदाहरणों से विशदीकृत किया है।

“तथा जातीयानामिति — चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः ।

सुलक्षिता इति यत्किल एषां तद्विनिमुक्तरूपं न तत्काव्ये अभ्यर्थनीयम् । उपमा हि यथा गौः तथा गवयः इति । (रूपकं हि गौर्वाहीकः इति) श्लेषः ‘द्विर्वचने (ऽ चि’ इति) तन्त्रात्मकः ।
++++ एवम् अन्यत् । न चैवमादि काव्योपयोगीति ।” लोचन पृष्ठ 210

अप्यय दीक्षित ने भी इसी प्रकार जोर देकर कहा है कि उक्तियाँ हृद्य होने के कारण ही अलंकारता को प्राप्त होती हैं, अन्यथा वे अलंकार नहीं होती ।

सर्वोऽपि ह्यलंकारः कविसमयप्रसिद्धचतुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलङ्कारतां भजते । अतः गोसदृशो गवय इति नोपमा, गोर्वाहीकः इति न रूपकम् । चित्र मीमांसा, पृष्ठ 6 डॉ. एस. के. दे ने भी स्वयम् द्वारा सम्पादित वक्रोक्तिजीवित (पृष्ठ 46-57) में इस बात की ओर संकेत किया है । भोज ने और अभिनवगुप्त ने इस तथ्य को समझा था यह बात ऊपर उद्धृत पाठों से स्पष्टतया प्रकट होती है । इसलिये डॉ. दे यह नहीं कह सकते कि संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्यालंकार सिद्धांत का अध्ययन के क्षेत्र में यह मत और इसका महत्त्व कुन्तक का ऋणी है । (पृष्ठ 47 व. जी. भूमिका) किन्तु यह स्वीकार्य हो सकता है कि आनन्दवर्धन के बाद वक्रोक्ति को प्राप्त होने वाले नवीन महत्त्व और उसके प्रति नवीन उत्साह के मूल स्रोत मुख्यतः कुन्तक और उनका वक्रोक्तिजीवित है । भोज ने वक्रोक्ति का विचार भामह और दण्डी से लिया अन्य किसी लेखक से नहीं । कुन्तक की तो उन्हें जानकारी तक नहीं थी । भोज और कुन्तक दोनों समकालीन लेखक थे । विषयों और विचारों के इतिहास और भाग्य के सम्बन्ध में ऐसा होता है कि दो विभिन्न स्थानों पर बैठे हुए दो विद्वान् अलग अलग एक ही वस्तु या सिद्धान्त पर कार्य कर रहे होते हैं । भामह के शिखर से निस्थन्दित वक्रोक्ति की धारा ने भी दो मार्ग ग्रहण किये । इनमें से एक का चरम विकास भोज में और द्वितीय का कुन्तक में जाकर हुआ ।

यद्यपि भोज ने उपमादिक समस्त अलंकारों को वक्रोक्ति यह एक निश्चित नाम दे दिया है फिर भी वे भामह की इस बात पर टिके रहे कि समस्त काव्यात्मक भणिति को अलंकार कहते हैं और इसी को उन्होंने वक्रोक्ति नाम दिया । भ्रान्ति को बचाने के लिये भोज ने वक्रोक्ति शब्द को उपमादि अलंकारों के गौण अर्थ तक सीमित रखा और सामान्यतः व्यापक अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग किया । भोज ने व्यापक अर्थ में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग बहुत कम किया है । भोज ने अन्यत्र व्यापक रूप में काव्यात्मक भणिति के लिये वक्रता शब्द का प्रयोग किया है और यही तत्त्व को शेष वाङ्मय से पृथक् करता है । ऐसा लगता है कि भोज शब्दशः भामह का समर्थन करने के लिये पीछे मुड़ गये हैं । यह आश्चर्यजनक बात है कि भोज का दृष्टिकोण कुन्तक से इतना अधिक मिलता जुलता है । अब हम प्रश्न के इस पहलू पर विचार करेंगे ।

यह आश्चर्यजनक है और सांकेतिक भी कि भोज वक्रता की चर्चा ध्वनि के संदर्भ में करते हैं । वे ध्वनि को तात्पर्य का एक भेद मानते हैं और गद्यात्मक वाङ्मय के तात्पर्य का काव्यात्मक पक्ष भी । सामान्य बातचीत में वक्ता के उद्देश्य और अभिव्यञ्जना को तात्पर्य कहते हैं । यही बात काव्य के संदर्भ में ध्वनि कहलाती है । भोज का कहना है— “तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये ।” भोज और ध्वनि शीर्षक परिच्छेद के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी । भोज पृच्छते हैं कि भणिति का लौकिक और साहित्य तथा काव्यात्मक इन दो भागों में वर्गीकरण किसलिये ? वे सामान्य भणिति को वचस् तथा उससे भिन्न को काव्य कहते हैं । वे यह नहीं कहते कि ध्वनि काव्य का लक्षण है । क्योंकि वे ध्वनि को तात्पर्य का अङ्ग मानते हैं जो कि सामान्य उक्तियों में भी विद्यमान होता है । ध्वनि तात्पर्य का ही दूसरा नाम है । फिर वह कौनसा तत्त्व है जिसे भोज काव्यात्मक और अकाव्यात्मक

अभिव्यक्ति का भेदक मानते हैं। वे कहते हैं कि वक्रता अर्थात् सौन्दर्य या काव्यात्मक चमत्कार ही इन दोनों का भेदक है। सामान्य बातचीत में कथन में एक तरह का भोथरापन रहता है तथा दो टूक कहने की प्रवृत्ति होती है। उसमें बात को सुन्दरता के साथ कहने की ओर ध्यान नहीं होता। वहां बात को सौन्दर्य के साथ या सजा बजाकर कहना अलाभकर और व्यर्थ की बरबादी माना जाता है। फिर भी इतना तो होता है कि प्रशंसा या निन्दा करते समय स्वर में उठाव-गिराव आता है और वाणी में भी प्रशंसा या निन्दा के लिए उपयुक्त शक्ति लानी होती है। और इसका परिणाम होता है साहित्यिक भणिति

तात्पर्यम्, यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः। तदुक्तम्-तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये

× × × × ×

कः पुनरनयोः काव्य-वचसोः ध्वनि-तात्पर्ययोः विशेषः ? उच्यते-

यद्वक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।

वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥

शृ. प्र., जिल्द 1 प्रकाश 6 पृष्ठ 426

पुनः ध्वनि के विवेचन के अंत में भोज कहते हैं —

कः पुनः काव्यवचसोः ध्वनि-तात्पर्ययोः विशेषः । ननु उक्तपुरस्ताद् —

यद् वक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।

वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥

शृ. प्र., जिल्द 2 प्रकाश 7 पृष्ठ 42

वक्रता या वक्रोक्ति के नाम से यह लगभग काव्य की परिभाषा ही कही जा सकती है और इस दृष्टि से भोज ने वक्रोक्ति—या और अधिक शुद्ध शब्द का प्रयोग करें तो वक्रता शब्द—का प्रयोग भामह की वक्रोक्ति के अर्थ में किया है जिसमें स्वभावोक्ति, गौण वक्रोक्ति और रसोक्ति ये तीनों उक्तियाँ आ जाती हैं। इस प्रकार भोज ने एक प्रधान और एक गौण वक्रोक्ति मानी है और उन दोनों से मिलता हुआ एक प्रधान और एक गौण दो प्रकार के अलंकारों की धारणा—जिनमें प्रधान सौन्दर्य या काव्यशोभा का और दूसरा गौण केवल उपमादि अलंकारों का बोधक होता है—वामन के मत से पूरी तरह मेल खाती है। भोज के मत में अपने मूल रूप में ध्वनि काव्य का उतना विभेदक तत्त्व नहीं है जितनी कि यह मूल वक्रता जिसके बिना काव्य केवल वचस् बनकर रह जायगा और उसके बिना अलंकार भी अलंकार कहलाने के अधिकारी नहीं रह जायेंगे। इसलिये कथन के अनिवार्यतः सुन्दर न होने पर तत्रत्य ध्वनि भी काव्यात्मक नहीं रह जायगी। अभिनवगुप्त ने भी काव्यात्मक कथन के मूल के रूप में आवश्यक और प्रमुख रूप से उपस्थित सौंदर्य का आग्रह किया है। अपने कानसेप्ट्स ऑफ अलंकार शास्त्र के क्रियाकल्प शीर्षक अध्याय में मैंने इस बात की ओर संकेत किया है। ध्वनि के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने कहा है कि ध्वनि को भी सुन्दर होना चाहिये—

ननु एवं सिंहो बटुः इत्यादि काव्यरूपता स्यात् । + + + गुणालंकारीचित्य-
सुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननात्मनि आत्मनि काव्यरूपताव्यवहारः ।

लोचन, पृष्ठ 17

तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः ।

वही, पृष्ठ 28

अन्य लोगों ने शब्दार्थ अथवा काव्य शरीर के इस गुणालङ्कार सौन्दर्य को औचित्य, वक्रता, वक्रोक्ति या अलंकार सम्बन्धी समग्र धारणा में अन्तर्भूत माना है । यह बात वक्रोक्ति और तात्पर्य मत सम्प्रदायों की पोषक तथा ध्वनिवादियों की कुछ कुछ विरोधी है । उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त विधि के भीतर व्यङ्ग्य या संकेत रूप से निहित निषेध का एक उदाहरण लीजिये । एक सुप्रसिद्ध गाथा है— भम धम्मिअ आदि । ध्वनिवादी जो लक्षणावादी का विरोध करते हुए हर जगह इस मुख्य बात पर जोर देता है कि ध्वनि लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि लक्षणा में अभिधार्थ का परित्याग कर दिया जाता है । जबकि ध्वनि में मुख्यार्थ का भी ग्रहण होता है और वह अपने मूल में वक्ता के उद्देश्य का अंग रहता है । यदि प्रस्तुत गाथा में धार्मिक व्यक्ति से बात करती हुई स्त्री का चातुर्य ही प्रमुख रूपसे बोद्धव्य है यदि उसका चातुर्यपूर्ण संभाषण उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उसके द्वारा धार्मिक पुरुष को गोदावरी के किनारे बार बार आने जाने से रोकना, यदि इस गाथा का काव्य सौन्दर्य स्त्री की चातुर्यपूर्ण कथन शैली पर निर्भर करता है जो कि विधिरूप में है, यदि इसमें अभिधार्थ का भी कुछ महत्त्व है तो यहां वक्रोक्तिवादी की बात ही अधिक माननीय मानी जायगी जो यह मानता है कि लीक से हटकर कुछ नये और सुन्दर ढंग से कहना अर्थात् वास्तविक अर्थ में वक्र उक्ति ही काव्य का प्राण है । और ध्वनि उन बहुत से तत्त्वों में से एक है जो या तो वक्रता में सहायक होते हैं या वक्रता से प्रसूत । श्रीहर्ष ने शास्त्रीय विचारों को अपने एक श्लोक में समाविष्ट करते हुए अपनी विलक्षण शैली में, यदि कहा जा सके तो वक्रोक्ति और ध्वनि में उपर्युक्त ढंग से समन्वय स्थापित किया है ।

निषेधवेषो विधिरपे तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचि वक्रता ।

विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः ॥

नै. च., 9-50.

भोज प्राचीनों का अनुसरण करने वालों में से और अलंकार और वक्रता के रूप में भणित के स्वरूप पर जोर देने वाले के रूप में भी ध्वनि को उक्ति का शोभाकारक मानते हैं । ठीक वैसे ही जैसे गाम्भीर्य गुण होता है । (अतः ध्वनि एक अलंकार है क्योंकि भोज के मत में सारे गुण अलंकार होते हैं) भोज रसों को भी अलंकार मानते हैं अतः रस, ध्वनि और हर वस्तु सौन्दर्य अर्थात् वक्रता का निर्माण करती है । और यह वक्रता ही काव्य है । अतः भोज ध्वनि को स्वीकार करते हैं और उसे काव्य में सर्वोच्च स्थान पर अधिष्ठित मानते हैं “ध्वनिरेव काव्ये ।” किन्तु साथ ही साथ वे वक्रता पर भी जोर देते हैं ।

भोज और कुन्तक

भोज और कुन्तक में बहुत सी समान बातें हैं। सबसे पहले तो वे दोनों इस बात पर काफी दूर तक सहमत हैं कि वक्रोक्ति या वक्रता काव्य का प्राण है। और वही काव्य को अन्य वाङ्मय से पृथक् करती है। तथापि भोज में केवल एक ही छन्द इस वक्रता के विषय में मिलता है जबकि कुन्तक ने संपूर्ण ग्रन्थ में इसका विवेचन किया है। कुन्तक काव्य को शब्द और अर्थ का ऐसा साहित्य मानते हैं जो वक्रोक्ति में निबद्ध हो--

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि ।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्लादकारिणी ॥ वक्रोक्तिजी. 1-7 ।

भोज ने इस बात से इनकार नहीं किया है कि उनकी वक्रता जो काव्य को सामान्य वचस् से पृथक् करती है, अलंकार का पर्याय है। उन्होंने इस वक्रता या अलंकार को गुणों (स्वभावोक्ति), अर्थालंकारों (सीमित अर्थ में वक्रोक्ति) और रसों (रसोक्ति) में वर्गीकृत किया है। कुन्तक ने भी इसी तरह प्राचीन अलंकार को पुनर्जीवन दिया है। उन्होंने अपनी छः प्रकार की वक्रोक्ति की समता अलंकार से स्थापित की है। उनका कथन है कि काव्य के केवल दो घटक होते हैं अलंकार्य और अलंकार। उसमें अलंकार ही वक्रोक्ति है।

काव्यस्यायमलंकारः कोप्यपूर्वो विधीयते । व. जी. 1-2 ।

उभावेतावलङ्कायौ तयोः पुनरलंकृतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ व. जी. 1-10 ।

इस प्रकार कुन्तक के मत में वक्रता के ही कुछ पक्षों के अन्तर्गत आने वाली ध्वनि अलंकार है। कुन्तक कहते हैं कि गुण भी अलंकार है। अलंकारशब्दः शरीरस्य शोभा-विषयकारित्वात् मुख्यतया कटकादिषु वर्तते । तत्कारित्वसामान्यात् उपचारात् उपमादिषु तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणेषु । व. जी. पृ. 3 ।

यद्यपि कुन्तक ने स्पष्ट शब्दों में इस प्राचीन मत का खण्डन किया है कि रस अलंकार है और उन्होंने ध्वनि के समान रस के सम्बन्ध में अधिकतर नव्य मत को स्वीकार किया है फिर भी उन्होंने रस का कुछ इस प्रकार निरूपण किया है जैसे वह वक्रता अर्थात् कवि की विशिष्ट कथन-प्रणाली या वस्तु वक्रता का एक भाग हो। (3, 7 पृ. 150-3) बात को बिना गहराई से देखे कोई कह सकता है कि कुन्तक भोज से मतभेद रखते हैं, भोज भामह एवं दण्डी के अनुयायी हैं, वे रस को रसवत् अलंकार मानते हैं किन्तु कुन्तक इस विषय में भोज का खण्डन करते हैं। (3, 10 पृ. 156-166)

वे रसों को अलंकार्य मानते हैं किन्तु भोज और कुन्तक इस मुख्य बात पर एकमत हैं कि वक्रता ही काव्य को सामान्य वचस् से पृथक् करती है वक्रोक्ति या वक्रता सामान्यतः अलंकार है और गुण तथा ध्वनि भी उसी के भाग हैं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि काव्य के अन्तर्गत आने वाली कोई भी उक्ति प्रत्यक्षतः या अन्ततोगत्वा कुन्तक के अनु-

सार कवि के वक्रव्यापार या वक्रता का प्रदर्शन है और जैसा कि स्वयं कुन्तक ने कहा है कि वक्रता शब्द के सामान्य अर्थ में अलंकार है तो भोज और कुन्तक एक दूसरे से पूर्णतया सहमत दिखाई देंगे। भोज ने रचना के स्वरूप के उचित चयन, समुचित भाषा, काव्य या छन्द के उचित माध्यम और वृत्ति तथा रीति के उचित स्वीकरण को शब्दालंकार के अन्तर्गत माना है। इनमें से अधिकांश कुन्तक की वक्रता के 6 भेदों में से किसी न किसी के अन्तर्गत आ जाता है। कुन्तक ने चाहे रीति हो या ध्वनि, शब्दालंकार हो या गुण, काव्य के प्रत्येक तत्त्व का निरूपण वक्रता के ही किसी न किसी भेद के अन्तर्गत किया है।

भोज और कुन्तक में इस बात में भी आश्चर्यजनक साम्य है कि वे दोनों प्रबन्धालंकार को स्वीकार करते हैं। अलंकार परिच्छेद में इस बात का विस्तार पूर्वक विवेचन किया जायगा कि भोज यह मानते हैं कि गुण और अलंकार दो प्रकार के होते हैं। वाक्य-गुण और प्रबन्धगुण तथा वाक्यालङ्कार और प्रबन्धालङ्कार। उन्होंने समग्र प्रबन्ध में पाये जाने वाले गुणों और अलंकारों की सूची दी है। ये कुन्तक की प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता से कुछ अंशों में मेल खाते हैं। कुन्तक ने प्रकरण वक्रता का द्वितीय भेद बतलाते हुए कहा —

इति वृत्तप्रयुक्तेऽपि कथावैचित्र्यवत्तमनि ।

उत्पाद्य लवलावण्यादन्या भवति वक्रता ॥

यह भोज के प्रबन्ध-दोषहान से मेल खाता है। क्योंकि मूल कथावस्तु से आगे बढ़कर उसमें समाहित मौलिक सर्जना में अनौचित्य से बचना ही प्रबन्ध दोषहान है (श्रु. प्र. एकादश प्रकाश)

कुन्तक ने “प्रकरणानां अनुग्राह्यानुग्राहकभाव” को प्रकरण वक्रता का एक प्रकार बतलाया है। (पृ. 225-6) भोज इसी से मेल खाते हुए सुश्लिष्ट सन्धित्व की चर्चा करते हैं जिसे महाकाव्यों के संदर्भ में विभिन्न सर्गों या अध्यायों में एकता, उनके परस्पर सहायकत्व और कथावस्तु के विषय-विभाग अर्थात् एकवाक्यता और प्रबन्धोपकारित्व कह सकते हैं। (श्रु. प्र. जिल्द 2 एकादश प्रकाश पृ. 431) कुन्तक ने काव्यों के सम्बन्ध में भी वक्रता की व्याख्या की है। (4, 9 पृ. 231)

कथावैचित्र्यपात्रं तद् वक्रिमाणं प्रपद्यते ।

यदङ्गं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते ॥

यदङ्गं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते । यज्जलक्रीडादि प्रकरणं महाकाव्यप्रभृतेः उपशोभानिष्पत्त्यै निवेश्यते ।

भोज ने इन्हें प्रबन्ध के अर्थालङ्कारों के रूप में स्वीकार किया है।

नगराश्रम - शैल - सैन्यवासारणवादिवर्णनम् ऋतुरात्रिन्दिवार्कास्तमयचन्द्रोदयादि वर्णनम्, नायकनायिकाकुमारसहायवाहनादिवर्णनम् मन्त्रदूतप्रयाणसंग्रामाभ्युदयादि वर्णनम्, वनविहारजलक्रीडामधुपानमानापगमरतोत्सवादिवर्णनमित्यर्थालङ्काराः ।

श्रु. प्र. जिल्द 2 पृ. 431

कुन्तक की दूसरी प्रकरण वक्रता रस सम्बन्धिनी है। जो अंगी भी है और अंग भी। (4, 10 पृ. 232-33) भोज ने इसे प्रबन्ध का अर्थगुण मानकर रसभावनिरन्तरत्वं नाम दिया है और उसकी व्याख्या करते हुए उसे भावसमृद्धि कहा है। एक रस का मुख्य आस्वाद ऐसा ही है जैसे निरन्तर एक ही वस्तु का भोजन। इससे वैरस्य उत्पन्न होता है। अतः उसके विभिन्न सहायक भावों की उपस्थिति आवश्यक है।

रसभावनिरन्तरत्वमित्यनेन रसग्रहणेनापि तत्कारणभूतानां भावानां परिग्रहेण
+ + + भोजनस्यैवैकरसस्य प्रबन्धस्यापि वैरस्यमपाकरोति। शृ. प्र. जिल्द 2 पृ. 432।
कुन्तक ने विषयवस्तु में घटनाओं के समावेश को भी प्रकरण वक्रता का एक प्रकार माना है।

प्रधानवस्तु निष्पत्यै वस्त्वन्तरविचित्रता।

यत्रोल्लसति सोल्लेखा सापराप्यस्य वक्रता ॥ व. जी. पृ. 233-234.

भोज ने इसका निरूपण दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया है— पताकाप्रकर्यादिकल्पनम् तथा कथान्तरानुपञ्जनम्। ये दोनों प्रबन्ध के उभयालंकार हैं। (शृ. प्र. जिल्द 2 पृ. 447) प्रबन्ध में सौंदर्य का एक अन्य तत्त्व है नाटक के भीतर नाटक का समावेश होता है। कुन्तक ने कहा है—

क्वचित्प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम्।

सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्पाति वक्रताम् ॥ व. जी., पृ. 235।

भोज ने गर्भाङ्गविधान को प्रबन्ध के उभयालंकार के अन्तर्गत माना है। भोज और कुन्तक दोनों ने इसका उदाहरण बालरामायण में सीता स्वयंवर नामक तृतीय अंक के अन्तर्गत “श्रवणैः श्रव्यमनेकैः” (3-12) आदि को इसका उदाहरण माना है। प्रकरण वक्रता का अन्तिम प्रकार जिसका उल्लेख कुन्तक ने पृष्ठ 236 पर किया है, आख्यान अथवा रूपक की कथावस्तु का सुगठित और संयोजित होना है और यह उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कथा का क्रमिक सोपानों में संधियों के अन्तर्गत विकसित होने से संभव होता है।

मुखाभिसंधिसंध्यादिसंविधानकबन्धुरम्।

पूर्वोत्तरानुसंगत्या (प्यङ्गा) नां विनिवेशनम् ॥

भोज ने कुन्तक के “संविधानक-बन्धुरम्” के स्थान पर इसी अर्थ में “सम्यक्-श्लक्ष्ण-योगेन संविधान-सुसूत्रता” इस शब्दावलि का प्रयोग किया है। (शृ. प्र. जिल्द 2 पृ. 411) और इस प्रकरण वक्रता के लिये भोज ने उभयालंकार को स्वीकार किया है “बीज-बिन्दु-पताकाप्रकरिकायोंपकल्पनम्” (पृष्ठ 431)। प्रबन्ध का सुदृष्टि संधित्व नामक शब्द गुण भी इसी की ओर संकेत करता है। (पृष्ठ 431)

वक्रोक्तिजीवित के सम्प्रति उपलब्ध डॉ. दे के संस्करण में प्रबन्ध-वक्रता का अन्तिम भेद व्युत्पत्ति बतलाया गया है। यह व्युत्पत्ति दर्शक या पाठक द्वारा प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक, नैतिक अथवा सामाजिक फल की प्राप्ति होती है।

नूतनोपाय-निष्पन्न-नयवर्त्मोपदेशिनाम् ।

महाकविप्रबन्धनां सर्वेषामस्ति वक्रता ॥

व. जी. पृष्ठ 245

इसे भोज ने महावाक्यार्थ नाम दिया है । यह मनुष्य को चतुर्वर्ग की प्राप्ति में सहायक होता है । भोज इस महावाक्यार्थ को शब्दब्रह्म का विपरिणाम मानते हैं ।

यस्तु तद्रूपरामायणादि प्रबन्धार्थानामवधारणेन उपहितसंस्कारस्य रामवद् वर्तितव्यम्, न रावणादिवद् इत्यादि विधिनिषेधप्रतिभादिशेष उपजायते, स समस्त विश्वव्यापी चतुर्वर्गहेतुः परो महावाक्यार्थः अर्थमूर्त्या विपरिणतमनादिनिधनम् अखण्डं शब्दब्रह्मेति उच्यते ।

अखण्डः सैष वाक्यार्थः शब्दब्रह्मेति गीयते ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।

इयं सा मोक्षमाणानामजिह्वा राजपद्धतिः ।

(वाक्यपदीय) शृ. प्र. जिल्द 2, अष्टम प्रकाश पृ. 143

इस महावाक्यार्थ के सम्बन्ध में भोज ने पृष्ठ प्रकाश (जिल्द 1 पृष्ठ 407 के आगे) में विस्तार पूर्वक चर्चा की है ।

सर्वं हि वाक्यं विधिनिषेधयोरेव पर्यवस्यति । ++ किञ्च महावाक्यैरपि रामायणादिभिरिदमेव व्युत्पाद्यते । रामस्य पितुराज्ञां पालयतः वनवासिनोऽपि तथाविधोऽभ्युदयः संवृत्तः, रावणस्य परदारान् अभिलष्यतः त्रैलोक्यविजयिनोऽपि तथाविध उच्छेदः । तस्मात् पितुराज्ञां पालयेत् । परदारान् नाभिलष्येत् । रामवद्वर्तेत, न रावणवद् इति ।

उन्होंने और भी दो बार अपने दो प्रबन्ध वैशिष्ट्यों के अन्तर्गत इसकी चर्चा की है— “चतुर्वर्ग फलायत्तत्वम् और विधिनिषेधव्युत्पादकत्वम्”, जिल्द 2, पृष्ठ 430, जिनमें एक प्रबन्ध गुण है और दूसरा प्रबन्धालंकार ।

चतुर्वर्गफलायत्तम् इत्यनेन चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षाः त एव व्यस्ताः समस्ता वा फलतत्साधनोपायविषयं महाकाव्यादीति ज्ञापयन् मुक्तकादिभ्यो भेदमाचष्टे । पृष्ठ 431

विधिनिषेधव्युत्पादकत्वेन तु गुणवतो नायकस्य उत्कर्षप्रकाशनेन दोषवतश्चोच्छेद-प्रदर्शनेन जिगीषुणा गुणवतैव, भाव्यम् न दोषवतेति व्युत्पादयति । । पृ 432

दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय जिस पर कुन्तक की देन महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है, साहित्य है । यह महत्त्वपूर्ण बात है कि लगभग उसी समय एक अन्य लेखक ने भी इस विषय पर गम्भीर चिन्तनकर उसकी परिभाषा प्रस्तुत की । “साहित्य” के इतिहास में भोज और कुन्तक ये दो नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । साहित्य सम्बन्धी प्रकरण में इसका विवेचन किया गया है । यहाँ पर साहित्य के सम्बन्ध में भोज और कुन्तक दोनों के विचार-साम्य के

कुछ पहलुओं की ओर संकेत करना आवश्यक है। दोनों ने मामूली की परिभाषा “शब्दार्थो सहितौ काव्यम्” से ही अपनी बात का प्रारम्भ किया है। भोज ने शब्दार्थ साहित्य का विश्लेषण वरह सम्बन्धों में किया है। इनमें से आठ व्याकरणिक और चार काव्यात्मक सम्बन्ध हैं। यदि हम प्रथम आठ को छोड़ दें और शेष चार—दोषहान, गुणादान, अलंकार योग और रसायुग इन चार काव्यात्मक साहित्यों पर विचार करें, तो देखेंगे कि उनका यह साहित्य अलंकार के ही समवक्ष है। संभवतः भोज भी इस बात से इन्कार नहीं करेंगे क्योंकि उनके मत में गुण, अलंकार और रस ये सब अलंकार हैं। कुन्तक के साहित्य की भी यही स्थिति है। यद्यपि कुन्तक साहित्य की व्याख्या अपने ढंग से करते हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनका साहित्य भी वक्रता का ही एक भेद है। और हम यह बतला ही चुके हैं कि वक्रता अलंकार से भिन्न नहीं है। कुन्तक ने कहा है कि काव्य में प्रथम तीन तत्त्व होते हैं। शब्दार्थ, साहित्य, और वक्रता। साहित्य का अन्तर्भाव वक्रता में होता है और इस प्रकार अन्त में केवल दो कोटियाँ बच जाती हैं काव्य जो अलंकार्य है और अलंकार जिसे वक्रता कहेंगे। साहित्य की परिभाषा करते हुए 1-17 में कुन्तक ने इसे ‘काऽपि अवस्थितिः’ कहकर व्यक्त किया है। और इसकी वृत्ति पर कहा है—“सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग् भवति” (पृष्ठ 27)

इस प्रकार भोज और कुन्तक में कई बातों में समानता है। आनन्दवर्धन के इन दोनों पश्चाद्वर्ती महान् लेखकों ने ध्वनि और रस का स्थान सर्वोपरि स्वीकार किया किन्तु साथ ही अलंकार और वक्रोक्ति के प्राचीन मत को भी मान्यता प्रदान की तथा उनके आधार पर नवीन पद्धतियों को विशदीकृत किया। साथ ही इन दोनों लेखकों में पर्याप्त वैषम्य भी है। पृष्ठ प्रकाश के अन्त में वाक्यार्थ की व्याख्या करते हुए एवं एकादश प्रकाश के मध्य में प्रबन्ध-सम्बन्धी चर्चा का प्रारम्भ करते हुए भोज ने जानकीहरण और कुमारसंभव आदि महाकाव्यों के नामों के महत्त्व का विवेचन किया है। प्रथम विषय के संदर्भ में कम से कम यह कहा जा सकता है कि इन नामों में साहित्यिकता का थोड़ा बहुत अंश अवश्य है क्योंकि इनसे कथानक का संकेत मिलता है। इसे ही वाक्यार्थ कहते हैं। किन्तु एकादश प्रकाश में द्वितीय विषय के सम्बन्ध में भोज व्याकरणाशास्त्री के समान विचार करते हैं कि इन नामों में कौन समास है। भोज के इन दोनों विवेचनों की तुलना में कुन्तक का यह नाम विवेचन अधिक साहित्यिक महत्त्व का है क्योंकि उन्होंने प्रबन्ध वक्रता के अन्तर्गत प्रबन्ध काव्यों के सुन्दर और विशिष्ट सांकेतिक नाम रखने की चर्चा की है। आस्तांवस्तुपु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम्।

प्रधानसंविधानाङ्क नाम्नापि कुस्ते कविः। व. जी. 4-24 पृष्ठ 243 पर इसकी वृत्ति भी देखिये। इसी प्रकार साहित्य का कुन्तककृत निरूपण भोज के निरूपण की अपेक्षा कहीं अधिक उच्चकोटि का है। कुन्तक ने पदवाक्य, अर्थ और तात्पर्य आदि के प्रश्न को अन्य क्षेत्रीय मानकर छोड़ दिया है और अपने ग्रन्थ में साहित्य का विवेचन विशुद्ध काव्यात्मक दृष्टिकोण से किया है।

भोज ने शब्द और अर्थ के विवेचन से कई प्रकाश भर दिए हैं। साथ ही उनका शब्दार्थ-विवेचन विशुद्ध व्याकरणिक दृष्टिकोण से युक्त है। इसकी तुलना में कुन्तक का शब्दार्थ विवेचन जो काव्य की परिभाषा “शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्” में ही मुखरित है, अत्यन्त सुन्दर विचारों से परिपूर्ण एवं साहित्यिक दृष्टि से बहुमूल्य है। शब्दार्थ पारमार्थ्य।
(व. जी. 1, 8-9 पृ. 14-22)

अब आइए भोज की वक्रोक्ति की और लौटें। भोज ने काव्य की परिभाषा करते हुए वक्रोक्ति के विषय में जो एक सूत्र तुल्य श्लोक लिखा है वह ऊपर उद्धृत ही किया जा चुका है।

यद् वक्रं वचः शास्त्रे लोके च क्व एव तत् ।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥

यह स्पष्ट नहीं है कि “यदर्थ वादादौ” में आया शब्द से भोज का तात्पर्य क्या था। एक अन्य स्थान पर विभिन्न वाक्य धर्मों के प्रसंग में भोज ने अर्थवाद की परिभाषा दी है और उसके अनुसार इसका अर्थ प्रशंसा या निंदा होता है जिसे संदर्भ के अनुसार समजित कर लिया जाता है। इत तरह अर्थवाद पक्ष या विपक्ष में एक प्रकार की अतिशयोक्ति होती है।¹

स्तुतिनिर्दार्यमतिशयोक्तिरर्थवादः । तद्यथा मनोजवोऽश्वः विश्वव्यापिनी तृणोति यथा च स्तुतौ --

कवीनां मानसं नमि तरन्ति प्रतिभाम्भसि ।
यत्र हंस वयांसीव भुवनानि चतुर्दश ।

यथावानिन्दायाम् --

एषां प्राणिवधः क्रीडा नर्मवर्मच्छिदौगिरः ।

परापवादः कर्तव्यं तेमृत्योरपि मृत्यवः । मद्रास नवम प्रकाश, जिल्द 2 पृ. 156 ।

काव्य के प्रति यह दृष्टिकोण राजशेखर द्वारा लिखित यायावरीय के इस मत से मिलता जुलता है कि काव्य में वस्तुओं का वह स्वरूप नहीं होता जो लोक में दिखाई पड़ता है। वे कवि की इच्छा अथवा उसके द्वारा वर्णित पात्रों के चरित्र के अनुसार रूप ग्रहण करती हैं। प्रतिभासनिबन्धनम् (काव्यमी.पृ. 44-45) यहीं उन्होंने अपनी पत्नी अवन्तिमुन्दरी का भी मत दिया है। उनके अनुसार काव्य में वस्तुओं का कोई एक निश्चित स्वभाव नहीं होता क्योंकि कवि लोगों का कलाविदग्ध मस्तिष्क और उनकी कथन-प्रणालियाँ वस्तुओं की अनेक रूपों में कल्पना कर लेती हैं। वस्तु की वैज्ञानिक और वास्तविक सत्ता कवि के निकट महत्त्व नहीं रखती। वह अपनी मान्यता और अभिव्यक्ति के अनुसार अच्छा या बुरा बना लेता है। वह चन्द्रमा की प्रशंसा करता है तो उसे अमृत दीधिति बना देता है। और यदि उसे बुरा

- (1) तुलना कीजिए— भामह के मत में भी समस्त काव्योक्तियाँ अतिशयोक्ति होती हैं (2-85) दण्डी 2-220, आनन्दवर्धन 3-पृ. 360-8) ।

वतलाना चाहता है तो उसे दोषाकर कह देता है ।

“विदग्धभगितिभिर्ज्ञनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम्” इति अवन्ति-
मुन्दरी । तदाह—

वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रं गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये ।
स्तुवन् निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दस्तु दोषाकरमाह धूर्तः ॥

काव्यमी. पृ. 46 ।

इस कथन की यायावरीय के (पृ. 25) इस कथन से तुलना की जा सकती है कि काव्य में वस्तु का सत्य या असत्य होना कोई अर्थ नहीं रखता यह सब एक अर्थवाद है ।

नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः ।

स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च ॥

यह श्लोक भोज के वक्रता, काव्य और अर्थवाद विषयक संक्षिप्त निरूपण पर कुछ प्रकाश डालता है । वेदशास्त्र और लोक में अर्थवाद के प्रकरणों को काव्य के अन्तर्गत माना जाना चाहिये ।

“वक्रं यदर्थं वादादौ” के आदि के विषय में प्रो. स. कुप्पुस्वामी शास्त्री का सुझाव है कि इससे भोज का संकेत मन्त्र, स्तोत्रों तथा वर्णनात्मक ऋचाओं की ओर है क्योंकि वे सब काव्य हैं । किन्तु मुझे यहां ‘आदि’ शब्द निरर्थक मालूम होता है और केवल अर्थवाद शब्द ही काव्य की एक प्रकार की परिभाषा देता दिखाई दे रहा है । अर्थवाद में हम मूल अर्थ को छोड़ देते हैं । काव्य में भी ऐसा ही होता है । हम अर्थवाद में केवल तात्पर्य या इप्सित अर्थ को ही ग्रहण करते हैं जो या तो स्तुति रूप या निन्दा रूप होता है । काव्य में भी केवल दो तत्त्व होते हैं । वस्तुओं का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष वतलाना यह अर्थ या रस अर्थात् प्रसंग और वस्तु के अनुसार होता है । महिमभट्ट ने भी कहा है—

विनोत्कर्षापिकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित् ।

तदर्थमेव कवयोऽलङ्कारान् पर्युपासते ॥ व्यक्तिविवेक, पृ. 53

त. स. सी.

स. क. आ. के टीकाकार रत्नेश्वर, जैसा कि पहले सिद्ध किया जा चुका है भोज के श्रु. प्र. से भी परिचित थे । उन्होंने वक्रता के सबन्ध में भोज के विचारों को स्पष्ट किया है । उन्होंने स. क. आ. की टीका में “यद्वक्रम्” आदि अनुष्टुप् कारिका को उद्धृत किया है । भोज ने दोषों के अन्तर्गत अतीतिमत का उल्लेख किया है । जो औदार्य गुण के ठीक विपरीत है । भोज ने इस औदार्य-विपर्यय को अनलंकार कहा है ।

यस्तु रीतेरनिर्वाहादीदायंस्य विपर्ययः ।

वाक्यं तदनलङ्कारमलङ्कारविदो विदुः ॥

वृत्ति—

तदिदमपुष्टार्थत्वाद् अनुत्कृष्ट विशेषणमनुदारं निरलङ्कारमाचक्षते सोऽयमौदार्यं विपर्ययः ।

स. क. आ. १-पृ. ३० ।

यहां अनलङ्कार शब्द में अलङ्कार शब्द का प्रयोग काव्य के लिये आवश्यक न्यूनतम सौंदर्य या मूल आवश्यक तत्त्व के अर्थ में हुआ है। यहां भोज ने अलंकार शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। जैसा कि उन्होंने इसे स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति में विभाजित करते समय किया। इसी तरह अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग भोज के निरलङ्कार नामक वाक्यार्थ दोष के प्रसंग में हुआ है। इस दोष के संदर्भ में भी भोज ने इसी बात पर जोर दिया है कि काव्य कहलाने के लिये उक्ति का अलङ्कार युक्त होना आवश्यक है अन्यथा वह सामान्य वचस् कहलायेगी। औदार्य विपर्यय की टीका करते हुए रत्नेश्वर ने इस बात को स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि वक्रता के बिना काव्य की सम्भावना नहीं की जा सकती।

यस्तु रीतेरिति । काव्यरूपताप्रयोजकं शब्दार्थयोः वक्रता उदारता । न हि वक्रता-
मन्तरेण काव्यपदवीप्राप्तिः । तदाह—

यत्तु (द) वक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।

वक्रं यदनुरागादौ तत्र काव्यमिति श्रुतिः ॥ (शृ. प्र.)

तदेतदलङ्कारसामान्यस्याभावे निरलङ्कारता भवतीत्याह—अनलङ्कारमिति.....प्रकृतो-
दाहरणे द्वयोः (शब्दार्थयोः) अवक्रत्वस्फुटयति ।

स. क. आ. पृ. ३० ॥

यहां रत्नेश्वर ने भोज द्वारा शृ. प्र. में दो बार उल्लिखित “यद् वक्रं” आदि श्लोक को उद्धृत किया है। जिस संदर्भ में तथा जिस उद्देश्य से रत्नेश्वर ने यह श्लोक उद्धृत किया है उससे इसका अर्थ काफी स्पष्ट हो जाता है। रत्नेश्वर का कथन है कि अलङ्कार का उद्देश्य काव्य के अनिवार्य मुख्य तत्त्व को अभिव्यक्त करना है। यह वक्रता का पर्याय है। यही काव्यरूपता का प्रयोजक है। अपने वक्तव्य के समर्थन के लिये ही रत्नेश्वर ने भोज की यह वक्रता विषयक उक्ति उद्धृत की है। रत्नेश्वर द्वारा उद्धृत कारिका की प्रथम पंक्ति का पाठ “यद् वक्रम्” के स्थान पर “यत्तु वक्रम्” है

यह स्पष्ट भूल है। अन्तिम चरण में भी एक मामूली परिवर्तन है। उसमें ‘तस्य’ के स्थान पर ‘तत्र’ और ‘स्मृतिः’ के स्थान पर ‘श्रुतिः’ पाठ कर दिया गया है। किन्तु वास्तविक महत्वपूर्ण परिवर्तन उसमें “अर्थवादादौ” के स्थान पर “अनुरागादौ” कर दिया गया है। संभवतः दोनों का अर्थ एक ही है। अनुराग का अर्थ प्रेम है जिसका परिणाम होता है। प्रशंसा और आदि का अर्थ द्वेष जिसका परिणाम होता है निन्दा। इस प्रकार “अनुरागादौ”

का तात्पर्य भी स्तुति और निन्दा ही निकलता है।¹ निरलंकार नामक वाक्यार्थ दोष के अन्तर्गत रत्नेश्वर ने भोज की व्याख्या निम्नलिखित ढंग से की है।

वक्रता के बिना अलंकार नहीं हो सकता। अतः काव्य भी संभव नहीं है। वक्रता कवि की प्रतिभा की उपज एवं सहृदय संवेद्य है। यह वक्रता स्वभावोक्ति में भी मिलती है और इसी कारण स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानते हैं। किन्तु वक्रता अथवा अलंकार से शून्य होने के कारण “गोरपत्यम् वलीवर्दः” जैसे शुष्क और सीधे कथन स्वभावोक्ति अथवा जाति के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार की सपाट उक्तियां निरलंकार दोष के अन्तर्गत आती हैं।

वक्रता-व्यतिरेकेऽलङ्कारसामान्यं एव न स्यादिति निरलङ्कारमित्युक्तम्। + + + ततो जात्यलङ्कारेण वक्रत्यमाक्षिप्यते + + + स्वरूपं चमत्कारिक विप्रतिभामात्रप्रकाशनीयं रूपं तदेव अलङ्कार कक्षामधिशेते। + + + कथं तर्हि वक्रता भावरूपदीर्घपुच्छ इत्यादिः शब्ददोषाद्भिद्यते। + + + + शब्दानामेव वक्रताव्यतिरेकेण अपवादः इति शब्ददूषणम्, इह तु न तथाः। किन्तु उक्तमेव स्वरूपं न वक्रम् इति वाक्यार्थ एव दुष्टः।

स. क. आ.। व्याख्या, पृष्ठ 38

औदायं विपर्यय अथवा अनलंकार का पूर्वोक्त उदाहरण इस बात पर जोर देता है कि शब्दवक्रता और अर्थवक्रता आवश्यक है। और यह निरलङ्कार वाक्यार्थ-दोष है। इससे पूर्व भी रीतिमत् दोष के प्रारम्भिक भाग की व्याख्या करते हुए रत्नेश्वर ने कुछ विचार भूमिका रूप में प्रकट किये हैं जिनमें उन्होंने संकेत किया है कि श्लेष आदि नौ गुण अभीप्सित वक्रता की सृष्टि करते हैं जिसके बिना कोई उक्ति काव्य नहीं कहला सकती। एतद् (श्लेषादि नव) योगाद् वक्ररूपतामासाद्यकाव्यव्यपदेशं लभते-पृष्ठ 24।

गुणों और अलंकार के भेद के संदर्भ में भोज और रत्नेश्वर दोनों ने वामन का अनुसरण किया है। यदि अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ लेकर उसे सौन्दर्य या काव्यशोभा धर्म कहें तो गुण भी अलंकार माना जायगा। किन्तु गुण नित्य और अनिवार्य है जबकि उपमादिक अलंकार ऐच्छिक अर्थात् अनित्य। गुण की अनुपस्थिति में काव्य ही नहीं होता जबकि अलंकार काव्य की शोभा में अभिवृद्धि करता है। इस प्रकार मूल सौन्दर्य अथवा वक्रता के कारणभूत है गुण और यह वक्रता उपमादि अलंकारों की योजना से और बढ़ जाती है। अतः एक प्रकार से यद्यपि वक्रोक्ति और अलंकार का अर्थ गुण भी होता है तो भी उनका तात्पर्य शोभतिशय अथवा उपमादि अलंकार लिया जाता है जो सरलता से संवेद्य वक्रत्व की अभिवृद्धि का कारण होता है।

समाधि नामक शब्दगुण के अन्तर्गत रत्नेश्वर ने स्पष्ट किया है कि समाधि के अन्तर्गत वक्रता का भी समावेश होता है—सम्यगाधानम् आरोपणं समाधिः। सम्यक्त्वं च वक्रता। लोकातिगत्वम्। पृष्ठ 54।

(1) एक तीसरी स्थिति भी होती है—माध्यस्थ्य जिसमें न निन्दा होती है, न स्तुति। देखिए राजशेखर को काव्य मीमांसा के पृष्ठ 46 पर पाल्यकीर्ति का मत।

श्लेष नामक अर्थगुण के अन्तर्गत रत्नेश्वर ने वामन के कौटिल्य को वक्रता माना —तत्र कौटिल्यं लोकातिगामिनी वक्रता । अवक्रयोः शब्दार्थयोः वचनमात्रत्वात् । पृष्ठ 63 । इसमें द्वितीय वाक्य तो भोज के इस कथन का ही विशदीकरण है कि काव्य और वचस् वक्र और अवक्र होते हैं । पुनः अर्थसमता गुण के अन्तर्गत रत्नेश्वर ने कहा है कि वक्रता पूर्णतः अनिवार्य है । “वक्रता चात्र विशेषणमूहनीयम् । अन्यथा भुक्तवा व्रजति इत्यतः को विशेषः स्यात् ।” पृष्ठ 64 ।

उन्होंने अलंकार के वैशेषिक गुण के संदर्भ में कहा है अनुगतेन वक्त्रीभावेन तत् समर्थनात् । पृष्ठ 109 । निरलङ्कार वैशेषिक गुण के अन्तर्गत रत्नेश्वर ने वक्रत्व को साथ-साथ अलंकार मान लिया है । “वक्रत्वं च अलङ्कार इति । ++ सामान्येन वक्रता प्रकाशत एव ।” पृष्ठ 109 ।

वक्रोक्ति अलंकार

वक्रोक्ति संबन्धी इस मत के साथ जिसका सामान्य अर्थ है काव्योक्ति और अलंकार, वक्रोक्ति नामक एक काव्यालंकार भी रहा होगा जिसके अन्तर्गत सामान्य और भङ्गश्लेष से संबन्धित चातुर्यपूर्ण संवाद माने जाते होंगे । भामह और दण्डी के ग्रन्थों में वक्रोक्ति नामक विशेष अलंकार नहीं मिलता । इन दोनों ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अलंकार सामान्य के लिये किया है किंतु दण्डी के इस कथन में कि सामान्यतया श्लेष से वक्रोक्ति का सौन्दर्य बढ़ जाता है, वक्रोक्ति का क्षेत्र संकुचित कर दिया जान पड़ता है क्योंकि श्लेष का सम्बन्ध सब प्रकार की वक्रोक्तियों से नहीं होता । दण्डी के इस कथन से कि इस श्लेष तत्त्व बहुत से अन्य अलंकारों को चारुता प्रदान कर सकता है बहुत कुछ पता चलता है सिद्धान्त सम्बन्धी लेखकों में सर्वप्रथम रुद्रट ही ऐसे हैं जिन्होंने सर्वप्रथम संकुचित अर्थ में वक्रोक्ति का प्रयोग किया है । उन्होंने इस शब्द का प्रयोग अलंकार सामान्य के अर्थ में कभी नहीं किया । उन्होंने वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार का उल्लेख किया है जिसमें सुर या ध्वनि के परिवर्तन के सहारे बड़े चातुर्यपूर्ण ढंग से संवाद का अर्थ ही बदल दिया जाता है । इसका एक भेद सभङ्ग-श्लेष पर आश्रित है (2, 14-17) । इसका काव्याश्रित भेद सरलता से ही वक्रोक्ति के अंतर्गत नहीं मानी जाने लगा । राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इसकी आलोचना भी की । आनन्दवर्धन के समय में रत्नाकर कवि ने वक्रोक्तिपञ्चाशिका नामक खण्डकाव्य लिखा जिसमें सभङ्गश्लेष पर आश्रित वक्रोक्तियाँ हैं । सभङ्गश्लेष वक्रोक्ति रुद्रट द्वारा बतलाये गये दो भेदों में से एक है । मम्मट ने रुद्रट की बात को पूरी तरह स्वीकार किया और उन्होंने भङ्गश्लेष और काकु वक्रोक्ति दोनों को शब्दालंकार प्रकरण में सम्मिलित किया । राजशेखर का अनुसरण करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने काकु को वक्रोक्ति का भेद मानने से इनकार किया । आनन्दवर्धन के अनुयायी के रूप में उन्होंने काकु को गुणिभूत व्यङ्ग्य के अन्तर्गत रखा और केवल भङ्गश्लेष वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना । मम्मट ने रुद्रट के निरूपण में सभङ्गश्लेष को और जोड़ दिया और हेमचन्द्र ने इस बात में मम्मट का अनुसरण किया किन्तु रुय्यक ने (पृ. 175) मम्मट की बात का अनुमोदन करते हुए श्लेषमूलक और काकु-मूलक दोनों वक्रोक्तियों को अंगीकृत किया । यद्यपि उन्होंने इन्हें अर्थालङ्कारों के अंतर्गत

माना। वक्रोक्ति का भविष्य अन्ततोगत्वा रुच्यक पर आश्रित रहा। विद्यानाथ ने रुच्यक का अनुसरण किया (पृ. 296 बाल. सं.) अप्पयदीक्षित ने भी वैसा ही किया। फिर भी विद्यानाथ ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार के अन्तर्गत रखने में पूर्णतः मम्मट का अनुसरण किया है।

इस प्रकार रुद्रट के पश्चात् वक्रोक्ति शब्द और अर्थ से सम्बन्धित विशिष्ट काव्यालंकार एवं सामान्य अलंकार दोनों का बोधक बन गया। संभवतः सभङ्ग शब्द-श्लेष के आधार पर एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को संवाद में निरुत्तर कर देने के लिये वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग प्रचलित रहा होगा और इस प्रकार इसका इतिहास काव्यशास्त्र के उस काल तक पहुँचता है जिसका कोई ग्रन्थ आज हमारे सम्मुख उपलब्ध नहीं है। यह बात बिल्कुल सम्भव में आ सकती है कि किस प्रकार यह संभाषण वक्र उक्ति कहलाया होगा और किस प्रकार भामह के समय तक आते आते यह शब्द सामान्य अलंकार का वाचक बन गया होगा यहाँ तक कि हमें इस बात का कोई पता नहीं चलता कि इस नाम का कोई विशिष्ट अलंकार भी था। किन्तु यह निश्चय करना संभव नहीं है कि भङ्गश्लेष वक्रोक्ति ही व्यापक रूप ग्रहण कर वक्रोक्ति बन गई अथवा भामह और दण्डी की व्यापक वक्रोक्ति ही संकुचित हो कर रुद्रटकालीन शब्दालंकार मात्र बनकर रह गई। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में वक्रोक्ति का प्रयोग व्यापक अर्थ में सामान्य अलंकार के अर्थ में हुआ है। रुच्यक के मत में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में होता है।

वक्रोक्तिश्च अलंकारसामान्यवचनोऽपि इह अलंकारविशेषे संज्ञितः। पृ. 177 विद्यानाथ ने भी वक्रोक्ति अर्थालंकार के विषय में कहा है उक्ति वक्रत्वे कथंचित् संभवत्यपि एवं विधलक्षणाभावात् सर्वालंकारेभ्यो भिद्यते। पृ. 296

भोज में हमें इस संकुचित वक्रोक्ति का प्रयोग विशिष्ट काव्यालंकार के अर्थ में भी मिलता है और सामान्य व्यापक अलंकार के लिये भी। मम्मट के साथ साथ भोज ने भी रुद्रट का अनुसरण करते हुए वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है। किन्तु भोज ने स्वयं शब्दालंकार नामक एक स्वतंत्र अलंकार वर्ग का निर्माण किया और वक्रोक्ति को उसका एक उपभेद माना। भोज ने अलंकार ग्रन्थों में मिलने वाले वक्रोक्ति के समस्त उदाहरणों एवं वक्रोक्ति पञ्चाशिका जैसे समस्त उदाहरणों में पाये जाने वाले संवादों और इस प्रकार के अन्य संवादात्मक तत्त्वों को भोज ने शब्दालंकार के प्रमुख वर्ग के अन्तर्गत रखा है और उसे वाकोवाक्य नाम दिया है।

उक्तिप्रत्युक्तिमद् वाक्यं वाकोवाक्यं विदुर्बुधाः। स. क. आ. 2, 143 पृ. 252 इस उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्य के छः भेदों में से वक्रोक्ति एक है। भोज ने रुद्रट की वक्रोक्ति के एकमात्र भेद श्लेष वक्रोक्ति को स्वीकार किया है। उन्होंने काकुरूप को पृथक् कर दिया है। भोज ने काकु को एक अन्य शब्दालंकार के अन्तर्गत रखा है जिसे पठिति कहते हैं। यह बात अधिक समझ में आने योग्य है।

(स. क. आ. पृ. 164) भोज ने श्लेष वक्रोक्ति के दो भेद किये हैं। निर्व्यूढ और अनिर्व्यूढ। निर्व्यूढ वक्रोक्ति संपूर्ण छन्द को आच्छादित करती है किन्तु अनिर्व्यूढ सम्पूर्ण श्लोक में नहीं फैली रहती। निर्व्यूढ के उदाहरण के रूप में भोज ने रुद्रट का ही उदाहरण ले लिया है (स. क. आ. पृ. 253)। इस प्रकार भोज के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है। (1) अलंकार, वक्रता, सामान्यतया विशिष्ट काव्य-त्मक उक्ति, अर्थात् काव्य की मूल परिभाषा (2) अलंकार का एक भेद अर्थात् उपमादिक में से एक अलंकार। इसके दो अन्य भेद हैं स्वभावोक्ति और रसोक्ति। इन तीनों के अन्तर्गत समस्त काव्य आ जाता है और (3) वाकोवाक्य नामक शब्दालंकार का एक भेद।

वक्रोक्ति और लक्षणा वृत्ति

वक्रोक्ति के इतिहास में वामन की स्थिति सबसे अलग है वे अपने विशिष्ट मत के कारण अन्य सब विचारकों से अलग खड़े हैं। सर्वप्रथम वामन की रचना में ही वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग संयत अर्थ में मिलता है। उनके यहाँ यह एक विशिष्ट अर्थालङ्कार है। वामन की स्थिति रुद्रट से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि वे भी इसे एक विशिष्ट अलंकार ही मानते हैं। किन्तु उनके मत में यह शब्दालंकार है। वामन ने इसे अर्थालङ्कार माना है क्योंकि उनके मत में इसमें समता या उपमा तत्त्व रहता है। यह अर्थालङ्कार वही है जिसे दण्डी ने समाधि गुण कहा है जिसमें समता के आधार पर एक के विशेषणों का उपयोग दूसरे के लिये हो सकता है। सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः (4-3-8) वामन निश्चय पूर्वक कहते हैं कि सादृश्य पर आश्रित लक्षणा का ही नाम वक्रोक्ति है, सामीप्य पर आश्रित लक्षणा का नहीं। 'बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्, तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति। ++ असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः।' काव्या. सूत्र और वृत्ति पृ. (30-31)

लेकिन वे लेखक जो समस्त सौन्दर्य पूर्ण काव्योक्तियों को वक्रोक्तियों के अन्तर्गत रखना चाहते हैं कहेंगे कि न केवल सादृश्य लक्षणा अपितु लक्षणा के अन्य समस्त प्रकार भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत हैं। यदि अभिधामूलक ध्वनि आदि लक्षणेतर उक्तियाँ वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्वीकार की जाती हैं तो सादृश्येतर लक्षणा भी वक्रोक्ति मानी जायगी, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। शृ. प्र. के सप्तम प्रकाश के प्रारम्भ में भोज ने लक्षणा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत किया है जिसमें अभिधा लक्षणा और गोणी वृत्तियों की चर्चा है। लक्षणा की परिभाषा करते हुए भोज ने कहा है।

तदुक्तम्; अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।

सैषा विदग्धवक्रोक्ति-जीवितं वृत्तिरिष्यते ॥

शृ. प्र. मद्रास पाण्डुलिपि, जिल्द 1 पृ. 429

वे लेखक जो अभिधा के अतिरिक्त एकमात्र लक्षणावृत्ति को ही स्वीकार करते हैं और अभिधा से संबन्धित अन्य सब अर्थों को उसी के अन्तर्गत रखते हैं तथा वे लेखक जो काव्य

के समस्त चमत्कारातिशय को वक्रोक्ति मानते हैं, भोज के उक्त वक्तव्य को पूर्णतः स्वीकार करेंगे। इसमें लक्षणा को कवि की वक्रोक्ति का प्राण माना गया है भोज ने उक्त श्लोक उद्धृत करते हुए अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं दी है। अपने ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं इस श्लोक का उपयोग उन्होंने नहीं किया है और न कहीं इसमें निहित विचारों का विशदीकरण ही किया है। वक्रोक्ति संबंधी “यद् वक्रम्” आदि श्लोक के विषय में उन्होंने ऐसा नहीं किया। किन्तु यहाँ उन्होंने इस एक मात्र अनुष्टुप् को ही हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। यह निर्णय करना कठिन है कि यहाँ लक्षणा से उनका अभिप्राय केवल सादृश्य मूला से है अथवा समस्त लक्षणाओं से संभवतः यहाँ वक्रोक्ति से भोज का आशय वामन की सादृश्य लक्षणा पर आश्रित वक्रोक्ति से नहीं बल्कि उस व्यापक वक्रोक्ति से है। जो कि उनके ग्रन्थ में बार बार मिलती है। और संभवतः भोज यहाँ यह कहना चाहते हैं कि लक्षणा सब प्रकार की वक्रोक्तियों अर्थात् सामान्य अलंकार का प्राण है ठीक वैसे ही जैसे कि दण्डी ने कहा है कि श्लेष समस्त वक्रोक्तियों में शोभातिशय उत्पन्न करता है अपनी परिभाषा तथा दोनों प्रकार की लक्षणाओं (लक्षणा और लक्षित लक्षणा) के सब उपभेदों के उदाहरणों के अन्त में भोज ने कहा है कि काव्योक्तियों में सब प्रकार की लक्षणाओं का बाहुल्य पाया जाता है। भोज ने उदाहरण स्वरूप बहुत से सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किये हैं। (जिल्द 2 पृ. 14-18) इन श्लोकों में बहुत से लक्षणा मूलक ध्वनि के उदाहरण के रूप में ध्वन्यालोक में उपलब्ध है। निश्चय ही इन सबमें सादृश्य लक्षणा सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु हम मान सकते हैं उपर्युक्त छन्द में भोज का उद्देश्य वामन के इस कथन को दोहराना भर नहीं था कि वक्रोक्ति सादृश्य लक्षणा पर आश्रित होती है। अपितु संभवतः उनका आशय यह था कि सब प्रकार की वक्रोक्ति के मूल में लक्षणा (सब प्रकार की) पाई जाती है। 12

साहित्य विषय पर भोज के ग्रन्थ का सारोल्लेख करने वाले शारदातनय ने अपने भावप्रकाश के पृ. 145 पर लक्षणा और वक्रोक्ति के प्रसङ्ग में इस श्लोक को उल्लेखित किया है—

(1) भोज ने उपर्युक्त अनुष्टुप् का उल्लेख “तदुक्तम्” के साथ किया है। हमें पता नहीं कि इसका रचयिता कौन हैं संभवतः यह श्लोक स्वयं भोज का है किन्तु प्रथम पंक्ति “अभिधेयाविनाभूत” आदि भोज की नहीं है। यह कुमारिलकृत लक्षणा की परिभाषा है। जिल्द-2 के पृष्ठ, 242 पर गौणवृत्ति और उपचार पर चर्चा करते हुए भोज ने इसका उल्लेख किया है। उन्होंने गौणी वृत्ति की परिभाषा के रूप में उसके रचयिता भट्ट अर्थात् कुमारिल के नामोल्लेख के साथ इसे प्रस्तुत किया है। संभवतः भोज ने लक्षणा की परिभाषा सम्बन्धी यह प्रथम पंक्ति कुमारिल से ली है और लक्षणा को वक्रोक्ति का प्राण बतलाने वाली द्वितीय पंक्ति अपनी ओर से जोड़ दी है। द्वितीय पंक्ति और उसमें निहित विचारों के भोज-प्रतिपादित होने में सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका प्रारंभ ‘तदुक्तम्’ से हुआ है। अन्य स्थानों पर भी भोज अपने श्लोकों को तदुक्तम् कह कर प्रारंभ करते हैं। यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि संयोगवश हमें इस श्लोक में वक्रोक्ति और जीवित ये दोनों शब्द संयुक्त रूप में मिलते हैं, जो कि कुन्तक के ग्रन्थ का नाम है।

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
 सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ॥
 क्रोशन्ति मञ्चा इत्यादौ सा वृत्तिरवगम्यते ।
 लक्ष्यमाराणुगैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥

अपने शैय नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत भोज ने प्रकीर्ण घटना नामक एक भेद का उल्लेख किया है (स. क. आ. पृ. 159-64) यहां भोज ने काव्योक्तियों में मुख्या गौणी और लक्षणा नामक शब्द वृत्तियों की विद्यमानता की चर्चा की है। इस पर टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर ने ऊपर चर्चित कारिका उद्धृत (पृ. 162) की है और ऐसा लगता है कि उनके विचार से भी वक्रोक्ति की जीवितरूपा यह लक्षणा केवल सादृश्यमूला नहीं अपितु सभी प्रकार की है।

—लक्षणा । तत्तम् —

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
 सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ॥

सा द्विधा शुद्धा, लक्षितलक्षणा च”

यहाँ रत्नेश्वर ने भोज द्वारा प्रस्तुत उदाहरण उद्धृत करते हुए श्रु. प्र. के लक्षणा-विषयक मूल-पाठ के (जिल्द 2 से) एक अंश का सार भी प्रस्तुत किया है।

यहां शारदा तनय ने लक्षणा का उदाहरण “क्रोशन्ति मञ्चाः” दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ भोज का आशय सब प्रकार की लक्षणा से है। श्रु. प्र. और भाव-प्रकाश से अधिकतर सामग्री ग्रहण कर लिखने वाले बहुरूप मिश्र नामक लेखक ने शारदा-तनय से उक्त श्लोक उद्धृत किये हैं। (पृ. 74 मद्रास पाण्डुलिपि आर. 4188) उन्होंने विदग्ध वक्रोक्ति की प्रारारूपा लक्षणा के विषय में भोज की कारिका उद्धृत की है।

यहां वक्रोक्ति की प्रारभूता लक्षणा के अन्तर्गत सब प्रकार की लक्षणा आती है और वक्रोक्ति से वह आशय नहीं है जो कि वामन ने स्वीकार किया था अपितु वक्रोक्ति का अर्थ है सब प्रकार की काव्योक्तियाँ। यह बात भोज के परुषदोष के वैशेषिक गुण पर रत्नेश्वर की व्याख्या से भी सिद्ध हो जाती है (स. क. आ. 1-145 पृ. 114) भोज का कथन है कि विरुद्ध लक्षणा में परुषदोष गुण बन जाता है। इस पर टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर ने भोज की उपर्युक्त कारिका (विकृत रूप में) उद्धृत की है। (स. क. आ. पृ. 114)



एकादश परिच्छेद

भोज व स्वभावोक्ति

भोजकृत स्वभावोक्ति के वर्णनमें हमें कुछ नई बातें मिलती हैं। प्रथम तो इस अलंकार के स्वरूप के विषय में स. क. आ. में भी कुछ नई जानकारी उपलब्ध है। दूसरे एक मौलिक विचार स्वभावोक्ति की नई परिभाषा तथा स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के संबंध में दण्डी के मत का व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण ये सब बातें भोज के श्रु. प्र. में मिलती हैं। स. क. आ. में भोज ने स्वभावोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

नानाऽवस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः ।

स्वेभ्यस्त्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते ॥

अर्थव्यक्तेरियं भेद नियता प्रतिपद्यते ।

जायमानप्रि (मि) यं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम् ॥ 3, 4, 5

निर्णयसागर के स. क. आ. में अशुद्धमूल पाठ दिया हुआ है जायमान मियं वक्ति रूपम् । किन्तु काव्यप्रकाश तंजोर सं. सी. भाग 2 पृ. 187 की भट्टगोपाल कृत व्याख्या में इस श्लोक को उद्धृत किया गया है। और वहाँ इसका रूप “जायमानमियं वक्तिरूपम्” यह पाठ सुरक्षित है। प्रथम कारिका में भोज ने अपने प्रथम जाति नामक अर्थालंकार की परिभाषा दी है। जाति स्वभावोक्ति का दूसरा नाम है।

संभवतः जातिशब्द मूल रूप में उस जाति का बोधक रहा होगा जो स्वभावोक्ति में मिलती है। स्वभावोक्ति या स्वभावाख्यान इस अलंकार के मौलिक स्वरूप पर जोर देता है जिसका अर्थ है स्वाभाविक वर्णन। भोज की परिभाषा जाति नाम की नई व्याख्या प्रस्तुत करती है। भोज का कथन है कि यहाँ जाति का अर्थ जातिसंबन्धी तात्त्विक मान्यता से ठीक उलटा है। इसका आशय वस्तुओं के उन रूपों से हैं जो विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं। किन्तु वे वस्तुओं के नित्य स्वभाव से सम्बन्धित होते हैं। भोजकृत स्वभावोक्ति की इस परिभाषा में दो बातें हैं। प्रथम वे विशेषताएँ जो विशिष्ट स्थितियों और दशाओं के परिवर्तन का परिणाम होती हैं—

“नाना अवस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि ।” और द्वितीय वे विशेषताएँ जो वस्तु का अपना नित्य स्वभाव है ‘स्वेभ्यस्त्वेभ्योनिसर्गेभ्यः ।’ पहले हम द्वितीय स्थिति अर्थात् उन विशेषताओं का परीक्षण करेंगे जो वस्तु के जन्म के साथ ही उसके स्वभाव अथवा प्रकृति के

अथ श्रीगणेशाय नमः
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

एकादश परिच्छेद

भोज व स्वभावोक्ति

भोजकृत स्वभावोक्ति के वर्णनमें हमें कुछ नई बातें मिलती हैं। प्रथम तो इस अलंकार के स्वरूप के विषय में स. क. आ. में भी कुछ नई जानकारी उपलब्ध है। दूसरे एक मौलिक विचार स्वभावोक्ति की नई परिभाषा तथा स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के संबन्ध में दण्डी के मत का व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण ये सब बातें भोज के शृ. प्र. में मिलती हैं। स. क. आ. में भोज ने स्वभावोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

नानाऽवस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः ।

स्वेभ्यस्त्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते ॥

अर्थव्यक्ते रियं भेद नियता प्रतिपद्यते ।

जायमानप्रि (मि) यं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम् ॥ 3, 4, 5

निर्णयसागर के स. क. आ. में अशुद्धमूल पाठ दिया हुआ है जायमान मियं वक्ति रूपम् । किन्तु काव्यप्रकाश तंजोर सं. सी. भाग 2 पृ. 187 की भट्टगोपाल कृत व्याख्या में इस श्लोक को उद्धृत किया गया है। और वहाँ इसका रूप 'जायमानमियं वक्तिरूपम्' यह पाठ सुरक्षित है। प्रथम कारिका में भोज ने अपने प्रथम जाति नामक अर्थालंकार की परिभाषा दी है। जाति स्वभावोक्ति का दूसरा नाम है।

संभवतः जातिशब्द मूल रूप में उस जाति का बोधक रहा होगा जो स्वभावोक्ति में मिलती है। स्वभावोक्ति या स्वभावाख्यान इस अलंकार के मौलिक स्वरूप पर जोर देता है जिसका अर्थ है स्वाभाविक वर्णन। भोज की परिभाषा जाति नाम की नई व्याख्या प्रस्तुत करती है। भोज का कथन है कि यहाँ जाति का अर्थ जातिसंबन्धी तात्त्विक मान्यता से ठीक उलटा है। इसका आशय वस्तुओं के उन रूपों से हैं जो विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं। किन्तु वे वस्तुओं के नित्य स्वभाव से सम्बन्धित होते हैं। भोजकृत स्वभावोक्ति की इस परिभाषा में दो बातें हैं। प्रथम वे विशेषताएँ जो विशिष्ट स्थितियों और दशाओं के परिवर्तन का परिणाम होती हैं—

“नाना अवस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि ।” और द्वितीय वे विशेषताएँ जो वस्तु का अपना नित्य स्वभाव है ‘स्वेभ्यस्त्वेभ्योनिसर्गेभ्यः ।’ पहले हम द्वितीय स्थिति अर्थात् उन विशेषताओं का परीक्षण करेंगे जो वस्तु के जन्म के साथ ही उसके स्वभाव अथवा प्रकृति के

रूप में उत्पन्न होती हैं। इसमें वे बातें सम्मिलित नहीं हैं जो ऊपर से आरोपित हो जाती है। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है क्योंकि स्वभावोक्ति में स्वभाव शब्द का यही प्रमुख और संधा अर्थ है। इसमें वर्णित गुण और क्रियाएँ वर्ण्यमान की शतप्रतिशत अपनी होनी चाहिये। मम्मट की परिभाषा में स्व शब्द द्वारा इसी बात पर जोर दिया गया है।

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ।

स्वयोः तदेकाश्रययोः । रूपं वर्णं संस्थानं च ॥

इसमें ऊपर से लादे गये या वाद में आरोपित किये गये वैशिष्ट्यों का—असम्बन्धे सम्बन्धोक्तिः और आरोपः जो अतिशयोक्ति और रूपक में परिणत होते हैं, निषेध है। मम्मट की उपर्युक्त परिभाषा पर टिप्पणी करते हुए विद्या चक्रवर्ती ने कहा है

स्वशब्दात् क्रियारूपयोः अनारोपितत्वम् अतः स्वभावोक्तिरिति अन्वर्थता । तंजोर सं. सी. भाग 2 पृ० 336

यदि साम्य या विरोध के रूप में कुछ जोर दिया जायगा तो वहाँ स्वभावोक्ति न होकर कोई औपम्य या विरोधमूलक अलंकार होगा। बाहरी विचार वस्तु को देखकर उत्पन्न होने वाले हमारे अपने विचार अथवा वस्तु के संबंध में हमारी अपनी पूर्व धारणाएँ ये सब स्वभावोक्ति के क्षेत्र के बाहर हैं। भोज की परिभाषा के स्वेभ्य 'स्त्वेभ्यो निसर्गोभ्यः' इन शब्दों के महत्व को रत्नेश्वर ने उक्त प्रकार से स्पष्ट किया है। कवि की निजी धारणा का एक उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है—

इत्यादावपि जातित्वं स्यात् । अत आह स्वेभ्यः इति । स्वभावभूतानि इत्यर्थः ।

पृ० 266 ।

इस प्रकार स्वाभाविक वर्णन का मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि वह विशुद्ध स्वभाव वर्णन होता है। इसके अन्तर्गत वर्णित रूप या वस्तु का अपना (स्वीय) और नैसर्गिक होना चाहिये। प्रथम विशेषण में भोज ने 'जायन्ते' शब्द को विशेष महत्व दिया है। इसी से जाति शब्द निष्पन्न होता है। जाति का यह नया अर्थ स्वभावोक्ति के क्षेत्र को सीमित करता है। भोज 'जायन्ते' शब्द पर जोर देते हैं। इसका अर्थ है किन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न। उदाहरणार्थ अश्व का वर्णन खड़े खड़े सोता है कहकर किया जा सकता है। यह अश्व का स्वभाव है। उसके खड़े होने का ढंग स्वरूप आदि बातें उसके निद्रावस्था के 'जाति-रूप' का अंग होते हैं। भोज इस बात पर क्यों जोर देते हैं कि स्वभावोक्ति के अन्तर्गत वर्णित बातें वे ही होनी चाहिये जो किसी वस्तु की विशिष्ट स्थिति या दशा को व्यक्त करें। उनके उपजीव्य और श्रेष्ठ आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार की सीमा रेखा नहीं बाँधी है। उन्होंने सीधे साधे ढंग से कह दिया है—“नानावस्थं पदार्थानाम् रूपम्” अर्थात् विभिन्न स्थितियों और क्रियाओं से परिविष्ट दिखाई देने वाली वस्तुओं का यथास्थित रूप। भोज ने 'जायन्ते' पर अपनी ओर से अधिक जोर दिया है क्योंकि वे वामन से लिये हुए अर्थव्यक्ति गुण को स्वभावोक्ति से पृथक् रूप में दिखाना चाहते हैं। स्वभावोक्ति की परिभाषा से सम्बन्धित उपर्युक्त दूसरा श्लोक भोज की बात को अधिक स्पष्ट करता है। इसमें भोज ने कहा है कि स्वभावोक्ति अलंकार अर्थव्यक्ति नामक गुण से भिन्न है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि भोज का अर्थव्यक्ति से क्या आशय है। और वास्तव में इस गुण का क्या अर्थ है? भोज की इस गुण के सम्बन्ध में चाहे जो भी धारणा रही हो, हमें यह देखना है कि यह गुण सामान्य काव्य से, विशेषतः स्वभावोक्ति से किस प्रकार सम्बन्धित है। इसी तरह की अन्य बातों पर भी विचार करना आवश्यक है।

दण्डी ने अर्थव्यक्ति का निरूपण एक दूसरे गुण-प्रसाद से संबन्धित गुण के रूप में किया है। इसमें स्वयं ऐसी कोई बात नहीं है जो स्वभावोक्ति अलंकार के क्षेत्र में आती हो। वामन का अर्थव्यक्ति नामक शब्द-गुण दण्डी के अर्थव्यक्ति गुण से पूरी तरह मिलता जुलता है यही स्थिति भोज की भी है। किन्तु वामन ने अर्थव्यक्ति नामक एक अर्थ गुण को भी स्वीकार किया है। और भोज ने उसे वामन से वैसे ही ले लिया है। वामन ने अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—

वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् अर्थव्यक्तिः । 3-2, 13 ।

वस्तुनां भावनां स्वभावस्य स्फुटत्वं यत्, असौ अर्थव्यक्तिः । भोज ने अर्थव्यक्ति अर्थगुण के उदाहरण के रूप में वामन की यह परिभाषा दी है साथ साथ अपनी परिभाषा उसमें जोड़ दी है।

अर्थव्यक्तिः स्वरूपस्य साक्षात् कथनमुच्यते ।

अत्र कुमुदस्वरूपस्य साक्षादिव प्रतीयमानत्वेन यत् स्पष्टरूपाभिधानमसावर्थव्यक्तिः । स. क. आ. 1 पृ. 65 । वस्तु के स्वरूप का स्पष्ट चित्रण-स्वरूपसाक्षात् कथन ही स्वभावोक्ति का अनिवार्य चिह्न है। “साक्षात् कथन” यह शब्द वामन के स्फुटत्व का स्थानापन्न है।

और भोज ने यह शब्द दण्डी की स्वभावोक्ति अलंकार की परिभाषा से उधार लिया है। “नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वति ।” इस बात पर हर लेखक ने जोर दिया है कि स्वभाववर्णन तभी काव्य के अन्तर्गत आता है या तभी अलंकार कहलाता है जब वह सामर्थ्यवान् प्रभावशाली और स्फुट हो। वाण ने कहा है— “जातिरग्राम्या” अर्थात् वस्तुस्वभाव का ऐसा वर्णन जो सीधा सादा शुष्क न हो। भामह ने स्वभावोक्ति का भी अन्तर्भाव वक्रोक्ति में कर दिया है। जिसका कारण स्वभावोक्ति में पाया जाने वाला यह चमत्कार ही है। उन्होंने स्फुटत्व या साक्षात् कथन से विरहित स्वभाव वर्णन को जिसमें वक्रोक्ति या चारुत्व न हो, वार्ता कहकर छोड़ दिया है।

गतोऽस्तमर्को, भातीन्दुः यान्तिवासाय पक्षिणः ।

इत्येवमादि किं काव्यं वातमिनां प्रचक्षते ॥

काव्यालंकार 2-87

हेतु, सूक्ष्म, और लेश में अलंकारता को अस्वीकार करते हुए उसके पास ही भामह ने उपर्युक्त उदाहरण देते हुए प्रश्न किया है कि क्या यह काव्य है? यह केवल सामान्य वचस् या केवल वार्ता है।

दण्डी ने इस बात पर जोर दिया है कि स्वभावोक्ति में सजीवता होनी चाहिये और उसका चित्र इतना विशद एवं स्पष्ट होना चाहिये कि हम उसे अपनी आँखों के सामने

प्रत्यक्षवद् देख सके। उन्होंने एक ही शब्द “साक्षात्” में इस विचार को निहित कर दिया है “रूपं साक्षात् विवृण्वति” इस पर तरुणवाचस्पति ने कहा है “साक्षाद् विवृण्वति प्रत्यक्षवद् दर्शयन्ति।”¹ रुद्रट ने अपने वास्तव अलंकारों के सामान्य वर्ग के लिये जिसमें जाति भी सम्मिलित है एक विशेषण दिया है “पुष्टार्थ” इससे इस बात को बल मिलता है कि जाति का स्पष्ट या स्फुट होना आवश्यक है। ये गुण अर्थव्यक्ति से उत्पन्न होता है। यद्यपि अर्थ-व्यक्ति सामान्यतया समस्त काव्योक्तियों में विद्यमान रहती है फिर भी स्वभावोक्ति का तो वह प्राण ही है।² अर्थव्यक्ति से रहित अथवा वामन के शब्दों में कहे तो वस्तुस्वभाव-स्फुटत्व से विरहित स्वभावोक्ति कोश धृत्त ‘ग्राम्य’ या अपुष्ट होती है। इस प्रकार अर्थ व्यक्ति गुण और स्वभावोक्ति अलंकार के बीच कोई विरोध नहीं है।

वामन के मत में अर्थव्यक्ति गुण के स्वीकार कर लिये जाने पर स्वभावोक्ति अलंकार की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी कारण से वामन के अर्थव्यक्तिगुण का खण्डन करते हुए वामन ने कहा है कि यह स्वभावोक्ति अलंकार से भिन्न और कुछ नहीं है “अपि च जातिर्नामायमलङ्कार इति/पृ० 199/भट्टगोपाल ने भी कहा है “वामन मर्यादा-त्वर्थव्यक्त्या स्वभावोक्त्यप्रलापः-काव्यप्रकाश व्याख्या पृ० 187 तं.सं.सी.। चाहे इस बात को देखे कि वामन का पूर्णतः अनुकरण करते हुए भोज ने अर्थव्यक्ति अर्थगुण को स्वीकार कर स्वभावोक्ति का परित्याग कर दिया हो या अर्थव्यक्ति और स्वभावोक्ति दोनों को स्वीकार कर यह मानते हों कि इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं है यद्यपि एक गुण है और दूसरा अलंकार। किसी भी स्थिति में भोज को अर्थव्यक्ति और स्वभावोक्ति में भेद करने का अवकाश नहीं रह जाता। इस बात का अनुभव करते हुए कि यदि अर्थव्यक्ति को स्वीकार कर लिया गया तो स्वभावोक्ति की आवश्यकता नहीं रह जायगी, भोज ने भट्ट से इन दोनों के अन्तर की ओर संकेत कर दिया है। अर्थव्यक्ति ऐसे गुणों के चित्रण से संबंधित है जो अनिवार्य, अपरिवर्तनीय और स्थायी होते हैं। किन्तु स्वभावोक्ति में वस्तु के उस अस्थायी स्वभाव का वर्णन होता है जो किसी विशिष्ट स्थिति या अवस्था से जनित होते हैं।

1. हृदयंगम ने ‘साक्षात्’ की व्याख्या की है “अव्याजेन” और यह एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें इस बात पर जोर है कि स्वाभावोक्ति का एक पक्ष यह भी है कि उसमें वस्तु का नैसर्गिक रूप चित्रित होना चाहिए, आरोपित नहीं। इसमें ऊपर से लादा हुआ या कवि द्वारा कल्पित वर्णन सम्मिलित नहीं हो सकता। भोज ने “स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गभ्यः” कहकर इसी विचार की पुष्टि की है। और मम्मट ने भी इसकी परिभाषा स्वक्रियारूप आदि में ‘स्व’ विशेषण लगाकर यही मत व्यक्त किया है। रुद्रट भी इस वास्तव में अविपरीत, निरूपम, अनतिशय, और अश्लेष ये विशेषण लगाकर इसी बात का समर्थन करते हैं।

काव्यालंकार 7, 10। 7-30 में भी रुद्रट ने “तत्कथनमन्यथा जातिः” इन शब्दों द्वारा इसी बात को दुहराया है।

2. देखिये, मम्मट - काव्यप्रकाश तंजोर सं. सी. 2, 186-87 यहाँ मम्मट ने वामन के अर्थव्यक्ति नामक अर्थ-गुण को स्वभावोक्ति में अंतर्भूत कर दिया है। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने भी किया है—काव्यानुशासन पृ० 199

नाना अवस्थामु जायन्ते यानि रूपाणि ।

अर्थव्यक्तेरियं भेद नियता प्रतिपद्यते ।

जायमानमियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम् ॥

स्वभावोक्ति जायमान रूप का वर्णन है । और अर्थव्यक्ति सार्वकालिक रूप का वर्णन । यह स्वभावोक्ति और अर्थव्यक्ति के क्षेत्र का अनावश्यक संकोचन है । प्रथम का संबन्ध सहज स्थायी स्वभाव के और साथ ही साथ विशिष्ट परिस्थितियों में जायमान स्वभाव वर्णन से संबन्धित है और द्वितीय उसी वस्तु के स्पष्ट स्फुट और सामर्थ्यवान् चित्रण से । इन दोनों के संबन्ध में भोज की स्थिति उन लेखकों से मिलती जुलती हैं जिन्होंने भामह और दण्डी के भाविक नामक व्यापक प्रबन्ध गुण को नीचे खींचकर उसे केवल वाक्यालंकार बना दिया और फिर यह सोचकर कि इसका तो स्वभावोक्ति से विरोध आता है, भाविक और स्वभावोक्ति को अलग अलग करने के लिये खींचतान में लग गये । (देखिये रुय्यक और विश्वनाथ ¹)

भोज के व्याख्याकार रत्नेश्वर ने उनके द्वारा किये हुए अर्थव्यक्ति और स्वभावोक्ति के विषय विभाग का इस प्रकार निरूपण किया है—

वस्तुस्वरूपोल्लेखनार्थव्यक्तिः अर्थगुणेषु उवतः । तत्र सार्वकालिकं रूपम् उप-
जनापायान्तरालव्यापकमित्यर्थः । अत्र तु (जात्यलङ्कारे) जायमानमागन्तुकनिमित्तं समव-
धानप्रभवं व्यभिचरितमित्यर्थः :- पृ. 266 ।

इस बात को समझने में कि स्वभावोक्ति और अर्थव्यक्ति के भोजकृत अन्तर का क्या तात्पर्य है, अग्निपुराण भी सहायक है क्योंकि यह उन ग्रन्थों में है जिन्होंने भोज को अपना उपजीव्य बनाया है । इसके 344 वें अध्याय में स्वभावोक्ति स्वरूप अलंकार कहकर प्रस्तुत किया गया है । “स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयामपि” आदि । इसने इस स्वरूप या स्वभावोक्ति अथवा जाति की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है ।

स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते ।

निजमागन्तुकं चेति द्विविधं तदुदाहृतम् ॥

सांसिद्धिकं निजं नैमित्तिकमागन्तुकं तथा । 344-3, 4 ।

इसमें स्पष्ट ही भोज का अनुसरण किया गया है और वस्तुओं की प्रकृति को शाश्वत एवं अस्थायी इन दो भागों में बाँटा गया है । यद्यपि अग्निपुराण ने वस्तुस्वभाव का जायमान और सार्वकालिक स्वरूप भोज से उधार लिया है, फिर भी वह यह नहीं कहता कि इन में केवल प्रथम का ही वर्णन स्वभावोक्ति या स्वरूपालंकार होता है । स्पष्ट ही अग्निपुराण दोनों के वर्णन को स्वरूपालंकार कह कर प्रस्तुत करता है । अग्निपुराण तो केवल स्वरूप के दो प्रकार निरूपित करता है । दण्डी ने भी स्वभावाख्यान में जाति क्रिया आदि को एक प्रकार और डिम्भ तिर्यक् आदि को दूसरा प्रकार बतलाया है ।

1. मैंने अपने ग्रंथ सम कान्सेप्ट्स ऑफ अलंकार के भाविक शीर्षक अध्याय में (पृ. 117-130) इस विषय पर विस्तार पूर्वक विचार किया है ।

स्वभावोक्ति के संबंध में शृ. प्र. का मत ।

गुण और अलंकारों के वर्णन में शृ. प्र. ने स. क. आ. की बात को ही दोहराया है । इसलिये जो कुछ कहा जा चुका है वही शृ. प्र. का भी मत माना जाना चाहिये । ऊपर के परीक्षित विचारों के अतिरिक्त भोज ने शृ. प्र. में कुछ नई बातें भी कही हैं । इनका संबन्ध स्वभावोक्ति के सामान्य स्वरूप से है । उक्ति आदिके परिच्छेदों में इस बातका उल्लेख किया ही जा चुका है कि भामह और दण्डी का अनुसरण करते हुए भोज ने काव्य वचन उक्ति या अलंकार को तीन खण्डों में बाँटा है—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति । उपमा रूपक और ऐसे ही अन्य अलंकारों के प्रधान होने पर वक्रोक्ति होती है । जहाँ विभावादि के वर्णन के द्वारा रसनिष्पत्ति होती है अथवा जहाँ उक्ति में रस प्रधान होता है वहाँ रसोक्ति होती है । तीसरा विभाग है स्वभावोक्ति—वस्तुओं का स्वाभाविक वर्णन । अर्थ के क्षेत्र में केवल दो ही भाग होते हैं वस्तु स्वभाव और संवेग । इन दोनों के वर्णन में क्रमशः वस्तुसंवाद और चित्रसंवाद होता है । और इनसे संबंधित उक्तियों को भोज के मतानुसार स्वभावोक्ति और रसोक्ति कहते हैं । ये दोनों विशुद्ध वर्णन होते हैं । यहाँ वर्णन का उद्देश्य होता है वस्तु स्वभाव या रसस्वभाव और जब इन दोनों का वर्णन आलंकारिक शैली में किया जाता है तो यहाँ वक्रोक्ति नामक तीसरा भेद होता है । यह बात समझ में आने योग्य है किन्तु यहाँ भोज ने एक नई सूझ को बीच में ठूसकर भ्रम सा उत्पन्न कर दिया है । जैसा कि प्रायः हुआ है; उन्हें एक नई बात सूझी और उन्होंने एक नई तुक जमाई । “उपमादिक अलंकार वक्रोक्ति है रस रसोक्ति है” और फिर कुछ सोचकर उन्होंने कह दिया अब बचे गुण । गुण स्वभावोक्ति है ।” यदि हम अलग-अलग गुणों की प्रकृति और स्वभावोक्ति अलंकार की प्रकृति पर विचार करें तो यह तुक कुछ जमती नहीं लगेगी । प्रथम तो स्वभावोक्ति या जाति एक अलंकार है अर्थालंकारों में प्रथम । क्या भोज यह कहकर कि वक्रोक्ति अलंकार प्रधान होती है यह बतलाना चाहते हैं कि जाति या स्वभावोक्ति भी इस वक्रोक्ति में सम्मिलित है ? यदि ऐसा है तो वे यह क्यों कहते हैं कि वक्रोक्ति उपमाद्यलंकार प्रधान उक्ति होती है । और तब क्या हम स्वभावोक्ति को अलंकार क्षेत्र से बहिष्कृत कर देंगे । वे स्वभावोक्ति को गुणप्रधान कैसे कह सकते हैं ? भोज के सारे गुण एक ढंग के नहीं हैं गाम्भीर्यगुण का संबन्ध ध्वनि से है । उन्होंने दीप्तरसत्व वाली कान्ति को गुण माना है किन्तु कान्तिप्रधान श्लोक भोज की रसोक्ति के अन्तर्गत माने जायेंगे । भोज की यह गुण स्वभावोक्ति वाली मान्यता स. क. आ. में कहीं पर भी स्पष्ट रूप से नहीं मिलती किन्तु शृ. प्र. में पाई जाती है । इसे समझ सकना सरल नहीं है । फिर भी यदि हम उनके इस वर्गीकरण को देखते समय इस बात पर विचार कर लें कि गुणों और अलंकारों के सामान्य स्वरूप के विषय में उनकी धारणा क्या है तो यह बात समझ में आ सकती है । गुणों एवं अलंकारों से उनके भेद के विषय में भोज वामन के अनुयायी हैं । गुण काव्य के नित्य धर्म हैं । उनका काव्य से समवाय संबन्ध है किन्तु अलंकारों से काव्य का संबन्ध ऐच्छिक अनित्य अर्थात् सयोग संबन्ध है । गुण अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं जिनके बिना काव्य ही संभव नहीं होता । किन्तु यदि अलंकार न भी हों तो भी केवल गुणों

की उपस्थिति उक्ति को काव्य बना सकती है। गुण भी शोभाकर धर्म हैं किन्तु उनका संबन्ध स्वभाविक शोभा से है जबकि अलंकारों का केवल कृत्रिम शोभा से अतः उस काव्य में जहाँ उपमादिक अलंकार नहीं होते गुणों से चारुता की उत्पत्ति होती है। स्वभावोक्ति या जाति वक्रोक्ति के अन्तर्गत आने वाले समस्त अलंकारों से रहित होती है। तब उसमें गुणों का बाहुल्य होना ही चाहिये। अतः ऐसा लगता है कि इसी बात को ध्यान में रखते हुए भोज ने स्वभावोक्ति को गुणप्रधान उक्ति माना है। अतः उन्होंने कहा है—

त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः— वक्रोक्तिः, स्वभावोक्तिः, रसोक्तिरिति । तत्र उपमाद्य-
लङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः, सोपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावानुभावव्याभिचारि
संयोगाद् रसनिष्पत्तौ रसोक्तिः इति—शृ. प्र. जिल्द 2 एकादश प्रकाश पृ. 372



द्वादश परिच्छेद

भोज, ध्वनि और आनन्दवर्धन

“तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये” भोज : श्रु. प्र. प्रथम प्रकाश ध्वनि का प्रारम्भ व्यञ्जित अर्थ और गुण — भामह का मत, दण्डी उद्भट. और वामन ।

ध्वनि विरोधी मत— आनन्दवर्धन द्वारा वर्णित तीन प्रमुख ध्वनि प्रतिपक्ष तथा जयरथ द्वारा उद्धृत दो कारिकाओं में उल्लिखित बारह ध्वनि विरोधी मत-बारह ध्वनि विरोधी मतों का परीक्षण और उनमें से भक्तिवाद और अनुमानवाद आदि कुछ मतों को आनन्दवर्धन का प्रत्युत्तर ।

तात्पर्यवाद का विशद प्रतिपादन-तृतीय उद्योत में आनन्दवर्धन का विवेचन - धनिक का उत्तर ।

भोज की स्थिति - तात्पर्य और ध्वनि की तुलना - भोज और आनन्दवर्धन-भोज पर आनन्दवर्धन का ऋण + भोज द्वारा ध्वन्यालोक से उधार लिये हुए पाठ ।

भोज और ध्वनि - ध्वनि के प्रति भोज के दृष्टिकोण के संबन्ध में डॉ. एस. के. दे के मत की आलोचना-स. क. आ. द्वारा वर्णित गुणों एवं अलंकारों में ध्वनि का संकेत ।

तात्पर्य और ध्वनि के विषय में श्रु. प्र. के मूलपाठ की व्याख्या । भोज द्वारा वर्णित तात्पर्य के तीन भेद - अभिधीयमान - प्रतीयमान और ध्वनिरूप - भोज द्वारा प्रतिपादित व्यङ्ग्य के भेदों, प्रतीयमान और ध्वनि का समीक्षण - इस विषय में हेमचन्द्र का भोज के ग्रंथों के प्रति ऋणित्व - भोज के इस मत का कि तात्पर्य और तात्पर्यार्थ ध्वनि हैं सम्यक् परीक्षण - इस विषय में विद्यानाथ, कुमारस्वामी, शारदातनय और आनन्दवर्धन का मत ।

ध्वनि का भोजकृत वर्गीकरण - शब्दध्वनि, अर्थध्वनि, अनुवाद-ध्वनि और प्रति-शब्द ध्वनि - ध्वनि के आनन्दवर्धनकृत वर्गीकरण से तुलना । ध्वनिसंबन्धी भोज मत का शारदातनय द्वारा संक्षिप्त विवेचन वदुरूप मिश्र द्वारा शारदातनय का अनुसरण रस को वाक्यार्थ और भाव को पदार्थ मानने के संबन्ध में भोज के दो उद्धरण ।

परिशिष्ट-1-वाक्यशेष श्रुतार्थापत्ति और ध्वनि, वाक्यशेष के विषय में भोज की कृति से उद्धरण ।

2 विवक्षा और ध्वनि ।

3 संस्कृत ग्रन्थ । (1) ध्वनि के विषय में श्रु. प्र. का मत सप्तम प्रकाश । (2) ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत के अनुसरण । तात्पर्य और ध्वनि (3) ध्वनि और तात्पर्य के विषय में दशरूपावलोक का मत ।

ध्वनिमत का मूल भामह तथा अन्य प्राचीन लेखकों के द्वारा स्वीकृत उन अलंकारों में पाया जाता है जिनमें सामान्य के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ निगूढ़ रहता है। 2-34 में भामह ने गुणसाम्यप्रतीति की चर्चा की है। जिसमें गम्यमान औपम्य अर्थात् व्यञ्जित साम्य पाया जाता है। 2-79 में उन्होंने एक अर्थ के वर्णन के द्वारा दूसरे समान अर्थ के व्यञ्जन को समासोक्ति कहा है—यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थः। भामह ने स्पष्ट कहा है कि इसमें एक बात का वर्णन करते हुए दूसरी समान बात का “तत्समानविशेषण”-जो कि उससे पूर्णतः भिन्न हो व्यञ्जन समासोक्ति कहलाता है। 3, 8-9 में भामह ने इसी प्रकार पर्यायोक्ति की सोदाहरण परिभाषा दी है। उन्होंने उदाहरण रूप में ऐसी उक्तियों का उल्लेख किया है जिनका उद्देश्य विशेषतः बिलकुल भिन्न अर्थ प्रस्तुत करना है। अभिधा जिस अर्थ को व्यक्त करती है उसका सम्प्रेषण कवि को इष्ट नहीं होता—“यदन्येन प्रकारेण अभिधीयते।” 3-21 पर अपह्नुति का वर्णन करते हुए भामह ने कहा है कि इसमें साम्यार्थ निगूढ़ रहता है—“अन्तर्गतोपमा”।

दण्डी के ग्रन्थ में व्यङ्ग्यार्थ के ऐसे ही संकेत ढूँढे जा सकते हैं। दण्डी के उदार नामक गुण का प्रथम भेद ध्वन्यात्मक वर्णन के द्वारा गुण का व्यञ्जन ही है।

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते। 1-76 इति त्यागस्य वाक्ये स्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते। 1-78 उदात्त अलंकार की परिभाषा करते हुए भी दण्डी ने कहा है

पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम्।

सुव्यञ्जित मितिव्यक्तमुदात्तद्वयमप्यदः। 2-303

अलंकार के प्रकरण में प्रतीयमान के भी दर्शन होते हैं उपमा (2, 14-16) के बहुत से भेदों में प्रतीयमान विद्यमान रहता है। इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा में साम्य प्रतीति, व्यतिरेक (2, 179-195) और समासोक्ति (205) में प्रतीयमान सादृश्य मिलता है। दण्डी का कथन है कि इनमें एक अन्य अर्थ ध्वनित होता है। सूचना (213) और प्रकारान्तराख्यान को पर्यायोक्त (295) में देखा जा सकता है।

जब हम उद्भट द्वारा वर्णित पर्यायोक्त को देखते हैं तो हमें पता चलता है कि उसमें अवगम अर्थात् ध्वनि का महत्वपूर्ण स्थान है। यह अवगम ध्वनि से बिलकुल भिन्न है और अभिधा (शब्दमूला) और तात्पर्य (वाक्यमूला) के पश्चात् इसकी प्रतीति होती है।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

इसी प्रकार के ध्वनि-संकेत रुद्रट के भावालंकार (अध्याय 38-40) में मिल सकते हैं। इसमें रुद्रट ने अन्य अर्थ के अवगमन की उपस्थिति की ओर संकेत किया है। उनके परिकर समासोक्ति और अन्योक्ति में भी ध्वनि का संकेत मिलता है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त दोनों ने स्पष्ट कहा है कि उद्भट ने अपने भामह विवरण में अलंकार ध्वनि के ऐसे स्थलों का निर्देश किया है जहाँ एक अलंकार से दूसरा अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है, भले ही उन्होंने उन्हें ध्वनि या अलंकार ध्वनि न कहा हो। आनन्दवर्धन के शब्द हैं—

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितः तत्र भवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः । पृ० 108 । लोचन का कथन है—

तदयमर्थः— वाच्यालङ्कार विशेषविषयेऽपि अन्योऽलङ्कारविशेषः भातीयुद्भटादिभिः उक्तम् इत्यर्थशक्तया अलङ्कारो व्यज्यते इति तैरुपगतमेव केवलं ते अलङ्कारलक्षणा— कारत्वादावाच्यालङ्कारविशेषविषयत्वेन आहुरिति भावः । पृ० 108 ।

जब आनन्दवर्धनादि नव्य समीक्षकों ने ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो चारों ओर से उसका विरोध हुआ और ध्वनि की आवश्यकता के विरुद्ध एक विरोधी मत प्रस्तुत किया गया जिसे अलङ्कारान्तरभाव कहते हैं । इस मत के समर्थक व्यङ्ग्यार्थ को स्वीकार करते थे किन्तु उसे अलंकारों में अन्तर्भूत मानते थे, चाहे वे सामान्य अलंकार हों या रसवद् अलंकार । और फिर वह व्यङ्ग्यार्थ चाहे वस्तुध्वनि हो या अलंकार-ध्वनि या रस ध्वनि । प्रतीहारेन्दुराज का भी यही मत था । उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की अपनी व्याख्या के अन्त में उन्होंने अपने इस मत का प्रतिपादन किया है ।

स (प्रतीयमानः) कस्मादिह नोपदिष्टः ? उच्यते एवैव अलङ्कारेषु अन्तर्भावात् पृ० 79

वस्तुध्वनि को पर्यायोक्तालङ्कार बतलाया गया है रामोऽस्मि सर्वं सहे इस श्लोक में पदध्वनि जैसे स्थलों में प्रतीहारेन्दुराज ने वाक्यगत सामान्य पर्यायोक्त से अतिरिक्त एक पदगत पर्यायोक्त अलंकार स्वीकार किया है ।

न खलु पदे पर्यायोक्तेन न भवितव्यमितीयम् राज्ञामाज्ञा, सूत्रकारवचनं वा-पृ.82 ।

उपर्युक्त अलंकार-स्थलों में व्यङ्ग्यार्थ को स्वीकार करने के अतिरिक्त प्रारम्भ कालीन लेखकों ने अस्पष्टरूप से ध्वनि के कुछ अन्य भेदों का भी स्पर्श किया है । आनन्द-वर्धन ने पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उन पूर्ववर्ती समीक्षकों ने, जो यह मानते हैं कि कुछ स्थलों में काव्य के शब्द मूल अर्थ से आगे बढ़कर द्वितीय अर्थ उसमें चारुता की वृद्धि करते हैं, एक प्रकार से ध्वनि की सीमा का ही स्पर्श किया है ।

तथापि गुणवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टः- 1, पृ. 10 ।

इस कथन पर अभिनवगुप्त की टिप्पणी निम्नलिखित है—

भट्टोद्भटवामनादिना । भामहोक्तम् “शब्दच्छेदोऽभिधानार्थः” (1, 9) इत्यभि— धानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो वभाषे- “शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारः, मुख्यो गुणवृत्तिश्च । वामनोऽपि सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः” (4-3-8) इति । मनाक् स्पृष्ट इति । तैस्तावद् ध्वनिः दिगुन्मीलिता- पृ. 10 ।

भामह ने 1-9 में काव्यशास्त्र के कुछ सहायक विषय बतलाये हैं जिनमें से दो हैं शब्द और अर्थ । इस पर टिप्पणी करते हुए उद्भट ने कहा है कि इसमें प्रथम पद शब्द स्वयं शब्दों तथा द्वितीय पद अभिधान शब्दों की द्विमुखी सांकेतिक शक्ति की ओर संकेत करता है । अभिधान की प्रथम शक्ति है मुख्या और द्वितीय है, गौणी । अलंकारों में द्वितीय

अर्थ की उपस्थिति उद्भट ने अपनी भामह व्याख्या में प्रदर्शित की होगी किन्तु उनके भामह विवरण के उपलब्ध न होने के कारण हमें यह जानने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है।

किन्तु भामह का निकटता से अनुसरण करने वाले अपना काव्यालङ्कारसंसारसंग्रह नामक ग्रन्थ में उद्भट ने कहा है कि रूपक में गुणवृत्ति होती है। इस गौणीवृत्ति की उपस्थिति से ही रूपक में चमत्कार या चारुता उत्पन्न होती है।

श्रुत्या सम्बन्ध-विरहाद् यत् पदेन पदान्तरम् ।

गुणवृत्ति प्रधानेन गुज्यते रूपकं च तत् ॥

दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी वाङ्मय में गुणवृत्ति का उल्लेख उद्भट के बहुत पहले से मिलता है काव्यशास्त्र में दण्डी के समाधिगुण में भी इसके दर्शन होते हैं। यह समाधिगुण भामह के वक्रोक्ति अलंकार से मिलता जुलता है। दोनों ही सादृश्य लक्षणा पर आश्रित गौणीवृत्ति का परिणाम हैं।

निष्ठयूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यापाश्रयात् । काव्यालंकार 1-95 दण्डी की समाधि और वामन की वक्रोक्ति दोनों रुद्रट (7-98) के औपम्यवर्ग का सूक्ष्मालंकार है। अलंकार विभाग में भी हेतु अलंकार के भेदों के संबन्ध में दण्डी ने गौणवृत्ति की चर्चा की है।

ते 5 मी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यापाश्रयाः

अत्यन्तसुन्दरा दृष्टाः तदुदाहृतयोः यथा +2-254 ।

इस प्रकार यह व्यङ्ग्यार्थ धीरे धीरे महत्व प्राप्त करता जा रहा था। हम आनन्दवर्धन के प्रथम छन्द में ही पाते हैं कि यद्यपि आनन्दवर्धन के समान किसी ने ग्रन्थ रूप में इसे निबद्ध नहीं किया फिर भी ध्वनि सिद्धान्त पुराना था और उनसे पहले ही कुछ विद्वान् उसे मानते चले आ रहे थे बुधैः समाम्नातपूर्वः। जब आनन्दवर्धन ने इस सिद्धान्त को मूर्तरूप देने का प्रयत्न किया और उसे व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की तो मनोरथ जैसे उनके समकालीन कवियों (पृ० 9 लोचन पृ० 8) ने उनकी खिल्ली उड़ाई। उनके मत में अलंकार, एवं व्युत्पन्न शब्द-जैसे सौशब्दय और वक्रोक्ति आदि में से कोई निश्चित वस्तु होनी आवश्यक थी। आनन्दवर्धन को सभी आपत्तियों का समाधान करना पड़ा और उन्होंने अपने ध्वन्यालोक में सभी ध्वनि विरोधी मतों का उल्लेख कर उनका खण्डन प्रस्तुत किया।

प्रारम्भिक कारिका में ही आनन्दवर्धन ने बतलाया है कि ध्वनि के तीन प्रतिपक्ष हैं। 1-कुछ विद्वान् उसका पूर्णतः निषेध करते हैं। 2-कुछ लोग इसे भक्ति या लक्षणा अथवा-गौणी वृत्ति मानते हैं। 3 तीसरे वर्ग के लोग इसे अनिर्वनीय या अचिन्तनीय मानते हैं। इन तीनों में द्वितीय और तृतीय ध्वनि विचार को स्वीकार करते हैं किन्तु द्वितीय मत के लोग इसे भक्ति में अन्तर्निविष्ट मानते हैं। और तृतीय मत के अनुगामी ध्वनि साम्प्रदायिकों की बात से बहुत कुछ सहमत होते हुए भी भक्ति में इसके अन्तर्भाव को असंभाव्य मानते हैं और कहते हैं कि यह ऐसी वस्तु है, जिसका अनुभव थोड़े से सहृदय ही कर पाते हैं। इसे परिभाषित करना अथवा विचार सम्प्रदाय का स्वरूप देना शब्दों की पहुँच के बाहर

है। ये तीन प्रमुख ध्वनि विरोधी दृष्टिकोण हैं। अभिनवगुप्त ने इनका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है—

परम्परया अर्थसमूह शब्दों से संबद्ध होते हैं। इस पारम्परिक सम्बन्ध से जो भी अर्थ सुतराम् पाया जाता है अथवा संकेतित होता है उसे अभिधा कहते हैं। यह शब्द का मूल अभिप्राय होता है। इसके अतिरिक्त शब्द की व्यञ्जना नामक कोई शक्ति नहीं होती यदि प्राप्त अर्थों का विश्लेषण करके यह देखा जाय कि उन शब्दों से कौन-सा अर्थ परम्परागत सम्बन्ध होने के कारण प्राप्त होता है और कौन-सा उनके सहचारी के रूप में, तो द्वितीय अर्थात् सहचारी अर्थ गौण अर्थ कहा जा सकेगा। और यह अर्थ लक्षणा अथवा भक्ति के अन्तर्गत आएगा। यदि यह मान लिया जाय व्यञ्ज्यार्थ का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं होता तो निश्चय ही इसे ध्वनि जैसा नया नाम नहीं दिया जा सकेगा। अपितु वह अनिर्वचनीय कहा जायगा। प्रथम मत अभाववाद है और द्वितीय भक्ति या लक्षणा में अन्तर्भाव तृतीय मत अनिर्वचनीयतावाद कहा जा सकता है।

(१) तत्र समयाक्षेपेण शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्य-व्यतिरिक्तं नास्ति व्यञ्ज्यम्।

(२) सदपि वा तदभिधाक्षिप्तं शब्दावगतार्थवदाकृष्टत्वाद् भाक्तम्।

(३) तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं, कुमारीष्वि व भर्तृसुखमतद्वित्सु— लोचन पृ० ४।

आनन्दवर्धन ने प्रथम दृष्टिकोण को लेकर इसका विश्लेषण करते हुए तीन तर्क दिये (पृ० 4-9) काव्य के शब्द और अर्थ में एक प्रकार की चारुता होती है और इसीलिए वह अन्य उक्तियों से भिन्न होता है। काव्य में चारुता के कारण हैं अनुप्रासादि शब्दालंकार, उपमादि अर्थालंकार, शब्द और अर्थ के गुण तथा उन पर आश्रित शब्द और अर्थ वृत्तियाँ तथा रीतियाँ। अतः अलंकारों, गुणों, वृत्तियों और रीतियों से भिन्न कोई ध्वनि नामक पदार्थ नहीं है। दूसरे काव्योक्ति में प्राप्त चारुता या सौन्दर्य उपर्युक्त तत्वों से बाहर नहीं पाया जाता और यदि ध्वनि-साम्प्रदायिकों के मतानुसार यह मान लिया जाय कि इनसे अतिरिक्त भी कोई वस्तु है जो काव्य को चारुता प्रदान करती है तो इसका उत्तर यही है कि यह अजनबी वस्तु जो किसी भी प्रसिद्ध काव्य तत्व की श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आती निश्चय ही काव्यसौन्दर्य का अङ्ग नहीं है। तीसरे यदि यह मान भी लिया जाय कि ध्वनि जैसी कोई वस्तु है और वह काव्यतत्व भी है तो भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि वह उन अलंकारादिकों के बहुसंख्यक भेदों में से ही किसी न किसी एक का नवीन नाम है, जिन्हें प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है अथवा उसे उस अलंकार के संभाव्य अग्रणीत भेदों में से किसी एक के अंतर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार इस प्रथम दृष्टिकोण तक में धीरे-धीरे अभाव से अन्तर्भाववाद की ओर झुकाव मिलता है। इस तरह कुल मिलाकर तीन अभाववाद, एक भाक्तवाद और एक अनिर्वचनीयवाद इस तरह कुल मिलाकर पाँच ध्वनि विरोधी मत हुए। अभिनवगुप्त ने भी लोचन के पृ० 4-5 पर इसे स्पष्टतया समझाया है।

आनन्दवर्धन ने प्रथम उद्योत में ही इन सब का सामान्यतया उत्तर दिया है। उन्होंने पृ० 35 से 45 तक अलंकारवाद का निराकरण किया है। समासोक्ति और आक्षेपादि अलंकारों के विषय में उन्होंने कहा है कि यद्यपि इनमें व्यङ्ग्य तत्व रहता है तो भी वहाँ अलंकारों द्वारा अभिहित अर्थ ही व्यङ्ग्य होता है अर्थात् अभिहित अर्थ ही वहाँ मुख्यार्थ होता है और व्यङ्ग्यार्थ गौण। अथवा सहायक ध्वनि में सबके ऊपर व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती है। एक सामान्य तर्क भी दिया गया है कि अलंकार अलंकरण का साधन है। ध्वनि अलंकार्य है। अतः ध्वनि को अलंकार नहीं माना जा सकता। प्रथम उद्योत के अन्तिम भाग में आनन्दवर्धन ने द्वितीय आपत्ति अर्थात् भाक्तवाद का खण्डन किया है। ध्वनि और भक्ति दोनों एक ही नहीं हैं ऐसे स्थल हैं जहाँ भक्ति है लेकिन ध्वनि नहीं अथवा ध्वनि है लेकिन भक्ति नहीं। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि एक प्रकार की भक्ति ध्वनि के एक भेद को जन्म देती है। ध्वनि और भक्ति से सम्बन्धित यह विवाद तात्पर्यवाद के निरूपण के उपरान्त तृतीय उद्योत में पृ० 197-97 तक पुनः उठाया गया है।

अलंकार-सर्वस्व की अपनी टीका में जयरथ ने किसी अज्ञात लेखक की दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिनमें ध्वनिविरोधी बारह मतों का उल्लेख है—

तात्पर्यशक्तिरमिधा लक्षणानुमिती द्विधा ।

अर्थापत्तिः क्वचित्त्रयं समासोक्तयाचलङ्कृतिः ॥

रसस्य कार्यता भोगः व्यापारान्तरबाधनम् ।

द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥

निरणयसा. सं. पृ. 9

इन बारह विरोधी मतों का ठीक ठीक पता लगना सरल नहीं है। उन्हें इस प्रकार उल्लिखित कर सकते हैं (1) तात्पर्य - मीमांसक (2) अभिधा - अतिप्राचीन मीमांसक (3) और (4) द्विविधा लक्षणा - अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था इनमें अन्तिम को लक्षित लक्षणा अथवा लक्षण-लक्षणा भी कहते हैं। (5) और (6) द्विविधानुमान अनुमान के दोनों भेद अज्ञात हैं। (7) अर्थापत्ति - अनुमान पक्ष की स्वल्प प्रकृष्टता। (8) तन्त्र - द्वयर्थक विदग्ध-भरिपत्ति जैसा कि श्लेषालंकार में होता है (9) समासोक्ति तथा अन्य अलंकार यह प्राचीन अलंकार मत है जिसके अन्तर्गत ध्वनि के समस्त भेदों का अन्तर्भाव अलंकारों में माना जाता है। आनन्दवर्धन ने प्रथम उद्योत में इस मत का खण्डन किया है (10) रसकार्यता - यह दण्डी और लोल्लट आदि प्राचीन (चिरन्तन) रसावादियों का मत है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में इसे स्पष्ट किया है। ये लोग इसके विषय में उत्पत्तिवाद के समर्थक हैं। ये केवल रसध्वनि के विरोधी हैं (11) भोग - इसका संबन्ध भी रसध्वनि से है। भट्टनायक का रससिद्धान्त है और इसे भट्टनायक की भावना से भी संबन्धित माना जा सकता है। (12) अन्तिम पक्ष को “व्यापारान्तरबाधनम्” नाम दिया गया है। मेरा अनुमान था कि इसका सम्बन्ध कुन्तक की वक्रोक्ति से है किन्तु प्रोफेसर म. म. कुप्पुस्वामी शास्त्री वक्रोक्ति को अलंकार पक्ष में अन्तर्भूत मानते हैं और वक्रोक्ति जीवित काव्य की आत्मा के रूप में न सही किन्तु ध्वनि को स्वीकार करता है। अतः प्रोफेसर शास्त्री के अनुसार अन्तिम मत का संकेत

अनिर्वचनीयवाद की ओर है जो कि आनन्दवर्धन द्वारा उल्लिखित तीन मुख्य ध्वनिविरोधी मतों में से अन्तिम है। इस मत में ध्वनि का समावेश किसी अन्य व्यापार में नहीं हो सकता क्योंकि ध्वनि उन सबसे भिन्न है। किन्तु ये लोग ध्वनि को अनिर्वचनीय कहकर यहीं छोड़ देते हैं।

इतमें हम तात्पर्यवाद का विवेचन आगे विस्तार पूर्वक करेंगे क्योंकि यह इस प्रसंग का मुख्य प्रतिपाद्य है। यह कुछ अत्यन्त प्राचीन समीक्षकों का मत है जिसके अनुसार शब्दों में एकमात्र सामर्थ्यवती अभिधा होती है जिसका व्यापार वर्ण्य या कथ्य की पूरी लम्बाई तक व्याप्त रहता है। समस्त सूक्ष्म व्यङ्ग्य इसके भीतर आ जाते हैं। इसके लिये उन्होंने शक्ति के साथ प्रक्षेपित बाण की उपमा दी है जो बहुत से लक्ष्यों को चीरता चला जाता है। अभिनव गुप्त ने लोचन में पृ. 18 पर इस मत को प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है। एक उक्ति द्वारा प्रस्तुत समस्त अर्थों का विवेचन यह प्रदर्शित करता है कि शब्द से अवगमित अर्थ के एक से अधिक भेद अथवा वर्ग होते हैं। अर्थों के ये सब वर्ग एक प्रकार के ही नहीं होते। इसलिये अभिधा के अतिरिक्त अन्य वृत्ति को स्वीकारने की आवश्यकता होती है। पुनश्च लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ अभिधा द्वारा गृहीत अर्थों के सदृश नहीं होते। और न वे समय द्वारा निश्चित अर्थों से मेल खाते हुए या उनसे संबन्धित ही होते हैं।

“योऽपि अन्विताभिधानवादी “यत्परः शब्दः स शब्दार्थः” इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घदीर्घो व्यापारः, तदेकोऽसाविति कुतः, ? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदाद् असजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्य व्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविदिभ निषिद्धः। असजातीये च अस्मन्नय एव। अथ योऽसौ चतुर्थकक्ष्यानिविष्टोऽर्थः स एव भटिति वाक्येन अभिधीयत इति एवं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्। तर्हि तत्र संकेताकरणात् कथं साक्षात् प्रसिद्धिः। लोचन पृ० 18-19।

समस्त तात्पर्य को आच्छादित करने वाले इस दीर्घ अभिधा व्यापार के पुरस्कर्ता हैं प्रभाकरमीमांसक लोग। लोचन के पृ. 188 पर अभिनव गुप्त ने कहा है—“प्राभाकरदर्शनेऽपि दीर्घदीर्घो व्यापारः”। यह ध्वनि विरोधी-द्वितीय अभिधा मत है।

द्विविध लक्षणा पक्षों के अन्तर्गत भाक्तवाद आता है जिसका खण्डन आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ के प्रथम उद्योत के अन्त तथा तृतीय उद्योत में किया है। ध्वनि को लक्षणा मानने की संभावना का निरास करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि कोई लेखक कठिनता से बच निकलने के लिये ध्वनि को लक्षित लक्षणा नाम देते हैं जो लक्षणा का एक भेद है अतः एव यत्केनचित् लक्षितलक्षणेति नामकृतम् तद् व्यसनमात्रम्। ध्वन्यालोक 1-20 में लक्षित लक्षणा का खण्डन किया गया है जिसका आश्रय लक्षणा के प्रयोजनांश या फल की व्याख्या के लिये कुछ लोग लेते हैं। यहाँ लोचन में कहा गया है—तेनायं लक्षणलक्षणायाः न विषयः इति भावः। कौमुदी पृ. 273-74 में भी इसे देखा जा सकता है। (क. स. र. सं.) दशरूपक के अवलोक में भी इस मत का उल्लेख है—नापि लक्षित लक्षणया प्रतिपत्तिः यथा गङ्गायां घोषः इत्यादौ पृ. 118

इस बात का उत्तर यह है कि सब प्रकार की लक्षणाओं में मुख्यार्थ का बाध अथवा उसकी अनवगम्यमानता होती ही है। ध्वनि में मूलार्थ का परित्याग नहीं होता। लक्षित-लक्षणा ध्वनि का एक प्रकार अर्थात् लक्षणामूलक ध्वनि हो सकती है किन्तु ध्वनि के और भी बहुत से भेद हैं। इस प्रकार जयरथ द्वारा उद्धृत कारिका में दो ध्वनि-विरोधी मतों के रूप में वर्णित लक्षणा के दो प्रकार लक्षणा और लक्षित लक्षणा या अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था लक्षणा हो सकते हैं। मुकुल भट्ट ने अपनी अभिधावृत्ति मातृका में लक्षणा की इस प्रकार परिभाषा दी है कि जिससे उसमें मुख्यार्थबाध के तत्त्वको बचाया जा सकता है। वे मुख्यशक्ति को केवल शब्द का सर्वोत्तम व्यापार मानते हैं। इसकी तुलना में लक्षणा शब्द की अपेक्षा अर्थ का व्यापार अधिक है। यह अभिधेय सामर्थ्य से आक्षिप्त होती है।

शब्द व्यापार तो यस्य प्रतीतिः तस्य मुख्यतः

अर्थावसेयस्यपुनः लक्षमाणत्वमुच्यते।

यस्य तु शब्द व्यापारावगम्यमानार्थ पर्यालोचनया अवगतिः तस्यलाक्षणिकत्वम्।
निर्णय सा. सं. पृ. 3

उन्होंने ध्वनि के अनेक उदाहरणों को लक्षणा के अन्तर्गत ले लिया है। वे “रामो ऽस्मि सर्वं सहे” इस उदाहरण के संबन्ध में पृ. 11 पर कहते हैं कि समस्त व्यङ्ग्यार्थों का बोध लक्षणा द्वारा हो जाता है। “लक्षिताः।” वे “दुर्वाराः मदनेपवः” आदि श्लोक को प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि इसमें लक्षणा द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार का बोध होता है।

तत् (वाक्यार्थं) पर्यालोचन सामर्थ्याच्च विप्रलम्भ शृङ्गारस्य आक्षेपः इत्युपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिबन्धना + + विप्रलम्भ शृङ्गारस्य चाक्षिप्यमाणस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यम् इत्यादि—पृ. 14।

पृ. 21 पर इसका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—लक्षणा मार्गाविगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैः नूतन तथा उपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्यलयितुम् इदमवोक्तम् इत्यादि।

लक्षणा को परिभाषित करने की इस विधि तथा उसके उदाहरणों की आलोचना मम्मट ने अपने शब्दव्यापार विचार में की है। साथ ही उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट समझाया है कि लक्षणा के प्रयोजनांश का बोध कराने के लिये ध्वनि का स्वीकार करना आवश्यक है। निश्चय ही लक्षणामूलक ध्वनि का लक्षणा से घनिष्ठ संबन्ध है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि लक्षणा ही ध्वनि है। क्योंकि ध्वनि इससे भिन्न अभिधामूलक भी होती है। और इसके भी आगे ऐसी ध्वनि भी होती है जो किसी प्रकार के शब्द व्यापार पर, चाहे वह अभिधा हो या लक्षणा आश्रित नहीं होती। उदाहरणार्थ रसध्वनि जो संगीत की मधुर ध्वनि से उत्पन्न होती है फिर एक चेष्टा जैसे अशाब्दिक तत्त्वों से भी प्रसूत होती है। आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में पृ. 193-94 पर कहा है—

व्यञ्जकत्वं हि क्वचिद् वाचकत्वाश्रयेण व्यवतिष्ठते, यथा विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनी। क्वचित्तु गुणवृत्त्याश्रयेण, यथा अविवक्षितवाच्ये ध्वनी। तदुभयाश्रय प्रतिपादनायैव

च ध्वनेः प्रथमं द्वौ प्रभेदौ उपन्यस्तौ । तदुभयाश्चि तत्वाच्च तदैकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम्, यस्मात् न तद् वाचकत्वैकरूपमेव क्वचित् लक्षणाश्रयेणवृत्तेः । न च लक्षणैकरूपमेव अन्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थानात् । न च उभयधर्मत्वेनैव तदैकेक रूपं न भवति यावद् वाचकत्व लक्षणादिरूपरहित शब्द धर्मत्वेनापि; तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादि विषयः न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथंचिद् वक्ष्यते शब्दादन्यत्रापि च विषये व्यञ्जकत्वस्यापि दर्शनाद् वाचकत्वादिशब्द धर्मप्रकारत्वम् अयुक्तं वक्तुम् ।

काव्य प्रकाश व्याख्या तं. सं. सी. जिल्द 1, पृ. 269 भी देखिये

नैयायिक लोग अनुमिति मत के मानने वाले हैं । आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में इस बात का निर्देश करते हुए कि वैयाकर मत ध्वनि विरोधी नहीं हैं, इस लिङ्गलिङ्ग पक्ष को अन्तिम प्रतिपक्ष मानकर इसका खण्डन किया । आनन्दवर्धन के परवर्ती काल में और अभिनवगुप्त के ठीक बाद महिमभट्ट ने यह बतलाने के लिये कि समस्त ध्वनियों का समावेश अनुमान में हो जाता है, व्यक्ति विवेक नाम ग्रन्थ लिखा । जयन्तभट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी में आनन्दवर्धन पर कटु आक्षेप किये हैं और यह मत प्रकट किया है कि कवि तथा काव्य-समीक्षक शब्द व्यापार और प्रमाण जैसे गंभीर प्रश्नों का विवेचन करने में अक्षम होते हैं । उन्होंने मीमांसकों की अर्थापत्ति अनुमान में अन्तर्भूत होने का खण्डन किया और साथ ही ध्वनि को भी अनुमान में समाविष्ट किया । (पृ. 48-49 विजयनगर सं.)

ध्वनि विरोधी नैयायिक समीक्षकों को प्रमुख उत्तर यह है कि वाच्य और व्यञ्ज्य के बीच कोई तर्कसंगत अनिवार्य प्रतिबन्धक ग्रह नहीं स्थापित किया जा सकता जबकि यह प्रतिबन्धक ग्रह समस्त अनुमानों का मूल है ।

“ननु व्यञ्ज्यम् अनुमेयमिति वक्तुं शक्यम् । नहि वाच्य-व्यञ्ज्ययोः प्रतिबन्धकग्रहे किञ्चित् प्रमाणमस्ति । सम्मत का शब्दार्थ व्यापार अर्थापत्ति—जिस समीक्षक ने ध्वनि को अर्थापत्ति विचार के रूप में समझना संभव समझा उसके नाम का हमें पता नहीं है किन्तु हम अर्थापत्ति और ध्वनि के संबन्ध में आगे विशेष चर्चा करेंगे ।

अब हम सबसे अधिक महत्वपूर्ण ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त तात्पर्यपक्ष पर विचार करने के लिये आगे बढ़ते हैं ! इसके अनुसार वाक्य के अर्थ या तात्पर्य के अन्तर्गत व्यञ्ज्यार्थ भी आ जाता है । अतः ध्वनि नामक एक पृथक् शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है । इस मत के प्रतिपादक हैं मीमांसक । प्राचीन मीमांसकों के अनुसार अभिधा पदार्थ की बोधक है । और वाक्यार्थ का बोध तात्पर्य नामक एक अन्य शक्ति के द्वारा होता है अनिश्चित शब्दार्थों से निश्चित वाक्यार्थ का बोध पूर्ण वाक्यरूप में निष्पन्न शब्दों की एक विशिष्ट शक्ति के द्वारा होता है जिसे तात्पर्य कहते हैं—लोचन पृ. 13 । इस तात्पर्य में ध्वनि को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है आनन्दवर्धन के तात्पर्यवादी आलोचकों ने उनके विरुद्ध यह तर्क दिया है कि अधिक से अधिक वाच्य से निम्न तथा उससे अतिरिक्त अर्थ की स्थापना की जा सकती है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह अतिरिक्त अर्थ केवल व्यञ्ज्य

होगा। जहाँ यह वाच्य से अतिरिक्त अर्थ प्रधान होता है वहाँ उसकी स्थिति वही होगी जो वाच्य की है। इसलिए उसे वाच्यार्थ अर्थात् उक्ति का अभिप्रेतार्थ मानना होगा। इस स्थिति में प्रथम प्राप्त होने वाला मुख्य वाच्यार्थ उत्तर काल में प्राप्त होने वाले तात्पर्य के अवगम में साधनमात्र माना जायगा। जैसे वाक्यार्थ को समझने में शब्दार्थ साधन होते हैं उसी प्रकार प्रथम वाच्यार्थ अन्तिम तात्पर्य बोध का साधन होगा।

आनन्दवर्धन ने इस तर्क का निम्न ढँग से उत्तर दिया है—जहाँ किसी उक्ति का प्रथम और प्रधान वाच्यार्थ होता है किन्तु साथ ही एक दूसरा अर्थ भी तो वहाँ शब्द या वाक्य के दो अर्थ होते हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या वे दोनों पूरी तरह स्पष्ट और भिन्न होते हैं अथवा एक जैसे ही? एक जैसे तो हो नहीं सकते क्योंकि उनकी प्रकृति तथा उन दोनों के ज्ञान के साधनों में स्पष्ट अन्तर होता है। जब प्रथम अर्थ शब्दों का वास्तविक अर्थ हो तो दूसरा अर्थ वास्तविक शब्दार्थ नहीं हो सकता। प्रथम का अवगम शब्दों से साक्षात् होता है। किन्तु द्वितीय की प्राप्ति प्रथम उक्त अर्थ की व्यञ्जना शक्ति से होती है। यदि ये दोनों अर्थ एक ही होते तो दो अर्थों की चर्चा ही न उठती। दूसरे प्रथम अर्थ इन्द्रिय सन्निकर्ष के सम्बन्ध से उच्चरित शब्दों की संकेत शक्ति द्वारा प्राप्त होता है जबकि द्वितीय अर्थ अवगम या व्यञ्जन के रूप में होता है और यह प्रथम से पूर्णतया भिन्न होता है। क्योंकि यह संगीत आदि की उन अस्पष्ट ध्वनियों (अवाचक) से भी प्राप्त होता है जो भावों की व्यञ्जक होती हैं। इसी प्रकार कोई कोई क्रिया या चेष्टा भी व्यञ्जक होती है। उसमें इस व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने की शक्ति रहती है। जब ये दोनों उक्त प्रकार से भिन्न हैं तो अवगमन शक्ति और वाचक शक्ति को एक मान लेना उचित नहीं है। निश्चय ही अवगमन शक्ति भी शब्द व्यापार है और यह शब्दों की अपनी विशिष्ट शक्ति भी है। फिर भी यह मुख्यार्थ अभिधा अथवा वाचकत्व से उक्त दृष्टि से भिन्न है। अभिधा का सम्बन्ध केवल शब्दों से होता है किन्तु व्यञ्जना और व्यञ्जकत्व का सम्बन्ध शब्द के अतिरिक्त अर्थ से भी होता है। इसलिये जब इन दोनों अर्थों की उपलब्धि की प्रक्रिया स्पष्टतः भिन्न है और वह भी विदित है कि इन दोनों प्रक्रियाओं से उपलब्ध अर्थ भी परस्पर भिन्न होते हैं तो इन दोनों को एक ही वाचकत्व नाम देना उपयुक्त नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि एक वाक्य का केवल एक ही अर्थ—खण्ड हो सकता है। और न यही कहा जा सकता है कि ध्वनि के अनुसार एकवाक्यत्व का नियम खण्डित हो जाता है क्योंकि ध्वनि सिद्धान्त में इन दोनों अर्थों को मुख्य और सहायक (गौण) के रूप में परस्पर सम्बन्धित मानकर समझाया जा सकता है। व्यङ्ग्यार्थ मुख्य होता है और अभिधार्थ गौण। दोनों अर्थों का महत्व समान नहीं होता और इसलिए उनका वाक्यार्थ सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है। जिस वाक्य में व्यङ्ग्यार्थ प्रमुख होता है वहीं पर तात्पर्यवादी यह कह सकता है कि स्वाभाविक रूप से यह अर्थ वक्त का उद्दिष्ट है और इस नाते वह तात्पर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जहाँ व्यङ्ग्यार्थ मुख्य नहीं होता वहाँ वह शब्दों को 'तत्पर' नहीं मानता अर्थात् शब्दों का वही एकमात्र अर्थ नहीं स्वीकार करता। अपितु यह मानता है कि वहाँ शब्दों का उद्देश्य केवल वाच्यार्थ या मुख्यार्थ है।

अतः जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान है वहाँ भी व्यङ्ग्य को तात्पर्य के अन्तर्गत नहीं माना

जाता। आनन्दवर्धन के एतद्-विषयक ध्वन्यालोकीय ग्रंथों को इस परिच्छेद के अन्त में उद्धृत किया गया है।

ध्वनि के विरुद्ध तात्पर्य का समर्थन करने वाले धनञ्जय और धनिक के मत को हम आनन्दवर्धन के कथन का विशिष्ट प्रत्युत्तर मान सकते हैं। इस परिच्छेद के अन्त में इस चर्चा से संबन्धित दशरूपक और अवलोक के मूल अंश उद्धृत कर दिये गये हैं। धनिक ने पहले संक्षेप में ध्वनि का पक्ष प्रस्तुत किया है। यथा-वाक्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ नहीं माना जा सकता या यों कहें कि तात्पर्य शब्द शक्ति नहीं हो सकता क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ अर्थ की तृतीय कोटि होता है। “भ्रम धार्मिक विश्वस्तः” जैसे स्थलों में पदार्थ (शब्दों का अर्थ) या अभिधा प्रथम कोटि है। द्वितीय कोटि है “भ्रम धार्मिक” इसका विध्यर्थ अर्थात् वाक्यार्थ या तात्पर्य। व्यङ्ग्यार्थ जो कि निषेध रूप में उपस्थित होता है और पूर्वार्थ से विलकुल भिन्न है तृतीय कोटि में आता है। यह व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही संभव है।

किन्तु सभी वाक्यों में तात्पर्यार्थ द्वितीय कोटिक नहीं होता। “विषं भुङ्क्ष्व” जैसे कुछ अन्य उदाहरण भी हैं। यहाँ पिता पुत्र से विष खाने को कहता है किन्तु इसका आशय इससे ठीक उलटा है। यहाँ वाच्यार्थ विधि रूप है किन्तु किसी विशेष व्यक्ति के घर में भोजन की इच्छा करने वाले पुत्र के प्रति पिता की उक्ति है कि तुम उसके घर में भोजन न करो। इसके घर में भोजन करने से तो विष खा लेना अच्छा है। “विषं भुङ्क्ष्व” इस उक्ति में तीन कोटियाँ हैं जिनमें विधि और निषेध क्रमशः द्वितीय और तृतीय कोटियों में आते हैं। यहाँ तृतीय कोटि भी केवल वाक्यार्थ और तात्पर्य है। अतः यह व्याप्ति अथवा नियम कि तृतीय कोटिक अर्थ व्यङ्ग्य होता है यहाँ काम नहीं देता। इसका उत्तर यह कि पिता द्वारा पुत्र को विषपान का आदेश प्रथम दृष्टि में असंगत मालूम होता है। अतः स्पष्ट ही वाक्य का अर्थ कुछ और होना चाहिए। इस कारण निषेध रूप वास्तविक अर्थ जो तृतीय कोटिक प्रतीत होता है वस्तुतः द्वितीय कोटि का ही है। अतः यह नियम कि व्यङ्ग्य की प्रतीति द्वितीय कोटि के पश्चात् होती है, संगत ही है।¹ रस निष्पत्ति के स्थलों में केवल विभावादि का ही ज्ञान द्वितीय कोटि में होता है। रस की अनुभूति तृतीय कोटि में ही होती है। ठीक तौर पर तात्पर्यवृत्ति को उन्हीं स्थलों में मानना उचित है जहाँ शब्दार्थ से अर्थ की पूर्णता अथवा अभिहितार्थ के पर्यवसान की सिद्धि नहीं होती और शब्द कुछ और अर्थ व्यक्त करने को आतुर दिखते हैं तथा उस अर्थ को व्यक्त करके ही विश्रान्ति लेते हैं। किन्तु उन स्थलों में ध्वनि मानी जायगी जहाँ शब्द अभिधार्थ को व्यक्त करके विश्रान्त हो जाते हैं, और जहाँ अभिधार्थ में किसी अपूर्णता या दुर्विज्ञेयता की प्रतीति नहीं होती। फिर भी प्रथम अर्थ से एक अन्य अर्थ की उत्पत्ति होती है।

(1) लोचन में लक्षणा के स्थलों को दृष्टि में रखते हुए अभिनव गुप्त ने ध्वनि को तृतीय कक्षा-विषयक अर्थात् अर्थ की तृतीय कोटि नहीं मानकर चतुर्थ कक्षा-विषयक माना है—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और ध्वनि। भक्तिहि लक्षणाव्यापारः तृतीयकक्षानिवेशी चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वनन्वयापारः। तस्मात् अभिधातात्पर्यलक्षण(णा)व्यतिरिक्त चतुर्थोऽसौ व्यापारः ध्वननद्योतनः व्यञ्जनप्रत्यायन-अवगमादिसोदरव्यपदेशनिरूपितः अभ्युपगन्तव्यः। लोचन, पृ. 18।

उपर्युक्त चर्चा से ऐसा लगता है कि मुख्य बात यह है—तात्पर्यवादी इस बात पर जोर देता है कि तात्पर्य केवल प्रथम अर्थ का बोध कराकर विश्रान्त नहीं हो जाता किन्तु ध्वनिवादी यह मानता है कि अभिधार्थ बोध के साथ तात्पर्य शक्ति विश्रान्त हो जाती है और उसके बाद व्यङ्ग्य द्वारा ही अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत की चर्चा में यह भी देखा जा सकता है कि दोनों सम्प्रदाय दो अर्थों को स्वीकार करते हैं अन्तर इतना है कि तात्पर्यवादी दोनों अर्थों को तात्पर्य मानता है वह प्रथम अर्थ को द्वितीय अर्थ का उपाय मात्र बतलाता है किन्तु ध्वनिवादी द्वितीय को व्यङ्ग्य नाम देकर पृथक् कर देता है और प्रथम अर्थ को द्वितीय के बोध में उपाय मात्र न मानकर वह अभिधार्थ को गौण और व्यङ्ग्यार्थ को प्रधान या मुख्य स्वीकार करता है। तात्पर्यवादी का मुख्य तर्क यह है कि तात्पर्यार्थ अभिधार्थ तक ही सीमित नहीं है जैसा कि ध्वनिमिद्धान्ती मानते हैं। उसके मत से तात्पर्य का विस्तार वक्ता के समग्र उद्देश्य तक रहता है। और अभिधार्थ से संबन्धित समस्त अर्थों को वह अपने भीतर समाविष्ट कर लेता है।

एतावत्येव विश्रान्तिः तात्पर्यस्येति किञ्चितम् ।

यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधुतम् ॥

धनिक—दशरूपक की अवलोक टीका पृ. 121, अपने ही काव्यनिर्णय से उद्धृत।

ऊपर दिये हुए “भ्रम धार्मिक” आदि उदाहरण में धार्मिक का गोदावरी तट पर जाने से निषेध वक्ता के तात्पर्य का एक अंग नहीं, मुख्य उद्देश्य है। इसलिये उसका समावेश तात्पर्य में ही है। ध्वनि नामक नवीन शक्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्यनतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य, न ध्वनिः। वक्ता का उद्देश्य ही इस बात को संकेतित करता है कि उसके कथन के तात्पर्य की सीमा क्या है। और इसलिये अन्तर्निहित अथवा व्यङ्ग्य अर्थ-शृंखला भी तात्पर्य होती है। इस गुरु तर्क के विरुद्ध ध्वनिवादी कहता है कि वाक्य का तात्पर्य जैसे पद की अभिधा का क्षेत्र सीमित होता है और उससे व्याकरणिक नियमानुसार एक क्रम में रखे गये शब्दों के अर्थमात्र की प्रतीति होती है। समय या संकेत द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के साथ व्यङ्ग्यार्थ अनिवार्य रूप से संबद्ध नहीं होता। ध्वनि या व्यङ्ग्य संगति जैसी अवाचक ध्वनियों और संकेतों में भी रहता है। जबकि संकेत में कोई शब्द नहीं होता और सबसे बड़ी बात यह कि रसानुभूति के प्रसङ्गों में ध्वनि को स्वीकार करना ही पड़ेगा। रसानुभव अभिधा द्वारा नहीं किया जा सकता, यह बात अनुभवसिद्ध है। अभिधा तो केवल रस का नामोल्लेख कर सकती है। ध्वनि को न स्वीकार करने और केवल तात्पर्य को स्वीकार करने का यह अर्थ होगा कि तात्पर्यवादी यह स्वीकार करे कि रस की अनुभूति भी अभिधा या तात्पर्य से हो सकती है। अर्थात् उन्हें कहना पड़ेगा कि स्वशब्दोपादान रसदोष नहीं है। बल्कि इसके ठीक विपरीत कुछ स्थितियों में वह वास्तविकता है। धनिक ने इस बात को स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि हम दो प्रकार से अपनी बात कहते हैं। कभी हमारे वाक्यों में क्रिया अभिहित रहती है और कभी नहीं। हम कहते हैं “गाम-भ्याज” इस वाक्य में वाहन क्रिया का साक्षात् उल्लेख है। कभी कभी हम कहते हैं—“द्वारं

द्वारम्” और तब हमारा तात्पर्य होता है—“द्वारं पिघेहि।” द्वार को बन्द करने का विचार हमारे मन में रहता है। और जो व्यक्ति द्वार बन्द करने दौड़ता है वह संदर्भ के अनुसार हमारे मन में विद्यमान पिधान क्रिया को समझ लेता है। रसानुभूति की बात भी ऐसी ही है। अधिकांश काव्योक्तियाँ दूसरे प्रकार की होती हैं। इनमें क्रिया अभिहित नहीं होती, प्रसङ्ग से समझ ली जाती है। काव्योक्तियों में विभावादि वर्णित रहते हैं और हम तुरन्त ही रति के स्थायी भाव को, जो अनिवार्य रूप से उन वर्णित विशिष्ट विभावादिकों से संबन्धित होती है, प्राप्त कर लेते हैं। विशिष्ट विभावादिकों का विशिष्ट स्थायी भावों के साथ अनिवार्य संबंध नित्यानुभव से सिद्ध है। दूसरे ऐसे स्थल भी हैं जहाँ अभिहित क्रिया के समान स्थायी भाव कवि द्वारा वर्णित होता है और हम सरलता से उसकी अनुभूति कर लेते हैं। “गाम् अभ्याज” और “द्वारं द्वारम्” आदि सब वाक्यों की परिणति किसी न किसी क्रिया में होती है। काव्योक्ति की परिणति स्वादोद्भूति नामक क्रिया में होती है अर्थात् निश्चित सीमा तक पोषित स्थायी भाव के आस्वाद की अनुभूति ही आस्वाद समस्त काव्य का लक्ष्य है। इस प्रकार इसी काव्योक्ति में वर्णित निश्चित विभावादिक पदार्थों (जो मूलार्थ का बोध कराते हैं) और फिर वाक्यार्थ अर्थात् स्थायी के बोधक होते हैं। सहृदय पाठक अथवा दर्शक जो भावक के रूप में स्थायी से परिचित होता है अपने हृदय में स्थायी की अनुभूति कर रसास्वाद प्राप्त करता है।

इसे आभिधानिकी रत्यादि प्रतीति कहते हैं। यदि इससे बात स्पष्ट न हुई हो तो विभावादिकों के द्वारा स्थायी भाव का बोध लक्षणा द्वारा प्राप्त माना जा सकता है। अर्थात् लाक्षणिक रत्यादि प्रतीति स्वीकार की जा सकती है। ऐसा धनिक का मत है। यह मत कुमारिल से मिलता जुलता है जिसमें आख्यातार्थ लक्ष्य माना जाता है।

और आगे चलकर धनिक ने अपनी स्थिति का तालमेल भट्टनायक से बिठा लिया है जो काव्य और रस के बीच एक नवीन सम्बन्ध के पुरस्कर्ता हैं। ध्वनि सम्प्रदाय द्वारा काव्य और रस के बीच स्वीकृत व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-सम्बन्ध के विरुद्ध तात्पर्यवादी को कहना होगा कि इन दोनों के बीच वाच्य-वाचक-सम्बन्ध है या जैसा कि धनिक ने अन्त में कह दिया था कि दोनों के मध्य लक्ष्य-लक्षक सम्बन्ध है। किन्तु काव्य के विवेच्य होने के कारण यह आवश्यक था कि वाच्य-वाचक-सम्बन्ध की अपेक्षा इसे कुछ कम शुष्क पद्धति से निरूपित किया जाय। अतः उसे भाव्य-भावक-सम्बन्ध नाम दिया गया। काव्योक्ति में एक विशिष्ट शक्ति होती है जिसे भावना कहते हैं। धनिक का कथन है कि इसे भावनावादी भट्टनायक ने स्वीकार किया है। और भावों का वर्णन करते हुए भरत ने भी इसे मान्यता दी है। “भावयन्ति रसान् यस्मात् तस्माद् भावाः”

इस मत का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह विशिष्ट रस के नामोल्लेख द्वारा भी उसकी अनुभूति मानता है। यह एक पुरातन धारणा थी। हम उद्भट को रसवदालंकार की परिभाषा के प्रसंग में यह कहते पाते हैं कि रस का अपना आस्पद स्वशब्द होता है। अर्थात् उसका अपना नाम, उसका स्थायी, उसका संचारी, उसके विभाव और उन सबके अभिनय ये रस के अपने आस्पद होते हैं। (चतुर्थ वर्ग, 3) आनन्दवर्धन ने अपने

प्रथम उद्योत में और अभिनवगुप्त ने लोचन और अभिनवभारती दोनों में इसकी आलोचना की है। उत्तरवर्ती काल में जैसा कि मम्मट ने निश्चित रूप से कहा है स्वशब्दवाच्यत्व अर्थात् रस का स्वशब्द द्वारा उल्लेख प्रमुख रसदोष मान लिया गया। यहाँ तक कि व्यभिचारियों के भी स्वशब्दाभिधान को यदाकदा ही अनुमति दी गई। स्पष्ट है कि अनुक्रम से नवों रसों का परिगणन करने वाले छन्द में रसास्वाद संभव नहीं है। नाट्यशास्त्र का मूल पाठ भावों को जागरित नहीं कर सकता किन्तु नाट्य उन्हें जागरित करता है। भट्टनायक महाम् रसवादी थे। और ध्वनि विरोधी होते हुए भी उन्होंने कहीं रस को स्वशब्दवाच्य नहीं माना। यह बात हम अभिनवगुप्त के कथन से जान सकते हैं।

रसस्य च स्वशब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यमेव-पृ. 19

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अस्तित्व की सिद्धि के लिए अपने पक्ष में यह एक अतिरिक्त तर्क उपस्थित किया है। यदि रस तथा व्यङ्ग्य वस्तु और अलंकार को ध्वन्यमान न माना जाय तो उन्हें वाच्य मानना पड़ेगा। और यदि वे वाच्य हैं तो किसी भी व्यक्ति को जो उन शब्दों का अर्थ जानता हो उनकी अनुभूति होनी चाहिए किन्तु तथ्य यह है कि केवल कुछ सहृदयों को ही उनकी अनुभूति होती है। यह इस बात का पक्का प्रमाण है कि बात में वाच्यवाचकमात्र के अतिरिक्त भी कुछ अन्य विद्यमान होता है।

आनन्दवर्धन ने इस बात की ओर संकेत किया है कि यद्यपि मुख्य प्रतिपाद्य व्यङ्ग्य ही होता है तो भी अभिधाय उसकी उपलब्धि में साधन रहता है। इन दोनों के मध्य प्रथम मुख्य होता है और द्वितीय गौण। व्यङ्ग्यार्थ की अनुभूति के पश्चात् भी अभिधाय नष्ट नहीं हो जाता। अभिधाय के बोध के साथ व्यङ्ग्यार्थ का सद्यः उदय होता है और फिर प्रथम की विद्यमानता में द्वितीय का अनस्तित्व नहीं होता। तात्पर्यवादी का कहना है कि वाच्य-वाचक और विभावादिक पदार्थ हैं और इन पदार्थों का तात्पर्य है रस जिसे वाक्यार्थ कहा गया है। यदि इसका सामान्य अर्थ यह हो कि पदार्थ उपाय हैं और वाक्यार्थ उनका उद्दिष्ट तो आनन्दवर्धन इस सादृश्य को स्वीकार कर लेंगे। उन्होंने प्रथम उद्योत में कहा है—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः [सम्प्रतीयते]।

वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः

इसका अर्थ यह नहीं है कि आनन्दवर्धन भी धनिक द्वारा पुरस्कृत इस मत से सहमत हैं कि तात्पर्य द्वारा उपलब्ध रस ही वाक्यार्थ है। तृतीय उद्योत में तात्पर्य पर चर्चा करते हुए आनन्दवर्धन ने स्वयं ही इस सादृश्य के वाक्यार्थ संबन्ध में अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है।

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीति असत्यैवेति कैश्चिद् बिद्वद्भिरास्थितम्। यैरप्यसत्यत्वमस्या नाम्युपेयते तैः वाक्यार्थपदार्थयोः घट-तदुपादान-कारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भः, तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीतेः पदतदर्शनाम्। तेषां तदा विभक्ततया उपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव

दूरीभवेत् । न त्वेष वाच्य-व्यङ्ग्योन्यायः । न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति । वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात् । तस्मात् घटप्रदीप-न्यायस्तयोः । यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यङ्ग्य-प्रतीती वाच्यावभासः । यत्तु प्रथमोद्योते “यथा पदार्थद्वारेण” इत्या-द्युक्तं तदुपायत्वसाम्यमात्रविवक्षया ।

3पृ. 190

अभिनवगुप्त का कथन है कि आनन्दवर्धन ने यह बात तात्पर्यवादी के मत का खण्डन करने के लिये कही है । जो काव्य और रस में पदार्थवाक्यार्थ-न्याय के समर्थक हैं । पदार्थ और वाक्यार्थ के परस्पर संबन्ध के विषय में दो मुख्य मत हैं । वैयाकरणों के मत से पदार्थज्ञान मिथ्या या अवास्तविक है । निश्चय ही यह मत विभावादिकों और रस अथवा वाच्य और व्यङ्ग्य के पारस्परिक संबन्ध की समस्या का समाधान नहीं कर सकता क्योंकि वाच्य को या वाक्यार्थ को मिथ्या या अवास्तव कहना तो संभव नहीं है । भाक्त मीमांसकों का कहना है कि पदार्थ मिथ्या या अवास्तविक नहीं होते । तब उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पदार्थ वाक्यार्थ के उपादान कारण हैं । जब घट निर्मित हो जाता है और प्रत्यक्ष होता है तब उसके घटक अङ्ग जिनसे वह घट बना है घट से पृथक् नहीं दिखाई देते । पदार्थों पर भी यही बात लागू होती है । जब कोई व्यक्ति समग्र अर्थ के भीतर उसके अङ्गों को देखने पर जोर देता है तो समग्र अर्थ नष्ट हो जाता है । अतः वाच्य और व्यङ्ग्य के संबन्ध में यह उपादान कारण का संबन्ध भी काम नहीं देता क्योंकि जब व्यङ्ग्य का अवगम होता है तो वाच्य अर्थ नष्ट नहीं हो जाता । अतः दीपक की उपमा स्वीकार करनी पड़ेगी दीपक छिपी हुई वस्तुओं का प्रत्यक्ष कराता है । इसे प्रकाशन्याय या घटप्रदीपन्याय कहते हैं । जब दीपक कक्षा में रखे हुए घट को प्रकाशित करता है और हम अपनी आँखों से उसे प्रत्यक्ष देखते हैं तो दीप का प्रकाश नष्ट नहीं हो जाता । अपितु बराबर चमकता रहता है । वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी । (देखिये लोचन पृ. 179-90)

एवं पदार्थवाक्यार्थ न्यायं तात्पर्यशक्तिसाधकं प्रकृतविषये निराकृत्य अभिमतां प्रकाशशक्तिं साधयितुं तदुचितं प्रदीपघटन्यायं प्रकृते योजयन्नाह । लोचन-पृ. 190 ।

प्रथम प्रदीप में भी दशम कारिका में अन्तर्गत कार्यकारणभाव के लिये सामान्य उपमा के रूप में पदार्थवाक्यार्थन्याय का उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—न तु वाच्यस्य सर्वथा अनवभासः । अत एव तृतीयोद्योते घटप्रदीपवृष्टान्तबलाद् व्यङ्ग्यप्रतीति-कालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटत इति यद् वक्ष्यति, तेन सह अस्य ग्रन्थस्य न विरोधः । लोचन, पृ. 32 ।

धनिक ने इस घटप्रदीपन्याय की उपमा का खण्डन किया है वे मानते हैं कि रस को व्यङ्ग्य कहना संभव नहीं है । व्यङ्ग्यव्यञ्जक और व्यञ्जनां हमारे पदार्थ ज्ञान की उस स्थिति से संबन्धित है जिसमें एक पदार्थ दूसरे से सर्वथा भिन्न होता है और अपने स्वतन्त्र कारणों द्वारा उत्पन्न होता है तथा वह अन्य स्वतन्त्र कारणों द्वारा उत्पन्न स्वतन्त्र वस्तु का प्रत्यक्ष कराता है । इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यञ्जकन्याय का प्रयोग दीपक तथा घट को प्रत्यक्ष

कराने वाले उसके प्रकाश के संबन्ध में होता है। दोनों वस्तुओं का मूल एवं स्वभाव पूर्णतः भिन्न है। प्रथम दूसरे को प्रकाशित करता है।

किन्तु विभावादि के विषय में जिन्हें ध्वनिवादियों ने व्यञ्जक कहा है इस स्थिति से कोई साम्य नहीं है जिससे व्यञ्जक और व्यञ्ज्य शब्दों का प्रयोग उचित ठहराया जा सके। विभावादिक स्वयं ही रस के अस्तित्व में आने के कारण होते हैं। वे इतनी घनिष्टता से परस्पर संबद्ध हैं कि उन्हें इस तरह पूर्णतः असंबद्ध और परस्पर स्वतंत्र कहना संभव नहीं जैसे कि दीपक और घट को कहा जा सकता है। निस्संदेह पात्र का अस्तित्व प्रकाश पर निर्भर नहीं है। पात्र मृत्तिका द्वारा निर्मित कपालों से बनता है। इसलिये रसों के व्यञ्जना द्वारा प्रत्यक्षीकरण की समता दीपक और घट से मानना अनुचित है क्योंकि काव्य में व्यञ्जक और व्यञ्ज्य एक दूसरे पर बहुत अधिक निर्भर होते हैं। यहां तक कि व्यञ्ज्य का अस्तित्व ही व्यञ्जक पर निर्भर होता है। धनिक ने कहा है—“एवं च सति रसादीनां व्यञ्ज्यत्वमपास्तम्। अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्तु अन्येनापि (मि) व्यज्यते” प्रदीपेनेव घटादि। न तु तदानीमेव अभिव्यञ्जकत्वाभिमतैः आपाद्यस्वभावम्। दशरूपक—अवलोक—पृ. 122।

तात्पर्य और ध्वनि संबन्धी विवेचन का संपूर्ण क्षेत्र उपर्युक्त समीक्षण के अन्तर्गत आ जाता है। आनन्दवर्धन के अनन्तर किन्तु अभिनवगुप्त के पूर्ववर्त्ती उन्हीं के सम्बन्धी ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका व्याख्या के प्रणेता का भुकाव तात्पर्यवादियों की ओर था। उन्होंने समस्त व्यञ्ज्यार्थों को कवि के उद्देश्य का एक भाग मानकर यह मत प्रतिपादित किया कि ध्वनि तात्पर्य ही है। अभिनवगुप्त की लोचन टीका में इस ओर संकेत करने वाले दो संदर्भ मिलते हैं—(1) यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतः तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकमेव वा ध्वनत्वमवोचत् स नास्माकं हृदयमावर्जयति—पृ. 20 और (2) यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वनत्वमन्यते स न वस्तुतत्त्ववेदी—पृ. 26। इनमें दूसरा संदर्भ बहुत स्पष्ट नहीं है किन्तु प्रथम में साफ साफ कहा है कि उस मत का पुरस्कर्ता ध्वनि का व्याख्याकार ध्वन्यालोक है। भट्टनायक ने ध्वनि के विरुद्ध तात्पर्य के समर्थन में क्या कहा था यह हमें ठीक-ठीक मालूम नहीं है दशरूपक की अवलोक टीका से हमें जो कुछ पता चलता है वह भाव्यभावक संबन्ध का समर्थन है। हम उपसंहार में कह सकते हैं कि भावकत्व तात्पर्य का ही नया काव्यशास्त्रीय नाम है। जो भरत द्वारा भाव शब्द की दी गयी व्युत्पत्ति पर आश्रित है। यह काव्योक्ति के क्षेत्र में सामान्यतया प्रयुक्त होने वाले तात्पर्य शब्द का ही दूसरा नाम है किन्तु भट्टनायक की आलोचना करते हुए अभिनवगुप्त कुछ ऐसा कहते हुए लगते हैं कि भट्टनायक रस को वाच्य नहीं मानते थे और वे रसध्वनि के समर्थक थे।

रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाऽङ्गीकृतः—पृ. 15।

रसस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यञ्ज्यत्वमेव—पृ. 19।

इस बात का तात्पर्य स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता। निश्चय ही रस के दृढ़ समर्थक होने के नाते भट्टनायक रस को काव्य का जीवित मानते हैं। लोचन के पृ. 12 पर अभिनवगुप्त ने कहा है “व्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावत् जीवितभूते इति भवतोऽपि अविवादो-

अस्ति । इसके लिये अभिनवगुप्त ने भट्टनायक का निम्न ग्रंथ प्रमाण रूप में उद्धृत किया है ।

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् ।

भट्टनायक ने यह बात काव्य को महाकाव्यों तथा वेद एवं शास्त्र से पृथक् करने के लिये कही है । महाकाव्यों से बोध या शिक्षा प्राप्त होती है और वेद तथा शास्त्रों से विधिनिषेध विषयक नियोग । किन्तु काव्य केवल आनन्द प्रदान करता है । उपर्युक्त पङ्क्ति को भट्टनायक की बहुधा उद्धृत की जाने वाली दूसरी पङ्क्ति “शब्दप्राधान्यमाश्रित्य” आदि के साथ मिलाकर पढ़ा जाना चाहिये । इस दूसरी पंक्ति में इतिहास या आख्यान और शास्त्र से काव्य का भेद उपर्युक्त ढंग से ही बतलाया गया है । ध्वनि के सम्बन्ध में यह भट्टनायक का एक निश्चित वक्तव्य है । अभिनवगुप्त ने इसे उद्धृत किया है किन्तु ऐसा लगता है कि अभिनवगुप्त ने इसमें उनकी बात को तोड़मरोड़ व्याख्या रूप में प्रस्तुत किया है ।

ध्वनिर्नामापरो योऽसौ व्यापारो व्यञ्जनात्मकः

तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्याङ्गत्वं, न रूपिता ।

भट्टनायक ने चर्चा के अन्त में इसे सुप्रसिद्ध तुष्यतु-दुर्जन-न्याय से स्वीकार किया है । उनका आशय है कि एक पृथक् और स्वतन्त्र ध्वनि नामक व्यापार को मान लिया जाय यह अधिक से अधिक काव्य का एक गौण तत्त्व या काव्यांश अथवा काव्यांग ही तो रहेगा । आनन्दवर्धन द्वारा वर्णित काव्यरूपी या काव्यात्मा तो नहीं होगा । काव्यरूपी या काव्यात्मा निश्चय ही रस है । काव्य ध्वनि नहीं । जैसा कि अभिनवगुप्त ने भट्टनायक को गलत ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा है । सही बात यह कि भट्टनायक के मत में काव्य की आत्मा रस-चर्वणा या रसभोग है जिसकी प्राप्ति ध्वनि द्वारा नहीं होती अपितु भावकत्व एवं भोजकत्व के द्वारा होती है । ध्वनि द्वारा रसोपलब्धि का खण्डन करने के लिए ही तो उन्होंने अपना ग्रन्थ लिखा । उपर्युक्त कारिका में भट्टनायक द्वारा ध्वनि के स्वीकार करने का उद्देश्य इतना ही है कि वे यहाँ पर उसे काव्य के एक तत्त्व के रूप में मानने को तैयार हैं । यह विचार कुन्तक से मिलता जुलता है जो कि इसे काव्य का एक तत्त्व भर मानने को तैयार हैं, काव्य का सर्वस्व नहीं । कुन्तक ध्वनि को वक्रता का एक भेद मानते हैं । रुय्यक ने कहा है कि भट्टनायक ने व्यञ्जना व्यापार को प्रौढोक्ति के एक तत्त्व अथवा कविव्यापार के रूप में ही स्वीकार किया है । भट्टनायक ने तु व्यञ्ज्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याऽभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता आदि । पृ. ६

“भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः” इस कारिका में भट्टनायक ने स्पष्ट कहा है कि रस की प्राप्ति ध्वनि द्वारा नहीं अपितु भावना के द्वारा होती है ।

भोज

भोज समन्वयवादी हैं । वे आनन्दवर्धन एवं तात्पर्यवादी दोनों के अनुयायी हैं । वे सदा मतभेदों की उपेक्षा कर मोटे तौर पर सामञ्जस्य बिठाते चलते हैं । इस सुखद स्थिति के

कारण वे प्रत्येक का अनुसरण करने और दोनों मतों को साथ-साथ स्वीकार करने में सक्षम हुए हैं। भोज आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से सुपरिचित हैं किन्तु उनके ग्रन्थों में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि वे अभिनवगुप्त की दोनों में से एक भी कृति से परिचित थे। आनन्दवर्धन के ग्रन्थ से उनके परिचय के प्रमाण स०क०आ० तक में प्राप्त होते हैं। स०क०आ० के पञ्चम परिच्छेद में पृ० 628 पर भोज ने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत से चार कारिकाएँ उद्धृत की हैं। उन्होंने कहा है गुणों की कुछ ऐसी स्थितियों में जहाँ गुण रसों के साथ सहज रूप से मिश्रित होते हैं वहाँ गुण और रस के संकर के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ भोज ने माधुर्य, ओजस् और प्रसाद इन तीन गुणों के सम्बन्ध में भोज ने आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत की आठवीं से ग्यारहवीं तक कारिकाएँ उद्धृत की हैं—(पृ. 79-82) और उनका समुचित उपयोग किया है। यह बात आगे चलकर गुण सम्बन्धी परिच्छेद में और स्पष्ट की जायगी। इसी प्रकार रस और अलंकार के विषय में भोज ने आनन्दवर्धन के द्वितीय उद्योत की तीन कारिकाओं का उपयोग किया है। साथ ही पहला परिकर श्लोक पृ. 87 पर सत्रहवीं कारिका पृ. 85 पर और एक परिकर श्लोक पृ. 221 पर तृतीय उद्योत के अंतिम चरण में थोड़ा परिवर्तन करके ले लिया है।

“रसवन्ति हि वस्तुनि” “रसाक्षिप्ततया” और “रसभावाद”। इन श्लोकों का उपयोग आनन्दवर्धन ने किस प्रकार किया है, यह बात आगे अलंकार परिच्छेद में स्पष्ट की जायगी। उपर्युक्त दोनों प्रसङ्गों के उद्धरण शृ० प्र० में भी एकादश प्रकाश जिल्द 2 पृ. 398 और 404-5 पर भी मिलते हैं। अलंकार के प्रसङ्ग में उन्होंने शृ. प्र. में ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत का एक और परिकर श्लोक “शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये” आदि (ध्वन्यालोक पृ. 222) उद्धृत किया है। स. क. आ. के पञ्चम परिच्छेद (स. क. आ.-पृ. 474 श्लोक 3) के विलकुल प्रारम्भ में ही यह कारिका उद्धृत की गई है और भोज की अपनी कारिकाओं का ही एक भाग बना दी गई है। इस कारिका में भोज ने शृङ्गार के, जिसे वे अहंकार कहते हैं, सम्बन्ध में अपनी व्याख्या जोड़ दी है।

आनन्दवर्धन से उद्धृत कारिकाओं के इन दो तीन उदाहरणों को छोड़कर भोज ने केवल एक अन्य विषय में आनन्दवर्धन का आश्रय लिया है और यह विषय अधिकांश ध्वनि का है। अपने संस्कृत पोयेटिक्स नामक ग्रन्थ की जिल्द 2 के पृ. 229 पर डॉ. एस. के. दे ने कहा है “इस प्रसङ्ग में उस सम्प्रदाय पर चर्चा करना सुविधाजनक होगा जिसका प्रतिनिधित्व अग्निपुराण के काव्यशास्त्राध्याय का लेखक एवं श्रीभोज करते हैं। यह सम्प्रदाय अनेक दृष्टियों से आनन्दवर्धन के काश्मीरी सम्प्रदाय से भिन्न है और ध्वनि मत की गुत्थियों से पूर्णतः अछूता रह गया जान पड़ता है।” इसी ग्रन्थ के पृ. 261 पर डॉ. दे ने कहा है— “इसलिए भोज की कृतियों में रस को दिए गए प्राधान्य एवं ध्वनिमत की सर्वथा अनुपस्थिति को देखकर हमें आश्चर्यान्वित होने की आवश्यकता नहीं।” इसी पृष्ठ पर फिर कहा गया है— “भोज ने ध्वन्यालोक की कारिकाओं की संगति तक बिठा ली है यद्यपि वे उसके मत को स्वीकार नहीं करते। “अगले पृष्ठ, (262) पर डॉ. दे कहते हैं” उनके (भोज के) विशाल संग्रह-ग्रन्थ में, स्पष्टतया “ध्वनिमत” की उपेक्षा एक अपवाद है शिक्षाओं के संकलन

के विविध रूप मिलते हैं ।" डॉ. दे की ये टिप्पणियाँ स. क. आ. के अनुशीलन से प्राप्त जानकारी पर आश्रित हैं । भोज के श्रु. प्र. के अध्ययन के पश्चात् कोई ऐसा नहीं कह सकता । यों स. क. आ. तक में ध्वनिमत पूर्णतया अनुपलब्ध नहीं है । भोज ने स. क. आ. और श्रु. प्र. दोनों में ध्वनि को स्वीकार किया है । किन्तु उन्होंने भामह, दण्डी और वामन का अनुसरण करते हुए हर वस्तु को अलंकार या गुण के भीतर समाविष्ट कर दिया है । किन्तु अन्त में वह वस्तु अलंकार में ही समाविष्ट हो जाती है क्योंकि इस मत में गुण भी अलंकार ही है । इस प्रकार रस कान्ति नामक अर्थ गुण (जैसा कि वामन ने निरूपित किया है) और रसवद् अलंकार या रसोक्ति नामक श्रेणी का अलंकार मान लिये गये हैं । इसी प्रकार से भोज ने ध्वनि को गाम्भीर्य नामक शब्द गुण बतलाया है । ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्—स. क. आ. 1-73 पृ. 55 । ठीक उसी प्रकार जैसे कि काव्योक्ति का शोभाकारक तत्त्व होने से रस को रसवद् अलंकार मान लिया है उसी प्रकार भोज ने ध्वनि को काव्योक्ति का अलंकार गुण स्वीकार किया है । वाच्योपस्कारक गुण भी हो सकता है और अलंकार भी । भामह और दण्डी रस को अलंकार मानते हैं । किन्तु वामन के मत में वह गुण है । इसी प्रकार भोज के अनुसार ध्वनि गुण है । यदि इस चर्चा को यहीं रोक दें तो हम कह सकते हैं कि ध्वनि के के सम्बन्ध में भोज अन्तर्भाववादी हैं । यह अन्तर्भाव पहले गुण में और फिर उसके द्वारा अलंकार में होता है ।

यद् गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चास्तवकारि न भवति । + + + चास्तवहेतुश्च ध्वनिः । तन्न तद्व्यतिरिक्तः । लोचन-पृ. 5 ।

इसे छोड़कर भी श्रु. प्र. के अन्य स्थलों में ध्वनि की चर्चा देखी जा सकती है । स्वयं गुण के प्रकरण में गाम्भीर्य के अतिरिक्त अन्य गुणों में भी ध्वनि मिलती है । भोज के गति नामक अर्थ गुण में भी ध्वनि पाई जाती है ।

गतिः सा स्यादवगमः । योऽर्थादर्थान्तरस्य तु ।

इस पर रत्नेश्वर ने कहा है —

तेन सहृदयहृङ्गमादर्थान् कास्यतालानुस्वानन्यायेन तादृशमर्थान्तरमवगम्यते सा गतिरिति लक्षणार्थः ।

1, 121 पर भी रत्नेश्वर ने कहा है—

ध्वननव्यापारोन्मेषाच्च गुणत्वलाभः ।

भोज के शब्दालंकारों में भी ध्वनि देखी जा सकती है । ध्वनि अर्थात् शब्दों द्वारा प्राप्त अर्थ से अतिरिक्त का उपलम्भ में यह पहले ही मान लिया जाता है कि कुछ वाच्यार्थ का परित्याग कर दिया गया है । यह अर्थ गोपनसंहति कहलाता है जो बहुत से अलंकारों का कारण बनता है । भोज ने मुद्रा उक्ति और भणिति जैसे शब्दालंकारों (पृ. 146, 150-1 और 154) में संहति का उपयोग किया है । इन सब में ध्वनि अन्तर्निहित होती है । संहति अथवा अर्थगोपन के विषय में जो ध्वनि का अङ्ग है स्वयं आनन्दवर्धन ने कहा है

संहत्याभिहित वस्तु यत्रालङ्कारमेव वा (ध्वन्या. 3, चतुर्दश कारिका से पूर्व का संग्रह श्लोक) भोज के कल्पना भणिति नामक शब्दालंकार पर टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर ने कहा है —
 सेयं भणितिः विधिनियेधप्रसङ्गे निषेधघटकद्वारा विधिरूपा भवतीत्यास्तां विस्तरः ।

उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत श्लोक पर टिप्पणी करते हुए स्वयं भोज ने यह कहा है —
 “कल्पनाभणितिः विधिनियेधे निषेधविधिरूपा” भोज के अर्थालङ्कार प्रकरण में भी यह व्यङ्ग्यार्थ उपलब्ध होता है—भोज का सूक्ष्म नामक अर्थालंकार भी अनुभाव से प्राप्त शुद्ध रसध्वनि का उदाहरण है । भामह ने इस सूक्ष्म को अलंकार मानने से इनकार कर दिया है । (2-86) जबकि दण्डी ने प्रतिशोध दृष्टि से इसे उत्तम भूषण माना है । भोज ने दण्डी की बात में थोड़ा परिवर्तन करके इसे अलंकार स्वीकार किया है । उनके मत में रचना में विद्यमान सकेतों से अभिव्यक्त सूक्ष्म अर्थ को वहन करने वाला अलंकार सूक्ष्म कहलाता है । इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सूक्ष्म इति स्मृतः - (2-260 काव्यादर्श)

दण्डी द्वारा दिये गये दूसरे उदाहरण में यह अनुभावोत्थ रसध्वनि है । भोज ने प्रथम उदाहरण का, जिसमें सन्ध्याकाल को अभिसारकाल सूचित करने के लिये निमीलित कमल को गुप्त प्रतीक बनाया गया है, परित्याग कर दिया है । भोज ने सूक्ष्म के दो भेद बताए हैं—प्रथम इङ्गित या अनुभाव द्वारा व्यङ्ग्य रस और द्वितीय आकार अथवा रोमाञ्च आदि सात्विक भावों द्वारा प्राप्त व्यङ्ग्य रस या रसध्वनि ।

तत्र इङ्गितलक्ष्यमभिधीयमानसूक्ष्मं यथा—तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानामिति । अत्र स्वयंवरमिलितानां राज्ञां राज्यपुत्रीं प्रति प्राप्तलक्षणस्य मनोरथस्य शृङ्गारचेष्टात्मकेत्वन इङ्गितेन व्यङ्ग्यत्वात् अयमिङ्गितलक्ष्यः अभिधीयमानः सूक्ष्मभेदः ।

भोज ने सूक्ष्म के इन दोनों भेदों का भी एक और प्रकार स्वीकार किया है—अभिधीयमान और प्रतीयमान ।

वाच्यः प्रतीयमानश्च सूक्ष्मोऽत्र द्विविधो मतः (3, 22)

अनुभाव और सात्विक भाव का वर्णन एवं उनके द्वारा रस का ध्वनन अभिधीयमान सूक्ष्म कहलाता है । प्रतीयमान सूक्ष्म वाच्य व्यभिचारी के द्वारा व्यङ्ग्य रस के स्थलों में होता है ।

व्याहृता प्रतिवचनं न ददातिरूपत्येकैकस्मिन् ।

आर्या कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे ॥

इस उदाहरण पर टिप्पणी करते हुए (स. क. आ. पृ. 286) भोज ने इसे प्रतीयमान सूक्ष्म स्वीकार किया है । प्रतीयमान सूक्ष्म के तृतीय उदाहरण में हमें ईर्ष्याविप्रलम्भ-ध्वनि (पृ. 287) मिलती है । भोज रस को केवल प्रतीयमान मानने के विषय में कुछ अधिक गम्भीर नहीं दिखाई देते । वे इसे अभिधीयमान भी मानते हुए से लगते हैं । यदि वे सूक्ष्म का एक भेद अभिधीयमान भी मानते हैं तो इसका कारण यह है कि उन्हें निम्नलिखित दो श्लोकों में भाव का स्वशब्द से वर्णन मिलता है—

“तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानाम्” और “सा यूनि तस्मिन्तभिलाषबन्धम् ।” इसलिये भोज ने कहा है—मनोरथस्य अभिधीयमानस्य + + + इङ्गितेन व्यङ्ग्यत्वात् ।

2—भोज ने अन्योन्यालङ्कार (3 पृ. 294-5) के तीन भेद माने हैं वाच्य, प्रतीयमान और उभय । प्रतीयमान अन्योन्य के उदाहरण के रूप में वह सुप्रसिद्ध गाथा उद्धृत की गई है जिसमें एक पथिक पानी पीते हुए उंगलियों को सच्छिद्र फैलाये हुए है और पानी पिलाती हुई लड़की उसकी सच्छिद्र उंगली में धीरे-धीरे और पतली पतली धार से जल डाल रही है । भोज के अनुसार यहाँ दोनों का अन्योन्यानुराग प्रतीयमान है ।

3—अर्थालङ्कारप्रकरण (स. क. आ. पृ. 305) में अर्थ ध्वनि का एक प्रसंग यहाँ भोज ने व्यतिरेक के अन्तर्गत प्रतीयमान सादृश्य की चर्चा की है ।

4—और अन्त में भोज ने संभवालङ्कार पर टिप्पणी करते हुए संभव की प्राचीन परिभाषा का खण्डन किया है जिससे स्पष्ट होता है कि वे रस की निष्पत्ति में अनुमान सिद्धान्त से सहमत नहीं थे । भोज द्वारा रसध्वनि की स्वीकृति को सिद्ध करने के लिए यहाँ यह बात नहीं कही गई है अपितु इस दृष्टि से प्रस्तुत की गई है कि अवश्य ही यह बात ध्वनि और रसध्वनि के प्रसंग में उपयोगी मानी जायगी । स. क. आ. 3 पृ. 294 पर भोज कहते हैं—

अत्र यथा खार्यां द्रोणः, शते पञ्चाशत् इति नियमः नैवम् विप्रलम्भे श्रलकानामकल्प-
नम्, अनञ्जनमक्षणोः, मधुनो वा प्रत्यादेशः, सुहृदुदन्तलाभारम्भे वा नयनस्पन्दनानि; संभा-
व्यन्ते च प्रभूतकारण(णा)लोकादित्येष विधिरूप एव सम्भवः ।

वे कहते हैं कि खारी में द्रोण का और सौ में पचास का विद्यमान होना केवल अनुमान है—सोऽनुमानात् न भिद्यते (स. क. आ. 2-26) । किन्तु वे यह नहीं स्वीकार करते कि रस (यहाँ पर विप्रलम्भ) और उसके व्यभिचारियों तथा अनुभावों में कोई नियम या व्याप्ति होती है । यहाँ केवल संभावना होती है अनुमान या लिङ्गलिङ्गी भाव के विरुद्ध ध्वनिवादियों का यह प्रमुख तर्क है । विद्यानाथ कहते हैं (प्रतापरुद्रीय व्याख्या, बालमनोरमा सं. पृ. 41)—न च अर्थ शक्तिमूले व्यञ्जने अनुमानशङ्का । व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः अविनाभावाभावात् । नम्राननत्वादिकार्यस्य अनेककारणकत्वात् ।

5—उपमा भी दो प्रकार की बतलाई गई है अभिधीयमान और प्रतीयमान । ध्वनि सम्बन्धी उपर्युक्त बातें जो कि स. क. आ. के अलंकार प्रकरण में मिलती हैं वे शृ. प्र. में भी बिना किसी टिप्पणी के दोहराई गई हैं । इसके अतिरिक्त शृ. प्र. के बाईसवें प्रकाश में (जिल्द 3 पृ. 368-9) में भोज ने अनुराग के चौबीस भेद बताये हैं जिनमें से दो के दो-दो प्रकार हैं—अभिधीयमान और प्रतीयमान ।

ध्वनि के संबन्ध में इन उधर उधर बिखरी हुई बातों के अतिरिक्त भोज ने काव्य-क्षेत्र सबसे बड़ा व्यापार ध्वनि को ही माना है । आनन्दवर्धन के ध्वनिसंबन्धी ग्रंथों को शृ. प्र. के ध्वनि निरूपण में आत्मसात् कर लिया है । इस पर हम अभी विचार करेंगे ।

शृ. प्र. में षष्ठ प्रकाश के अन्त में हम पहली बार ध्वनि की चर्चा सुनते हैं । भोज ने अर्थ की व्याख्या करते हुए कहा है कि वह अविद्योपाधि द्वारा उत्पन्न शब्दब्रह्म का अध्यास

या विवर्त है। भोज ने कहा कि यह बात शब्द के प्रधान अर्थात् अभिधीयमान अर्थ पर लागू होती है। उन्होंने शब्द का एक दूसरा अर्थ भी बतलाया है जिसे प्रतीयमान कहते हैं। प्रतीयमान अर्थ का शब्दब्रह्म से क्या संबंध है? क्या इसे भी अध्यास या विवर्त कह सकते हैं?

भोज प्रतीयमान अर्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं। वे आनन्दवर्धन के “प्रतीयमानं पुनरन्यदेव” आदि श्लोक (ध्वन्यालोक 1, 4) को उद्धृत करते हैं।

भोज ने यह भी स्वीकार किया है कि वाक्यार्थ की उपस्थिति के बाद ही प्रतीयमान का अवगमन होता है।]

“वाक्यार्थभावनोत्तरकालमवगतेः।”

यह प्रतीयमान शब्द की एक अन्य स्थिति या अवस्थान्तर होता है जो शब्दब्रह्म का विपरिणाम है। भोज ने अध्यास और विवर्त को दूर फेंककर इस विपरिणामवाद के सिद्धान्त को अपना लिया है उनके मत से विपरिणाम द्वारा अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों की व्याख्या की जा सकती है। अभिधीयमान के समान प्रतीयमान भी शब्द का व्यापार ही है। और भोज ने कहा है कि वे इस प्रश्न पर अगले प्रकाश में विस्तरशः विचार करेंगे।

और आगे चलकर भोज ने संक्षेप से प्रतायमान अर्थ की प्रकृति का दिग्दर्शन किया है। उन्होंने “प्राप्तं श्रीरेष कस्मात्” आदि (ध्वन्यालोक पृ 109 पर उद्धृत) छन्द को उद्धृत कर इस रजप्रशस्ति के प्रतिपाद्य की पूरी व्याख्या की है इस छन्द का शब्दार्थ अर्थात् अभिधीयमान अर्थ में राजा की प्रशस्ति है किन्तु प्रतीयमान अर्थ से उसका विष्णु का अवतार होना व्यंजित है। इसके आगे भी एक व्यङ्ग्य अर्थ यह कि विष्णु का अवतार यह राजा अन्य अवतारों से बढ़कर है। यही अन्तिम तात्पर्य है जिसे काव्य की भाषा में ध्वनि कहते हैं।

पूर्वप्रकाश में की गई प्रतीक्षा में अनुसार भोज ने सप्तम प्रकाश में ध्वनि की चर्चा की है साहित्य संबंधी परिच्छेद में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि भोज ने साहित्य के अन्तर्गत ऐसे काव्यशास्त्र की रचना की योजना की थी जिसमें शब्दार्थ संबंध के तीन विभाग थे। प्रथम दो के अन्तर्गत व्याकरणिक संबंध यथा—वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य और प्रविभाग एवं व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय और एकार्थीभाव आते हैं। वृत्ति के अन्तर्गत अभिधा, लक्षणा, गौणी तथा अन्य व्यञ्जनात्मक शक्तियों का समावेश है जिन्हें तात्पर्य और व्यंजना कहते हैं। एक पृथक् वर्ग में प्रथम प्रविभाग के तृतीय अंग अर्थात् तात्पर्य को स्थान मिला है। अधिक गम्भीरता से सोचने पर लगता है कि वृत्ति और तात्पर्य को दो अलग अलग वर्गों में नहीं रखा जाना चाहिये था। अभिधा, लक्षणा, गौणी, तात्पर्य और ध्वनि इन सब शक्तियों पर एक साथ विचार किया जाना आवश्यक था फिर भी भोज ने तात्पर्य और ध्वनि पर अलग अलग विचार किया है क्योंकि उन्होंने अभिधा लक्षणा और गौणी को पदशक्ति माना है तथा तात्पर्य के अन्तर्गत वाक्यार्थ की विवेचना की है। शृ. प्र. के इस प्रकरण में इस बात को सिद्ध करने के अनेकों प्रमाण हैं कि भोज ध्वन्यालोक से परिचित थे। उन्होंने ध्वन्यालोक (1-4) के “प्रतीयमानं पुनरन्यदेव” को उद्धृत करते हुए व्यंग्यार्थ को स्वीकार किया और उसे वाक्यार्थ के पश्चात् उपस्थित होने वाला अर्थ बतलाया। इस प्रसङ्ग में तात्पर्य और ध्वनि का निरूपण करते हुए भोज ने स्वच्छन्दतापूर्वक आनन्दवर्धन को उद्धृत किया है यह

बात परिशिष्ट में दिये हुए पाठ में देखी जा सकती है। भोज के ध्वनि संबन्धी प्रकरण में ध्वन्यालोक (1, 13) की ध्वनि परिभाषा, प्रतीयमानार्थ के प्रकार जिन्हें आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ से भिन्न एक स्वतन्त्र अर्थ की सत्ता के प्रतिपादन के लिये प्रारम्भ में नमूने के तौर पर प्रस्तुत किया था, (ध्वन्यालोक पृ. 16-23) यहां पर आनन्दवर्धन द्वारा उदाहरण स्वरूप दिये गये कुछ श्लोक एवं ध्वन्यालोक में प्रकट किये गये कुछ अन्य विचार भोज के ग्रन्थ में मिलते हैं। ध्वनि को स्वीकार करते हुए भी भोज ने पूर्णतया आनन्दवर्धन का अनुसरण नहीं किया। वे उधार लेते हैं अपने साथ उसकी संगति बिठाते हैं और उसका अनुकूलन करते हैं। उन्होंने तात्पर्यवादियों के साथ आनन्दवर्धन की संगति बैठाकर तात्पर्य और ध्वनि दोनों को एक ही प्रतिपादित किया है। लेखक शब्दों के द्वारा जिस अर्थ को व्यक्त करना चाहता है उसे तात्पर्य कहते हैं। यह तात्पर्य एक से अधिक प्रकार का होता है और इसका क्षेत्र विस्तृत होता है। यह अभिधीयमान हो सकता है और प्रतीयमान तथा ध्वनिरूप भी। अभिधीयमान अर्थ को वाक्यार्थ कहते हैं जो आकाङ्क्षा सन्निधि आदि के द्वारा उपलब्ध होता है।

जब पृथक्-पृथक् शब्द अपने-अपने अर्थ का बोध एक या अधिक शब्द शक्तियों द्वारा करा चुकते हैं चाहे वह शब्द शक्ति अभिधा हो या लक्षणा या गौणी तब वाक्यार्थ की उपलब्धि होती है। गौः गच्छति इस वाक्य में वाक्यार्थ अभिधीयमान है।

इस प्रकार के वाक्य भी मिलते हैं जिनका केवल वाक्यार्थ कोई मानी नहीं रखता अथवा वह कुछ और अधिक अर्थ बतलाने की ओर उन्मुख रहता है। कहीं तो प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ को हटाकर अपनी सत्ता स्थापित करता है और कहीं उसमें कुछ अन्य प्रतीयमान अर्थ जोड़कर। जिन स्थितियों में अतिरिक्त अर्थ जोड़ा जाता है अथवा अतिरिक्त अर्थ की सहायता ली जाती है चाहे वह स्थिति वाच्यार्थ की असंगति से सम्बन्धित हो या संगति से, जोड़ा हुआ अर्थसंदर्भ, औचित्य तथा तात्पर्य आदि का प्रतिपादन करता है एक पिता पुत्र से, जो शत्रु के घर भोजन के लिए जा रहा है कहता है, "विषं भुङ्क्ष्व"।

इस वाक्य में वाच्यार्थ जो विधिरूप है—कोई अर्थ नहीं रखता। इससे स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस कथन का संदर्भ क्या है? और हमारे चिन्तन को तब विश्राम मिलता है जब हम यह जान लेते हैं कि इस वाक्य में पिता का उद्देश्य यह नहीं है कि उसका पुत्र विष खाकर मर जाय अपितु वह यह चाहता है कि पुत्र यह समझे कि ऐसे व्यक्ति के घर में भोजन करने की अपेक्षा विष खाकर मर जाना अधिक अच्छा है। यह एक ऐसा उदाहरण है जहाँ मुख्यार्थ असंगत होता है और इसलिए किसी अन्य निहित अर्थ का अनुसंधान करना पड़ाता है। इसी प्रकार ऐसे स्थल भी मिलते हैं—जहाँ मुख्यार्थ संगत तो होता है किन्तु उसमें कुछ और अर्थ जोड़ने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे दोनों प्रसंग प्रतीयमान के उदाहरण हैं।

यदि वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् शब्द या अर्थ पूर्णतः स्वयं को किसी अन्य अर्थ के अधीन कर दे तो कहा जायगा कि वहां शब्द और अर्थ से कोई अन्य अर्थ व्यङ्ग्य है। यदि एक अर्थ स्वयं किसी अन्य अर्थ को व्यञ्जित करे तो व्यञ्जक अर्थ गौण होता है और

व्यङ्ग्य अर्थ मुख्यार्थ के रूप में प्रकाशित होता है। किंतु यह सार्वत्रिक नियम नहीं है क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ का यह उत्कर्ष दो तत्त्वों के सदृश होता है—अनुनाद और प्रतिध्वनि। पीतल, कांसा आदि धातुओं से बने पात्रों को बजाने पर उनसे अनुस्वान या अनुनाद उत्पन्न होता है किन्तु प्रतिध्वनि केवल गुफा आदि कुछ स्थानों में ही बोलने से उत्पन्न होती है। ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति केवल वाच्यार्थ के ही उदय के पश्चात् नहीं होती अपितु प्रतीयमान अर्थ के उदय के बाद भी होती है। उदाहरणार्थ यदि कोई कहे “निमिषत्येषा” अर्थात् यह पलक मारती है तो मुख्यार्थ की उपलब्धि पहले होगी। “आँख के पलकों का गिरना” यह अभिधीयमान अर्थ है। पलकों के गिरने से हमें यह भी पता चलता है कि निमेष क्रिया करने वाली स्त्री दिव्या नहीं है। क्योंकि दिव्याओं के पलक नहीं गिरते। अतः निमेषवती स्त्री मर्त्य है। यह प्रथम अतिरिक्त अर्थ प्रतीयमान है। एक अन्य संकेत भी इस छोटी सी उक्ति में छिपा है। अक्षी निमेष अत्यन्त आकर्षक नेत्रयुगल का भी बोध कराता है जिसका सौन्दर्य भावोद्दीपक होता है। यह दूसरा अर्थ उसकी आँखों का सौन्दर्य-व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि कहा जायगा। विश्लेषण करने से पता चलता है कि वाच्यार्थ विधि, निषेध, उभय अथवा उभयाभाव इन चार में से किसी एक प्रकार का होता है प्रतीयमान वाच्य से पूर्णतः भिन्न होता है। इसके अनेकों प्रकार होते हैं। यदि वाच्यार्थ विधिरूप है तो प्रतीयमान निषेधरूप भी हो सकता है। अर्थात् ऊपर से देखने में किसी उक्ति में ऐसे शब्द मिल सकते हैं जो केवल विध्यर्थक हों। जबकि उसका वास्तविक लक्ष्य उससे ठीक उलटा अर्थात् निषेध हो। भोज ने कुछ भेदों की और संकेत करते हुए उन्हें सोदाहरण समझाया है। ये निम्नलिखित हैं।

1—2. विधौ निषेधः एवं निषेधे विधिः।

3. विधौ विध्यन्तरम् अर्थात् एक विधि से दूसरी विधि का बोध।

4. निषेधे निषेधान्तरम् अर्थात् एक निषेध से दूसरे निषेध का बोध।

5. विधিনিषेधयोर्विध्यन्तरम् अर्थात् विधि और निषेध दोनों से किसी अन्य विधि का बोध।

6 विधিনিषेधयोर्निषेधान्तरम् अर्थात् विधि और निषेध दोनों से किसी अन्य निषेध की प्रतिपत्ति।

7 अविधিনিषेधे विधिः। किसी ऐसे वाक्य से जो न विधि का और न निषेध का बोधक हो, विधि का प्रतिपादन।

8 अविधিনিषेधे निषेधः अर्थात् विधि और निषेध में से किसी का वाचक न होने पर उससे निषेध का बोध।

9 विधावनुभयम्। अर्थात् विध्यर्थक वाक्य से विधि और निषेध किसी का बोध न होना।

10 निषेधेऽनुभयम् निषेधार्थक वाक्य से न विधि और न निषेध का बोध।

11 विधিনিषेधेऽनुभयम् । विधि और निषेध दोनों के वाचक वाक्य से दोनों के ही बोध का अभाव ।

12 अविधিনিषेधेऽनुभयम् अर्थात् विधि और निषेध में से किसी के भी अवाचक वाक्य में से विधিনিषेध में से किसी के भी बोध का अभाव ।

इसमें ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में पृ. 16 से 23 तक प्रतिपादित बातें सम्मिलित हैं । आनन्दवर्धन ने कुछ उदाहरणों द्वारा वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की पूर्णतया भिन्नता प्रदर्शित की है—विधोनिषेधः, निषेधे विधिः, विधावनुभयम्, निषेधेऽनुभयम् । तथा वाच्याद् विभिन्नविषयः अर्थात् वाच्यार्थ से सामान्य भिन्नता । उन्होंने “अन्ये चैवंविधाः प्रकाराः वाच्याद् विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां दिङ्मात्रमेतत् प्रदर्शितम्” (पृ. 23) कहकर प्रसंग को समाप्त किया है । भोज ने इन भेदों तथा अधिकांश उदाहृत गायार्थों को ले लिया है और इसी प्रकार के अन्य भेदों का विशदीकरण कर दिया है । भोज ने कुछ अन्य गायार्थों को ध्वन्यालोक के अन्य उद्योतों से लेकर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है ।

भोज के अनुसार ध्वनि वह है जिसकी प्रतीति अभिधीयमान और प्रतीयमान के अन्तर होती है । इस बात को सरलता से नहीं समझा जा सकता कि भोज ने प्रतीयमान और ध्वन्यमान को पृथक् क्यों माना ? आनन्दवर्धन ने इनमें कोई भेद नहीं किया । प्रतीति, अवगम और ध्वनि इन तीनों का अर्थ ध्वन्यालोक में एक ही है । जब हर समीक्षक ध्वनि को अस्वीकार कर रहा था तो आनन्दवर्धन ने एक एक कोटि आगे बढ़ते हुए उसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया । उन्होंने अपनी बात पहले यह कहकर प्रारम्भ की कि काव्य में सहृदयसंवेद्य अर्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य और प्रतीयमान (1, 2) जिस प्रकार किसी सुन्दरी के विभिन्न अङ्ग अथवा स्वयं उसका शरीर एक वस्तु होती है और उस पर व्याप्त कुछ एक अन्य वस्तु लावण्य उससे भिन्न होता है उसी प्रकार काव्य में स्पष्ट प्रतीत होने वाले वाच्यार्थ से पूर्णतः भिन्न कुछ अन्य भी होता है । यह बात अनुभवसिद्ध है । यह “कुछ और” काव्य में वाच्य से पृथक् एवं उससे सर्वथा भिन्न होता है । यदि कुछ उदाहरणों द्वारा इसे उक्त प्रकार से विल्कुल पृथक् एवं वाच्य से भिन्न रूप में प्रदर्शित किया जा सके तो प्रथम कोटि को पार किया जा सकता है । और विरोधियों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वाच्य से अतिरिक्त पृथक् अर्थ की सत्ता वास्तविक है । इस उद्देश्य तक पहुँचने के लिये आनन्दवर्धन व्यङ्ग्य अर्थ को दिये जाने वाले ध्वनि नाम के उल्लेख को टाल गये हैं और उसकी उपलब्धि की प्रक्रिया की चर्चा भी किये बिना उन्होंने एक अन्य वाच्यातिरिक्त अर्थ को अपने समीक्षकों एवं पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है । तदनुसार उन्होंने वस्तु सम्बन्धी व्यङ्ग्यार्थ (वस्तु-ध्वनि) के पाँच उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । ऐसा लगता है कि भोज ने इस निरूपण को स्वतंत्र और ध्वनि से पृथक् समझकर ले लिया है और उन्होंने उसे द्वितीय अर्थ—प्रतीयमान—द्वारा और उसके पश्चात् प्रतीत होने वाले तात्पर्य का तृतीय भेद-मान लिया है । उन्होंने प्रतीयमान को अभिधीयमान के तुरन्त पश्चात् उपलब्ध होने वाला अतिरिक्त अर्थ कह कर परिभाषित किया है । भोज ने शब्द, अर्थ या उभय—संबन्धी ध्वनि के विषय में “उपसर्जनीकृत स्वार्थ” इस शर्त पर जोर नहीं दिया है । प्रायः वाक्य के अभिधार्थ का बोध कराने के पश्चात्

भी बहुत बाद तक वाक्य अधिकाधिक अर्थ का उन्मीलन करते देखे जाते हैं । इनमें शब्दों द्वारा साक्षात् प्रतिपादित अर्थ से भिन्न अर्थ का प्रथम उन्मेष प्रतीयमान कहलाता है और द्वितीय या पश्चाद्गामी अथवा अन्तिम अर्थोन्मेष ध्वनि कहलाता है । यदि हम भोज द्वारा स्वयं प्रस्तुत किये गये उदाहरणों की उन्हीं के द्वारा की गई व्याख्या की परीक्षा करें जो उन्होंने बहुत से ध्वनि भेदों के प्रसंग में उपस्थित की है तो पता चलेगा कि हर स्थल में ध्वनि प्रतीयमान अर्थ या प्रतीति के मार्ग से होकर गुजरती है और ध्वन्यमान सदा ही प्रतीयमान के द्वारा अथवा उसकी पृष्ठभूमि पर स्थापित होता है ।

हम कह सकते हैं कि इन दोनों में इस बात के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है कि प्रतीयमान प्रथम उत्थित ध्वनि है और स्वयं ध्वनि पश्चाद्-उत्थित ध्वनि । प्रतीयमान के भेदों के उदाहरण के रूप में उद्धृत लगभग सारी गाथाएं ध्वनि प्रकरण में भी समाविष्ट की गई हैं और उन सब में व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि की उपस्थिति का निर्देश किया गया है । भोज ने कहा है कि इन गाथाओं में ध्वनि या व्यङ्ग्य के द्वारा प्रेमी या प्रेमिका के वैदग्ध्य और उनके पारस्परिक प्रेमातिशय को व्यञ्जित किया जाता है । “शिखरिणि क्व नु नाम” आदि श्लोकों में समस्त अनुक्त किन्तु निहित अर्थ प्रतीयमान हैं । जहाँ तक ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ का सम्बन्ध है भोज के मत से इस छन्द में स्त्री के प्रति पुरुष का वर्णित प्रेम ही व्यङ्ग्य है । “भम धम्मिय” आदि गाथाओं में भोज निहित अर्थों या वस्तुओं को प्रतीयमान के अन्तर्गत मानते हैं और नायिका या उसकी चेटी के वैदग्ध्य को व्यङ्ग्य या ध्वनि बतलाते हैं ।

नयवत्या वैदग्ध्यं ध्वनति । प्रार्थनावैदग्ध्यं ध्वनति । स्खलितगोपनेषु सखीवैदग्ध्यं ध्वनति । वर्णनीयायाः चारुत्वोत्कर्षप्रतीतिं ध्वनति । वर्णनीयायाः स्वानुरागं प्रकाशयति इत्यादि ।

इस प्रकार प्रथम उत्थित व्यङ्ग्य प्रतीयमान होता है और यदि यहाँ आनन्दवर्धन की शब्दावली और वर्गीकरण का उपयोग करें तो कह सकते हैं । कि वह प्रकृत्या केवल वस्तुध्वनि जैसा होता है । पश्चाद्ध्वनि या अन्तिम अर्थ वास्तविक ध्वनि माना गया है । यह प्रकृत्या भाव अथवा अनुराग या रति आदि स्थायी-भाव जैसा होता है जैसा कि “शिखरिणि क्व नु नाम” आदि में मिलता है । इसे आनन्दवर्धन ने रसाद्ध्वनि कहा है । इसकी प्रकृति वैदग्ध्य आदि अनुभावों और रूपोत्कर्षादि उद्दीपन-विभावों जैसी होती है । नायक और नायिका के गुणों का उत्कर्ष अधिकतर वस्तुध्वनि की श्रेणी में आता है । फिर भी यदि भोज ने इस अन्तर को ध्यान में रखा होता और यदि ऐसा स्पष्ट वर्गीकरण कर दिया होता कि वस्तु-अलंकार-ध्वनि प्रतीयमान होती है और रस-भाव ध्वनि परमतात्पर्य एवं ध्वनि तो यह बात अधिक महत्वपूर्ण होती । अथवा यदि उन्होंने जोर देकर यह कहा होता कि ध्वनि की परिभाषा है “उपसर्जनीकृत-स्वार्थत्व” तो उन्होंने प्रतीयमान को गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में पृथक् कर दिया होता । और अलंकारों के ऐसे स्थलों को भी, जहाँ ध्वनि का स्वशब्द से उल्लेख नहीं है पृथक् मान लिया होता । तब इसके विपरीत ढंग से उन्होंने कहा होता कि ध्वनि उपसर्जनीभूत वाच्य के ऊपर प्रतिष्ठित होती है । तब उन्हें दोनों की पृथक्-पृथक् परिभाषा कर उनके पृथक्-पृथक् उदाहरण देने होते किन्तु वर्तमान स्थिति में हमें कहना होगा कि भोज ने प्रतीयमान और ध्वनि में अन्तर दिखाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है । उन्होंने परमतात्पर्य को वस्तु का स्वरूप भी मान लिया और इस प्रकार उन्होंने इस प्रश्न को उलझा

ही छोड़ दिया। उन्होंने यह काम हमारे भरोसे रहने दिया कि हम उनकी मान्यता की व्यवस्थित ढंग से व्याख्या करें। हेमचन्द्र ने प्रतीयमान के भेदों के सम्बन्ध में शृङ्गार-प्रकाश का मूल-पाठ उद्धृत किया है और वे उसे उस तत्त्व से सम्बन्धित मानते हैं जिसे आनन्दवर्धन ने वस्तुध्वनि कहकर पृथक् निरूपित किया है। देखिये काव्यानुशासन पृ 26-34। भोज के ग्रंथ के आधार पर हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि प्रतीयमान अवान्तर गम्यमान अर्थ अथवा अभिधीयमान-अव्यवहित ध्वनि होता है और ध्वनि परमतात्पर्य। व्यावहारिक दृष्टि से हमें इस अस्पष्ट अन्तर अर्थात् प्रतीयमान और ध्वनि के भेद की विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तात्पर्य के केवल दो भेद माने जाने चाहिये वाच्य और अनभिहित या अतिरिक्तार्थ, जिसे व्यंग्य कहेंगे। यदि भोज ने तात्पर्य को द्विविध मानकर उसके अभिधीयमान और प्रतीयमान ये दो विभाग किये होते तो भी पर्याप्त होता। इनमें प्रतीयमान को ध्वन्यमान कहते हैं। अनभिधीयमान अथवा अभिधीयमानातिरिक्त के शब्दब्रह्म के साथ संबन्ध की एक विपरिणाम के रूप में व्याख्या करते हुए भोज ने केवल प्रतीयमान का उल्लेख किया है यद्यपि उसके बाद तुरन्त ही उन्होंने एक श्लोक उद्धृत किया है और उसके कई अननिहित अर्थों की ओर संकेत किया है जिनमें उन्होंने पूर्वभाग को प्रतीयमान और उत्तरभाग को तात्पर्य या ध्वनि कहा है।

भोज द्वारा वर्णित तात्पर्य क्या है ?

आनन्दवर्धन ने जिस तात्पर्य-शक्ति का खण्डन किया है वह मीमांसकों को अभिमत है। इसका समर्थन करते हुए धनिक ने कहा है कि ध्वनि नामक एक नवीन वृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। भोज ने इन दोनों के मध्य का मार्ग ग्रहण किया है और अपने दोनों हाथों से इन दोनों का स्वागत किया है। उन्होंने आनन्दवर्धन की ध्वनि और उनके विरोधियों के तात्पर्य दोनों को स्वीकार किया। भोज ने तात्पर्य का प्रयोग व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में किया है। इसके अन्तर्गत अभिधीयमान वाक्यार्थ आता है जिसे आनन्दवर्धन तात्पर्य का वास्तविक अर्थ मानने पर जोर देते हैं किन्तु भोज ध्वनि को भी इसके अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। धनिक एवं आनन्दवर्धन के दूसरे पूर्ववर्ती आलोचकों ने भी इसी का आग्रह किया था। उन्होंने अभिधीयमान को साफ-साफ तौर पर तात्पर्य नहीं स्वीकार किया है। भोज ने मीमांसकों के समान वाक्य के प्रारम्भिक अर्थ के लिये तात्पर्य जैसी विशिष्ट शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं समझी। उनके मत से वाक्य का प्रारम्भिक अर्थ आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता आदि के द्वारा प्राप्त होता है। शब्द स्वयं भी अभिधा और लक्षणा या गौणी शक्ति के द्वारा अपना-अपना अर्थ प्रदान करते हैं। कुमारस्वामी के शब्दों में कहें तो व्याकरणा की दृष्टि से शुद्ध वाक्य अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं ही वाक्यार्थ का प्रत्ययन करवा देता है।

तर्ह्यत्र संसर्गरूपो वाक्यार्थः कथं प्रतीयत इति चेत् तार्किकाणामिव वाक्यमहिम्ना, न पुनः तात्पर्येण मीमांसकानमिवेति ब्रूमः। अत एव ते वर्णयन्ति आकाङ्क्षादिमत्वे सति पदानां पदार्थानां वा समन्वयशक्तिः वाक्यम्, तद्वलायातो वाक्यार्थः।

पृष्ठ-32-33 प्रतापस्त्रीय व्याख्या-बालमनोरमा संस्करण

अतः यह मानना पड़ेगा कि अभिधीयमान के सम्बन्ध में भोज ने तार्किकों का अनुसरण किया है। उन्होंने अभिधीयमान और साथ ही साथ अन्य प्रकारों के अनभिहित अर्थों के लिये एक सामान्य नाम दिया है तात्पर्य। यह नाम अभिधीयमान अर्थ का है और साथ ही प्रतीयमान और ध्वन्यमान अर्थों का भी। इनमें प्रतीयमान और ध्वनिरूप ये दोनों एक साथ लिये जा सकते हैं और भोज मूलव्याख्यार्थ के बोध के लिये स्वयं वाक्य महिमा अथवा वाक्यशक्ति को कारण मानकर व्यंग्यार्थ के लिये तात्पर्य नाम को आरक्षित रख सकते हैं। सच पूछिये तो अपने कुछ निरूपणों में उन्होंने यह आरक्षण किया भी है क्योंकि उन्होंने तात्पर्य को ध्वनि कहा है। शृंगार-प्रकाश के अन्त में बहुचर्चित ध्वनि-विवेचन के प्रसंग में भोज ने उद्धृत श्लोक का अभिधीयमान अर्थ प्रस्तुत किया है और तात्पर्य नाम तृतीय अर्थ के लिये आरक्षित रखा है। उन्होंने कहा है कि सामान्य वातचीत के क्षेत्र में इसे तात्पर्य कहते हैं किन्तु साहित्य जगत् में इसकी ध्वनि संज्ञा है।

1—“तात्पर्यम्, यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः।

2—द्वितीय जिल्द के पृष्ठ 44 पर भोज कहते हैं “अभिधीयमानम्, प्रतीयमानम्, तात्पर्यम् (ध्वनिः) च।

धनिक का मत तथा आनन्दवर्धन द्वारा खण्डित पूर्वोक्तमत ये दोनों मीमांसकों के तात्पर्य के विस्तृत-रूप हैं और उनका उद्देश्य ध्वनि का भी समावेश करना है। यह नहीं कहा जा सकता कि भोज ने इसे भी स्वीकृत नहीं किया। वस्तुतः यह पता लगाना बड़ा कठिन है कि क्या भोज ने किसी मत का खण्डन भी किया है। वे सब मतों को एकसाथ गुम्फित करते चले हैं। यदि भोज ने तात्पर्य को अभिधीयमान तक सीमित रखकर प्रतीयमान और ध्वनि को तात्पर्य से ऊपर मानते हुए उन्हें ध्वनि कहकर छोड़ दिया होता तो आनन्दवर्धन वाक्यार्थ को तात्पर्य कहने के साथ प्रतीयमान और ध्वन्यमान को भी वाक्यार्थ और तात्पर्य कह दिया होता तो धनिक उनसे सहमत होते। भोज ने ऐसा किया है। तात्पर्यवादियों के अनुसार भोज ने वाक्य द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त सम्पूर्ण विचार को तात्पर्य माना है किन्तु इस प्रसंग में भोज ने प्रत्यक्ष या परोक्ष-रूप से अभिहित विचारपुंज का विश्लेषण किया है और प्रत्येक भेद को पृथक् नाम दिया है। इस स्थिति में वे कहते हैं कि आकांक्षा आदि के द्वारा वाक्यमहिमा से जिस वाक्यार्थ की उपलब्धि होती है उसके अतिरिक्त कुछ अर्थ व्यंग्य भी होते हैं। यहीं उन्होंने ध्वनि को स्वीकार किया है। उन्होंने और आगे जाकर तात्पर्य यह नाम व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि के लिए सीमित कर दिया है। हम इसके भीतर प्रतीयमान का समावेश कर सकते हैं। भोज की स्थिति एक समन्वयवादी की है और आगे चलकर उन्होंने धनिक तथा अन्य लोगों को छोड़कर आनन्दवर्धन का अनुसरण कर ध्वनि को तात्पर्य नाम दिया है। विद्यानाथ की स्थिति और अधिक स्पष्ट है। वे कहते हैं कि शक्तियाँ केवल तीन होती हैं—अभिधा, लक्षणा और ध्वनि तथा ध्वनि ही तात्पर्य है।

“तात्पर्यार्थोऽपि व्यङ्ग्यार्थ एव, न पुनः पृथग्भूतः। अभिधा-लक्षणा—व्यञ्जनाख्याः तिस्रः शब्दवृत्तयः।”

कुमारस्वामी ने व्याख्या में कहा हैः—

“ननु चतुर्थे तात्पर्यार्थे जाग्रति कथमर्थत्रैविध्योक्तिः, इत्याशङ्क्य तस्य तृतीयेऽन्तर्भाव

इत्याह—तात्पर्यार्थं इति । अत्र वक्तृ-बुद्धिसन्निधापितः वाक्यावगम्यः वाक्यार्थः रसादिरूपः तच्छब्देनोच्यते । तस्मिन् पराः तत्पराः तदासक्ताः तद्विषया इत्यर्थः । तेषां भावः तात्पर्यम् । ननु अभिहितानां पदार्थानां अर्थाभिधायिनां वा पदानां विशिष्टार्थप्रत्यायनशक्तिः तात्पर्यमिति मतभेदेन मीमांसकाः वर्णयन्ति । अतस्तन्मते 'देवदत्त गामानय' इत्यादौ देवदत्तकर्तृकदण्डकरण-कगोकर्मकानयनरूपः विशिष्टार्थ एव व्यङ्ग्यत्वविधुरः तात्पर्यादवगतत्वात् तात्पर्यार्थं इत्युच्यते कथमस्य व्यङ्ग्येऽन्तर्भावः इति चेत्, सत्यम् न हि तावन्मात्रेण कविसंरम्भविश्रान्तिः । काव्य-शब्दानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूतस्य प्रधानस्य प्रयोजनान्तरस्य असंभवात् । किन्तु तदर्थन्यक्कारेण प्रतीयमाने सामाजिकानन्दास्वाद-फले रसादावर्थान्तरे । अतस्स एव तात्पर्यार्थः । तत्प्रत्यायकपदार्थशक्तिरेव तात्पर्यं कविसमये । + + + अतो + + + व्यञ्जन-स्यैवेदं नामान्तरकरणमिति + ।

पृष्ठ 32 बालमनोरमा संस्करण

“तस्माद् व्यञ्जनापरपर्यायमेव तात्पर्यं कविभिरङ्गीकृतम्, नान्यदिति सिद्धम्” ।

अत एवोक्तं भावप्रकाशे

अतोऽध्वन्याख्यतात्पर्यगम्यमानत्वतः स्वतः ।

काव्ये रसालङ्क्रियादिः वाक्यार्थो भवति स्फुटम् ॥

गायकवाङ् ओरि० सी० सं० पृष्ठ 150 ।

उक्तं च ध्वन्याचार्यैः ‘यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्यं’ शब्दार्थाभ्यां प्रकाश्यते तदभवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानम् । (ध्वन्या, तृतीय, 30 पृष्ठ 199)

गायकवाङ् ओरि० सी० बालमनोरमा सं० ।

विद्यानाथ और कुमारस्वामी ने तात्पर्य और ध्वनि दोनों को एक मान लिया है । किन्तु यह तात्पर्य मीमांसकों का तात्पर्य नहीं अपितु ध्वनि का दूसरा नाम है । कुमारस्वामी ने तात्पर्य शब्द का सामान्य अर्थ तत्परत्व अर्थात् रसादिपरत्व या व्यंग्यपरत्व माना है । ध्वन्यालोक में तत्परत्व का प्रयोग इसी सामान्य अर्थ में मिलता है ।

“तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ” प्रथम उद्योत के अन्त में आनन्दवर्धन ने कहा है—“तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः” अभिनवगुप्त ने इस तात्पर्य की व्याख्या अन्तिम और मुख्य उद्देश्य के रूप में की है ।

“तात्पर्येण विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत् ।” ध्वन्यालोक में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं । आनन्दवर्धन को तात्पर्य की इस प्रकार की व्याख्या पर जिससे वह ध्वनि का पर्याय बन जाने में समर्थ हो कोई आपत्ति नहीं है । कुमारस्वामी ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत से आनन्दवर्धन के तर्कों के अन्तिम भाग को उद्धृत किया है जिससे यह पता चलता है कि मीमांसकों को भी, यदि वे पौरुषेय और अपौरुषेय का अन्तर स्पष्ट करना चाहें, तो ध्वनि या व्यञ्जना को स्वीकार करना पड़ेगा ।

शृ. प्र. के छठवें और सातवें प्रकाश के दोनों ध्वनिप्रकरणों की समाप्ति निम्नलिखित श्लोकों के साथ होती है ।

तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये

सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य ।

लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः ।

शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य ॥

तथा

यदभिप्रायसर्वस्वं वक्तुर्वक्ष्यात् प्रतीयते ।

तात्पर्यम् अर्थधर्मस्तत् शब्दधर्मः पुनर्ध्वनिः ॥

सौभाग्यमिव तात्पर्यमान्तरो गुण इष्यते ।

वाग्देवताया लावण्यमिव बाह्यस्तयोर्ध्वनिः ॥

अदूरविप्रकर्षात्तु द्वयेन द्वयमुच्यते ।

यथा सुरभिवैशाखौ मधुमाघवसंज्ञया ॥

भोज शृं. प्र. पष्ठ तथा सप्तमप्रकाश ।

सामान्य बातचीत तथा लेखन में बात के सारांश को तात्पर्य कहते हैं किन्तु काव्योक्ति में यह सार ध्वनि कहलाता है यह इसी तरह है जैसे चैत्र और वैशाख मास एक दूसरे दृष्टिकोण से मधु और माघव कहे जाते हैं ।

इसमें यदि दूसरा एक दृष्टान्त और जोड़ दें तो कहेंगे कि यह वैसा ही है जैसे लोक व्यवहार में कारण, कार्य और सहकारी कहे जाने वाले काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी कहलाते हैं । और सामान्य बातचीत एवं काव्योक्ति में ऐसा कौन सा नैसर्गिक अन्तर है कि इन दोनों के सारांश को तात्पर्य एवं ध्वनि इन दो भिन्न नामों से पुकारा जाता है ? सामान्य बातचीत और लेख अवक्र होता है । और अवक्र अर्थात् असुन्दर होता है । जबकि काव्यवचन वक्र अर्थात् सुन्दर ।

“यदवक्रं वचःशास्त्रे लोके च वच एव तत् ।

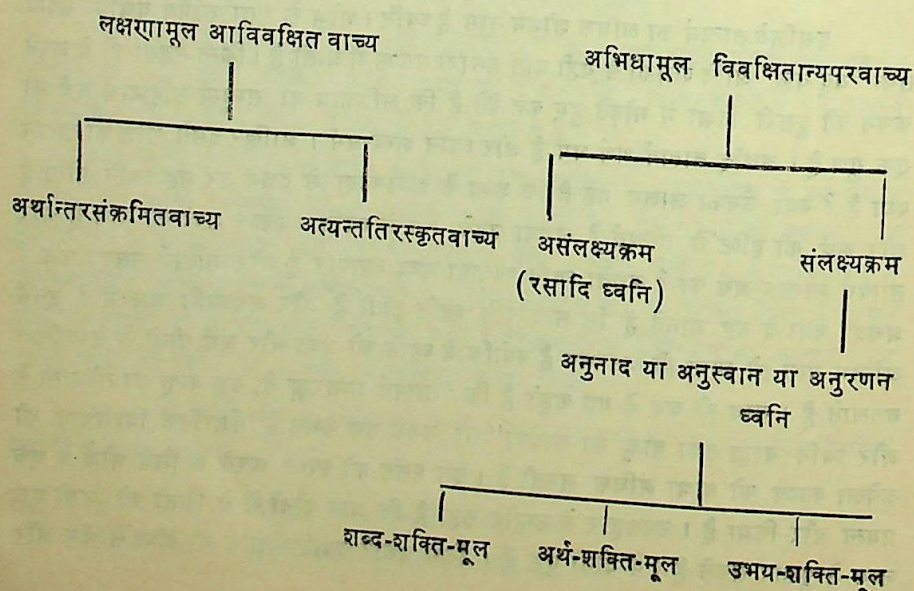
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥

इसलिये तात्पर्य का अधिक शोभन नाम है ध्वनि । भोज के “तात्पर्यमेव वचसि” आदि तथा “यद् वक्रं” आदि श्लोकों से यही बात हमारी समझ में आती है । किन्तु सहसा ही वे अपने कथन को दूसरी दिशा में मोड़ते हुए कह देते हैं कि अभिप्राय या सम्पूर्ण उद्दिष्टार्थ अर्थ का एक गुण है । अर्थात् तात्पर्य अर्थ-धर्म है और ध्वनि शब्द-धर्म । आखिर इससे भोज का तात्पर्य क्या है ? क्या उनका आशय यह है कि शब्द के दृष्टिकोण से देखने पर यह ध्वनि होता है और अर्थ की दृष्टि से तात्पर्य ? अथवा उनके मत से ध्वनि व्यञ्जक शब्द का नाम है और तात्पर्य व्यञ्जक अर्थ का ? अथवा ध्वनि व्यञ्जना शब्द व्यापार है और तात्पर्य उसका फल ? अथवा क्या वे यह मानते हैं कि शब्दध्वनि ध्वनि होती है और अर्थध्वनि तात्पर्य ? इनमें अन्तिम बात तो स्पष्ट ही असम्भव है क्योंकि वे ध्वनि को शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्धित बतलाते हैं । साथ ही जब वे यह कहते हैं कि “तात्पर्य अन्तरङ्ग है, वह वाक् का सौभाग्य है और ध्वनि बाह्य तथा वाक् का लावण्य” तो उनके इस कथन में वैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा काव्य की मात्रा अधिक लगती है । इस प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये भोज ने एक प्रयत्न और किया है । उपसंहार में उन्होंने कहा है कि आप दोनों में से किसी को किसी एक नाम से पुकार सकते हैं । वे दोनों एक हैं । जिस प्रकार ज्योतिर्विज्ञान की दृष्टि से चैत्र और

वैशाख कहे जाने वाले मास दूसरी दृष्टि से मधु और माधव कहलाते हैं। इसी प्रकार उक्ति के सारार्थ को हम तात्पर्य या ध्वनि कह सकते हैं। सारांश के रूप में हम कह सकते हैं कि

- (1) भोज ने आनन्दवर्धन की ध्वनि को स्वीकार किया है।
- (2) उन्होंने पहले इसे तात्पर्य का एक विभाग कहा किन्तु अन्त में इन दोनों को एक स्वीकार किया है। द्वितीय कोटि में अभिधीयमान वाक्यार्थ का समावेश तात्पर्य में नहीं होता अपितु प्रतीयमान और ध्वन्यमान अर्थ तात्पर्य कहलाते हैं।
- (3) भोज ने व्यङ्ग्यार्थ के अनावश्यक रूप से प्रतीयमान और ध्वनिरूप ये कृत्रिम भेद कर दिये हैं।
- (4) आनन्दवर्धन द्वारा अङ्गीकृत ध्वनि के भेद-अलंकार ध्वनि, वस्तुध्वनि और रसादि ध्वनि-ये भोज की कृतियों में नहीं मिलते।

(5) भोज ने उपसर्जनीकृतस्वार्थत्व को ध्वनि की परिभाषा का एक भाग माना है। किन्तु इसमें किन-किन बातों का समावेश है तथा इसका क्या प्रभाव होगा इस बात का विवेचन उन्होंने नहीं किया है। ध्वनिकाव्य (जिसमें ध्वनि प्रधान होती है) गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र काव्य या अव्यङ्ग्य ये भेद जिनका निरूपण आनन्दवर्धन ने किया है भोज की कृतियों में नहीं मिलते। ध्वनि सम्बन्धी मत की याख्या और ध्वनि के भेदों का जैसा प्रतिपादन आनन्दवर्धन में मिलता है वैसा भोज की रचनाओं में नहीं पाया जाता। पश्चाद्वर्त्ती लेखकों ने ध्वनि के यथासंभव 5304 भेद तक बतलाये हैं। (देखिये विद्यानाथ पृ. 56 बालमनोरमा सं.) वास्तव में स्वयं अभिनवगुप्त ने कहा है कि ध्वनि के 7420 तक भेद हो सकते हैं किन्तु यदि अलंकार के अगणित भेदों को मानकर विचार किया जाय तो ध्वनि के भेदों की संख्या गुणित होकर अनन्त हो जायगी। देखिये लोचन, पृ. 224, 2-1-6 किन्तु आनन्दवर्धन द्वारा प्रदर्शित मुख्य भेद ये हैं।



सर्वप्रथम ध्वनि का वर्गीकरण शब्दमूलक या अर्थमूलक व्यङ्ग्य के रूप में किया गया है ध्वनि के एकमात्र वाचकत्व-व्यापार न होने का एक कारण, जैसा कि आनन्दवर्धन ने कहा है यह है कि वाचकत्व शुद्ध शब्द-व्यापार है जबकि व्यञ्जनाशक्ति शब्द और अर्थ दोनों में रहती है—“इतश्च वाचकत्वाद् व्यञ्जकत्वस्य अन्यत्वम्, यद् वाचकत्वं शब्दैकाश्रयम् इतरत्तु शब्दाश्रयम् अर्थाश्रयं च । शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ।” पृष्ठ-191, ध्वन्यालोक-3 । इसी बात को सामने रखकर आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद गिनाये हैं-शब्द-शक्ति-मूल और अर्थ-शक्ति-मूल । यह व्यङ्ग्य अनुस्वान या अनुरागन अथवा अनुनाद से मिलता-जुलता है ।

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः ।

शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥ ध्वन्यालोक 2, 21 :

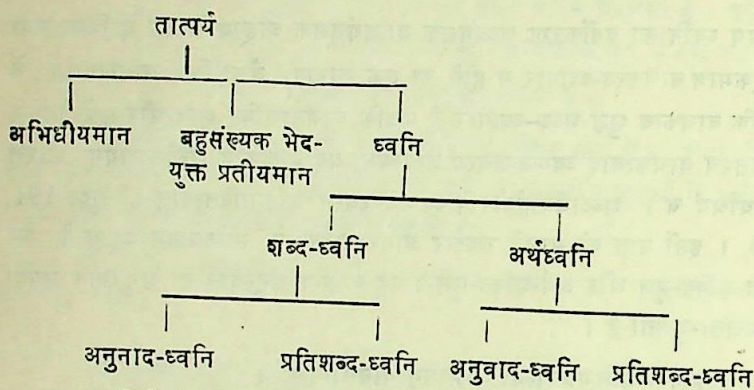
इसी प्रकार अभिनवगुप्त ने शब्द और अर्थ के दृष्टिकोण से अविवक्षितवाच्य या लक्षणा-मूल-ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधा-मूल-ध्वनि की व्याख्या की है । उनके अनुसार प्रथम में शब्दध्वनि अधिक है और द्वितीय में अर्थ-ध्वनि अधिक ।

“अत एव अर्थोऽत्र प्रधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः । शब्दोऽत्र (‘सुवर्णपुष्पा’ इत्यादौ अविवक्षितवाच्ये) प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहकारितया ।” लोचन पृष्ठ 49 । विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य नामक भेद में शब्द-ध्वनि के लिये बहुत कम अवकाश है । भोज ने ध्वनि का सरल वर्गीकरण किया है । ये दो प्रकार हैं । इनमें प्रथम व्यञ्जक शब्द या व्यञ्जक अर्थ की उपर्युक्त दृष्टि से किया गया है । देखिये “ध्वनिमत्ता तुगाम्भीर्यम्” सं० क० आ० 1-55 पर इरत्नेश्वर की टीका ।

“ध्वननं ध्वनिर्व्यञ्जनात्मा व्यापारः । स द्विविधः— शब्दध्वनिः, अर्थध्वनिश्च । + + तस्मात् शब्दाश्रितं ध्वननं शब्दध्वनिः, अर्थाश्रितं च अर्थध्वनिः इति वक्तव्यम् ।”

द्वितीय वर्गीकरण अनुवाद एवं प्रतिशब्द-ध्वनि के रूप में है । अनुवाद के लिये आनन्दवर्धन ने (2-21) अनुस्वान शब्द का प्रयोग किया है । यह संलक्ष्यक्रम-विवक्षितान्य-परवाच्य या प्रतिशब्दध्वनि का नाम है । प्रतिशब्द-ध्वनि भोज द्वारा स्वयं गढ़ा हुआ शब्द है ।

नादध्वनि की व्याख्या अभिधीयमान-प्रतीयमान-अनुस्यूत के रूप में की गई है जिसमें वाच्य और व्यङ्ग्य संश्लिष्ट रहते हैं अथवा जहाँ व्यङ्ग्य स्वतंत्र स्थित नहीं होता, अभिधीयमान के ही दीर्घतर व्यापार के रूप में प्रतीत होता है । स्वतन्त्र और भिन्न अर्थ की व्यञ्जना को प्रतिध्वनि कहते हैं । यह वैसी ही होती है जैसी हमारे स्वर की प्रतिध्वनि । प्रति शब्द ध्वनि का यह भेद जहाँ व्यङ्ग्यार्थ पृथक्भूत होकर स्थित रहता है, आनन्दवर्धन के शब्दों में, अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहलाता है—



इन भेदों की व्याख्या एवं उदाहरणों के लिये इस प्रकाश के अन्त में शृ. प्र. से उद्धृत पाठ देखिये ।

शारदातनय ने अपने भावप्रकाश में भोज के साहित्य प्रकरण का सारांश दिया है । उन्होंने अपनी समझ के अनुसार भोज के ध्वनि विषयक विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

अध्याय 6 पृ. 147 (पङ्क्ति 17) से पृ. 150 (पङ्क्ति 14) तक । शारदातनय ने तात्पर्य की व्याख्या "वाक्यार्थ प्रति शेषत्वमुच्चारणस्य" की है । और भोज के समान ही उसे तीन श्रेणियों में बांटा है —

"स च अभिवेयः प्रत्याय्यः ध्वनिरूपः इति त्रिधा" किन्तु प्रत्याय्य की परिभाषा देने के प्रसङ्ग में शारदातनय ने कुछ अन्तर किया है । हमारे समान उन्हें भी भोज की प्रतीति और ध्वनि प्रतीयमान और ध्वन्यमान में अन्तर कर सकना असंभव जान पड़ा । इसलिये उन्होंने यह अन्तर बतलाया कि जिस उक्ति का अभिहितार्थ स्पष्टतः सङ्गत नहीं मालूम होता अर्थात् जिसका अर्थ अनुपपन्न होता है उसे स्पष्ट समझाने के लिए जिस अर्थ की आवश्यकता पड़ती है उसे प्रतीयमान कहते हैं । इसका उदाहरण है "विषं भुङ्क्ष्व" यह निरूपण भोज से आंशिक रूप में मिलता जुलता है, पूर्णतया नहीं ।

यथाभिधीयमानार्थान्यथानुपपत्तितः ।

प्रतीयमानो वाक्यार्थः यस्स प्रत्याय्य ईरितः ॥

विषं भुङ्क्ष्व इति वाक्यादावेष तादृक् प्रतीयते ॥

भोज ने प्रतीयमान तात्पर्य को अभिधीयमान की अन्यथानुपपत्ति तक ही सीमित नहीं रखा है क्योंकि भोज ने स्पष्ट कहा है ।

वाक्यार्थः उपपद्यमानः अनुपपद्यमानो वा (जिल्द 2 पृ. 32)

यद्यपि उन्होंने केवल अन्तिम का ही दृष्टान्त दिया है "विषं भुङ्क्ष्व ।" इसे छोड़कर ध्वनि सम्बन्धी अन्य सब बातों के निरूपण में शारदातनय ने भोज के ग्रन्थ का ठीक-ठीक सारांश प्रस्तुत किया है । इस प्रकरण के अन्त में शारदातनय ने ध्वनि और तात्पर्य के अन्तर पर विचार किया है । उन्होंने दशरूपक की अवलोक टीका में उद्धृत ध्वनि विषयक कारिका "अप्रतिष्ठमविश्रान्तम्" आदि को उद्धृत करते हुए कहा है कि यह मत अशुद्ध है । ध्वनि

और तात्पर्य दोनों पृथक् नहीं अपितु एक ही हैं। व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि की प्राप्ति वाक्य की तात्पर्य शक्ति के द्वारा ही होती है। व्यङ्ग्यार्थ भी वक्ता के उद्देश्य का अंग होता है और वक्ता के उद्देश्य के भीतर आने वाली हर बात तात्पर्य मानी जाएगी। ऐसा कोई नियम नहीं है जो यह बतलाये कि एक विशिष्ट सीमा के आगे वक्ता का उद्देश्य तात्पर्य नहीं माना जा सकता और उसके लिये एक नया नाम देने की आवश्यकता होती है। यहाँ शारदातनय ने ध्वनि के नष्ट या अनुपलब्ध ग्रन्थ काव्यनिर्णय से इन्हीं के अवलोक में उद्धृत कारिका को उद्धृत किया है।

एतावतैव विश्रान्तिः तात्पर्यस्येति किञ्चित् ।

यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥

शारदातनय ने तात्पर्य और ध्वनि में अन्तर बतलाने वाली भोज की उन कारिकाओं को जिनमें सौभाग्य और लावण्य उपमा के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं उद्धृत नहीं किया है। इसके बदले शारदातनय ने केवल एक उपमा दी है उन्होंने कहा है कि ध्वनि तात्पर्य का अवान्तर भेद है जैसे ब्रह्मचारी ब्राह्मण का एक भेद—प्रथमाश्रमी ब्राह्मण है।

ध्वनितात्पर्ययोर्भेदो ब्राह्मणब्रह्मचारिवत् ।

तदवान्तरभेदो हि प्रायेण पृथगुच्यते ।

तात्पर्यैवैव वचसि ध्वनिरेव काव्ये आदि ।

(भोज के श्रृं. प्र. से।)

अतो ध्वन्याख्यतात्पर्यगम्यमानत्वतः स्वतः ।

काव्ये रसालंक्रियादिवक्त्यर्थो भवति स्फुटम् ॥

एवं त्रिरूपं तात्पर्यं तत्तत्तात्पर्यवेदिभिः ।

वक्तृद्वारा वाक्यधर्मं एवेति परिकीर्त्यते ॥

भावप्रकाश पृ. 150 ।

दशरूपक पर अपनी व्याख्या (मद्रास पाण्डुलिपि R 4188 पृ. 76-79) में बहुरूप मिश्र ने शारदातनय का अत्यधिक अनुसरण किया है और उन्होंने ध्वनि के सम्बन्ध में शारदातनय द्वारा प्रस्तुत किये गये भोज के ग्रन्थ के सारांश को गद्य में दिया है उनके कथन की समाप्ति इस प्रकार होती है।

अतः तृतीयकक्षारूपेण ध्वनिनाम्ना तात्पर्येण गम्यमानत्वात् रसालङ्कारादिः वाक्यार्थः ।

+++ एवं त्रिप्रकारमपि तात्पर्यं वक्तृद्वारा वाक्यधर्मं एवेति ।

बहुरूप मिश्र ने शारदातनय द्वारा भोज के प्रतीयमान के विषय में किये गये परिवर्तन को भी स्वीकार किया है। शारदातनय और उनके अनुसर्ता बहुरूप मिश्र भी कहते हैं

“वक्तृद्वारा वाक्यधर्मः” अर्थात् तात्पर्य का संबन्ध वक्ता के माध्यम द्वारा ही वाक्य से होता है। किन्तु कुमारस्वामी का कथन है कि तात्पर्य का संबन्ध विशुद्ध रूपेण वक्ता से होता है, वाक्य से नहीं।

उद्देशो नाम वक्तृधर्मः, न मोमांसकानामिव वाक्यधर्म इति । पृ. 33 ।

यह स्पष्ट नहीं है कि रस को वाक्यार्थ मानने के विषय में भोज का मत क्या है किन्तु उन्होंने तात्पर्य और ध्वनि के प्रकरण में इस विषय पर विचार नहीं किया है। फिर भी रचना

के दृश्य और श्रव्य प्रबन्ध भेदों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि नाटक एवं अन्य नी रूपक एवं नाटिका और सट्टक भी (कुल मिलाकर बारह) वाक्यार्थाभिनय का निर्माण करते हैं। और शेष श्रीगदित आदि बारह उपरूपक पदार्थाभिनय की सृष्टि करते हैं।

वाक्यार्थाभिनयोऽयं प्रकीर्तितो नाटकादिभेदेन ।

द्वादशविधपदार्थाभिनयमथ यथास्थितं वक्ष्ये ॥ शृं. प्र. पृ. 422 जिल्द 2 ।

किन्तु इससे कुछ अधिक काम नहीं चलता। इसी प्रकाश (11 वें) में हम भोज को रस के विषय में यह कहते हुए पाते हैं।

न हि विभावादयोऽलंकाराः, अपितु भावरसतदाभासानामलङ्काराणामभिनष्पत्ति-
हेतवः अर्थविशेषाः ।

नन्वेवमपि अर्थगुणत्वात् अभीषामप्यलङ्कारत्वं प्राप्नोति ? सत्यमेतत्; किन्तु अन्यपर-
तया त उपादीयमानाः तत्रैव न्यग्भवन्ति; न वाक्यार्थप्रतीती पदार्थाः पृथक् स्फुरन्तीति ।

जिल्द 2, पृ. 370 ।

यहाँ भोज ने स्पष्ट कहा है कि विभावादिक वाक्यार्थ में पदार्थों के सदृश होते हैं। रस, भाव और उनके आभास से ही वाक्यार्थ संपन्न होता है। जब पदार्थों का वर्णन किया जाता है तो उनका उद्देश्य वाक्यार्थ के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता विभावा-
दिकों की स्वतंत्र रूप से पृथक् सत्ता नहीं है और न वे स्वयं में उद्देश्यभूत ही होते हैं। उनका अन्तिम लक्ष्य रस का आविष्कारण है। विभावादि वाच्यवाचक और ध्वन्यमान रसादि के बीच का यह पदार्थ वाक्यार्थ-न्याय एक तुलनामात्र हो सकता है जो इस बात पर जोर देता है कि विभावादि रसपरक होते हैं और वे रस के उपायमात्र हैं। यह मत आनन्दवर्धन के विरुद्ध नहीं है क्योंकि यद्यपि पदार्थों की वास्तविक सत्ता है किन्तु वाक्यार्थज्ञान के समय उनका स्वतंत्र रूप से बोध नहीं होता। इसी प्रकार विभावादि के द्वारा रसोपलब्धि इतनी तीव्रता से होती है कि ऐसा लगता है कि विभावादिक हैं ही नहीं और न विभावादि से रसोपलब्धि की क्रमिक प्रक्रिया का ही पता चल पाता है। आनन्दवर्धन कहते हैं—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।

वाक्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि ।

यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थः वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।

बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां ऋतित्येवावभासते ॥

ध्वन्यालोक 1, 10-12

अतः रस वाक्यार्थ है। एवं विभाव अनुभाव और व्यभिचारी पदार्थों के घटक हैं। वाक्यार्थ-रस की उपलब्धि स्वभावतः तात्पर्य (ध्वनि का दूसरा नाम) द्वारा होगी और ऐसा प्रतिपादित करते हुए भोज ने न आनन्दवर्धन का और न धनिक का ही खण्डन किया। धनिक की अवलोक टीका में हम रस का वाक्यार्थ के रूप में स्पष्ट उल्लेख पाते हैं वाक्यार्थ को स्पष्ट करने वाले विभावादिक पदार्थ और वाक्य काव्य कहलाता है—

तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयाः, तत्संसृष्टो रत्यादिः वाक्यार्थः तदेव काव्यवाक्यं यदीयो ताविमौ पदार्थ-वाक्याथौ ।
दशरूपक-अवलोक पृ. 120 ।

भोज ने जिन रूपकीय और अर्धरूपकीय प्रबन्धों का वर्णन वाक्यार्थाभिनय और पदार्थाभिनय के रूप में किया है उन्हें संभवतः यह नाम धनञ्जय और धनिक द्वारा उनके इस वैशिष्ट्य के कारण दिया गया है । धनञ्जय ने कहा है—

दशधैव रसाश्रयम् । अन्यद् भावाश्रयं नृत्यम् ।

आद्यं (नृत्यं) पदार्थाभिनयः ।

और धनिक का कहना है—तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मक-मन्यदेव नृत्यम् ।
दशरूपक-अवलोक पृ. 2, 3 ।

बड़े रूपकों में रस का परिपाक होता है यह पूर्ण वाक्यार्थ के समान है । इसीलिए उन्हें वाक्यार्थाभिनय कहा है । उपरूपक भावों का चित्रण करते हैं । अतः उन्हें पदार्थाभिनय की संज्ञा दी गई है ।

प्रथम परिशिष्ट

ऊपर धनञ्जय और धनिक के विचारों की समीक्षा करते हुए यह देखा गया है कि अवलोक ने ऐश्वे अधिकांश काव्य-वाक्यों की तुलना, जिनमें स्थायी का वर्णन नहीं है ऐसे अधूरे वाक्यों से की है जिनमें कार्य का उल्लेख करने वाला क्रिया शब्द अनुपस्थित है और वह सन्दर्भ आदि के द्वारा समझा जाता है । जैसे “द्वारं द्वारम्” इसमें “पिबेहि” क्रिया का उल्लेख नहीं है । यहाँ एक में अध्याहृत “पिबेहि” क्रिया और दूसरे में अध्याहृत स्थायी ये दोनों वाक्यार्थ हैं । इस प्रकार वे दोनों तात्पर्य की सीमा के भीतर आते हैं ।

(देखिए दशरूपक पृ. 120)

भोज ने शृं. प्र. के दशम प्रकाश (जिल्द 2 पृ. 178-184) में अध्याहार और वाक्य-शेष इन दो बातों पर चर्चा की है जो अपूर्ण वाक्यों से सम्बन्धित हैं । उन्होंने अध्याहार के उदाहरण के रूप में ऐसे वाक्य दिये हैं जिनमें क्रिया अश्रूयमाण है और ऐसे वाक्य भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें केवल क्रियाएँ ही श्रूयमाण हैं, कर्त्ता और कर्म नहीं ।

द्वारं द्वारमित्युक्ते संब्रियताम् अप्राब्रियतां वेत्यध्याह्रियते । तथा वर्षत्युदेत्युक्ते देवः, सूर्यः इति ।

यद्यपि यह अश्रूयमाण अंश भी वाक्यार्थ का एक भाग है तो भी इसकी उपलब्धि श्रुतार्थापत्ति प्रमाण द्वारा होती है । यह भोज का कथन है क्योंकि इस अंश के बिना वाक्य अधूरा या अबोध रहता है ।

इसी से मिलता जुलता वाक्यशेष होता है । भोज ने अध्याहार से पृथक् मानकर इसकी व्याख्या की है । ये दोनों अधूरे या असमग्र वाक्यों के उदाहरण हैं जिनमें कुछ ऊपर से जोड़ने

1. भोज और नाट्यशास्त्र शीर्षक अध्याय में इस अन्तर के विषय में अधिक विस्तार के साथ चर्चा की गई है ।

के लिये छोड़ दिया जाता है किन्तु अध्याहार में छूटे हुए अंश की पूर्ति शब्द को जोड़कर कर ली जाती है जबकि वाक्यशेष में एक नया अर्थ जोड़ना पड़ता है। अध्याहार के स्थलों में शब्दों की दृष्टि से वाक्य अपूर्ण होता है किन्तु वाक्य शेष के स्थलों में शब्दों की दृष्टि से वाक्य के पूर्ण रहने पर भी उसका अर्थ अपूर्ण रहता है—अर्थः अपरिपूर्णः। अतः भोज के मत से अध्याहार शब्दाकाङ्क्षानिवर्तक होता है और वाक्यशेष अर्थाकाङ्क्षानिवर्तक।

कः पुनरध्याहारवाक्यशेषयोर्विशेषः ? शब्दाकाङ्क्षानिवर्तकोऽध्याहारः अर्थाकाङ्क्षानिवर्तकः वाक्यशेष इति। जिल्द 2 पृ. 180।

वाक्यशेष क्या है ? 1 यह अर्थकल्पना है अर्थात् कथन को स्पष्ट करने के लिये अर्थ का जोड़ना। ऐसे कथनों में अर्थ स्पष्टतः कथित नहीं होता अपितु ऊपर से अवगम्यमान रहता है। वाक्य का उद्दिष्ट तो वह रहता है किन्तु शब्दों द्वारा वस्तुतः कथित नहीं होता। उदाहरणार्थ सभी वाक्य अन्ततः विधि या निषेध को प्रकट करते हैं ऐसे स्थलों में भी जहाँ इन दोनों में से किसी का साफ साफ उल्लेख नहीं होता हम उनकी कल्पना कर लेते हैं और समझ लेते हैं। इस तरह जब कोई एक पक्षिक को देखकर कहता है “आर्यनिवासोऽयं देशः” तो उसका उद्देश्य उससे यह कहना होता है कि वह उसके निवास पर ठहर जाय। इसीलिये वह अपने स्थान को सम्प्रजनों का आवास बतलाते हुए उसकी प्रशंसा करता है। इसी तरह किसी को ठहर जाने और भोजन करने की प्रार्थना करते हुए कोई कहता है “मध्याह्ने वर्तते” यदि कोई कहता है—“सचोरः पन्थाः” तो उसका तात्पर्य होता है—“उस मार्ग से मत जाओ”

सर्ववाक्यानां विधिनियेधपर्यवसायित्वात्, साक्षात् तदश्रुतावपि तदुपकल्पनं वाक्यशेषः। तद्यथा—“आर्यनिवासोऽयं देशः” इत्युक्ते इहैव स्थातव्यम्, “मध्याह्ने वर्तते” इत्युक्ते इहैव भोक्तव्यम्, सचोरः पन्थाः” इत्युक्ते न गन्तव्यम्, “ग्राहास्सरित्यस्याम्” इत्युक्ते न स्नातव्यमिति वाक्यशेषो भवति।

जिल्द 2 पृ. 179।

और अर्थ को पूर्णता प्रदान करने के लिये जोड़ा गया यह अंश श्रुतार्थापत्ति के द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द के द्वारा नहीं।

अथैष प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैरनुपलभ्यमानः किंप्रमाणविषयस्यात्, अध्याहारवत् श्रुतार्थापत्तिप्रमेयः इति। जिल्द 2, पृ. 180।

प्राभाकर मीमांसक इस श्रुतार्थापत्ति को स्वीकार नहीं करते। उनके यहाँ शब्दाध्याहार के लिये कोई स्थान नहीं। अर्थकल्पना को तो मानते हैं किन्तु वे श्रुतार्थापत्ति के द्वारा लभ्यमान वाक्यशेष या अध्याहार के माध्यम से अर्थकल्पना को नहीं स्वीकार करते।

1 कौटिलीय अर्थशास्त्र के अन्तिम अधिकरण में वाक्यशेष को एक प्रकार की तन्त्रयुक्ति बतलाया है। इसका दृष्टांत एक ऐसी उपमा से दिया है जिसमें उपमान लुप्त है। किन्तु उपमेय और समान धर्म—जैसा कि “छिन्नपक्ष इव” में देखा जा सकता है—विद्यमान रहते हैं इसमें उपमान पक्षी ऊपर से समझना पड़ता है। यह वाक्यशेष है। वामन ने अर्थशास्त्र के समान ही वाक्यशेष का अर्थ बतलाया है। रीतिनमियमात्मा काव्यस्य। शरीरस्ये वेति वाक्यशेषः। 1, 2-6 यहाँ ऐसे स्थलों में वाक्यपूर्णता नहीं है।

व्यङ्ग्यात्मक कथनों के प्रसङ्ग में व्यक्त होने वाला संपूर्ण विचार अभिधाव्यापार द्वारा लभ्यमान से ही व्यक्त हो जाता है। प्रश्न यह है कि शब्द उस अर्थ को कैसे व्यक्त कर सकते हैं जो उनका अपना नहीं है और जिसके लिये अन्य शब्दों की आवश्यकता होती है। प्राभाकर लोग कहते हैं कि अभिधा-व्यापार का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें प्रतीयमान अर्थ का भी समावेश हो जाता है। वह बाण के समान चलती है और व्यापक क्षेत्र तक मार करती है। भोज का कहना है कि इस मत से काम नहीं चल सकता क्योंकि अभिधा-व्यापार शब्दों द्वारा व्यक्त वास्तविक अर्थ के अतिरिक्त और किसी अर्थ का बोध नहीं करा सकता और न अभिधा का दीर्घदीर्घतर व्यापार तात्पर्य शक्ति बन सकता है। भोज कहते हैं —

यच्चोक्तम्—कल्प्यमानस्य ग्रन्थस्य अवैदिकत्वं मा भूदिति श्रूयमाणस्य शब्दस्यैवायमि-
षोरिव दीर्घदीर्घो व्यापार इति तदपि न सम्यक् ; तस्य तथाविधार्थप्रत्यायनासामर्थ्यात् ।
स हि तमर्थं प्रत्याययन् अभिधाशक्त्या वा प्रत्याययेत्, तात्पर्य-शक्त्या वा ? (न अभिधाशक्त्या),
तस्याः पदार्थ-प्रतिपादनमात्र एव उपक्षीणत्वात् ।

नापि तात्पर्यशक्त्या । तात्पर्यशक्तिर्हि प्रतीयमानार्थविषया तत्रैव प्रकाशते, यत्र
वाक्य-वाक्यार्थयोः परिपूर्णत्वं भवति । यथा “विषं भुङ्क्ष्व, मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्वाः इति ।
अत्र तु परिपूर्णं ह्येकमेव नार्थः परिपूर्णं इति तात्पर्यं शक्तेरवकाशः । नृहि “तां तथाविधां त्वम-
त्याक्षीः” इत्यादिप्रयोगं विना वाक्यार्थस्य परिपूर्णत्वं भवति ।

+ + + + + + +

तस्मादर्थपत्त्या पूर्वं शब्द एव प्रत्येतव्यः । तस्मिंश्च प्रतिपन्ने तत एव अर्थावगमोऽपि
भविष्यति इति न तात्पर्यतः श्रूयमाण एव शब्दः परिक्लेशनीयः । शृ. प्र. जिल्द 2,
पृ. 182-83 ।

तस्मादवश्यमेव अध्याहारवाक्यशेषसिद्धये श्रुतार्थापत्तिरभ्युपगन्तव्येति । पृ. 184- वही
अब हम वाक्यशेष की परिभाषा तथा उसके उदाहरणों की समीक्षा करेंगे । भोज का
कहना है कि वाक्य का अर्थ या तो विधि होता है या निषेध और जब विधि या निषेध का
साक्षात् कथन नहीं होता तो भी वह वहाँ पर छिपा रहता है । काव्य-वाक्य के विषय में भी
यही बात लागू होती है । क्योंकि रस और व्युत्पत्ति के विषयक अतिरिक्त काव्य का उद्देश्य
या तो किसी अच्छे काम की ओर प्रवृत्त करना अथवा किसी बुरे काम से निवृत्त करना ही
होता है । रामायण काव्य का प्रयोजन है—रामवद् वर्तितव्यम्, न रावणादिवत् ।

वाक्यैकार्थिभाव का विवेचन करते हुए जिल्द दो के पृ. 143 पर भोज ने कहा है—
यस्तु तद्रूप-रामायणादि-प्रबन्धार्थानामवधारणोपहितसंस्कारस्य रामवद् वर्तितव्यं
न रावणादिवत् इत्यादि विधिनिषेधप्रतिभाविशेषः उपजायते स समस्त-विश्वव्यापी चतुर्व-
गंकहेतुः परो महावाक्यार्थः + + + ।

इससे पहले भी षष्ठ प्रकाश में वाक्यार्थ के प्रकरण में भोज ने कहा है कि भावना,
विधि और प्रतिभा ये वाक्यार्थ होते हैं और काव्यों में विधि राम के समान आचरण करना

चाहिये, रावण के समान नहीं” इस निहित आदेश में मिलती है । यहां भोज स्पष्टतया कहते हैं कि यह निहित विधि-निषेध वाक्यशेष द्वारा प्राप्त होता है ।

प्रवृत्ति-निवृत्योर्विधायकः अर्थवादादिभिरूपक्रियमाणः लिटलोत्संज्ञादिज्ञाच्यः शब्द-व्यापारो विधिः । + + + सर्वं हि वाक्यं विधिनिषेधयोरेव पर्यवस्यति यत्रापि च लिङ्गादयो न श्रूयन्ते तत्रापि विधिनिषेधपरतया सर्ववाक्यानां वाक्यशेषभूतास्तेऽवगम्यन्ते तद्यथा “इह देशे सुभिक्षमि” त्युक्ते अत्रैव स्थातव्यम्, “मध्याह्ने वर्तते” इत्युक्ते इहैव मोक्तव्यम् “सचोरः पन्थाः” इत्युक्ते न गन्तव्यम् “ग्राहाः सरित्यस्याम्” इत्युक्ते न स्नातव्यमिति प्रतीयते ।

किञ्च महाकाव्येऽपि रामायणादिभिः इदमेव व्युत्पाद्यते-रामस्य पितुराज्ञां पालयतः वनवासिनोऽपि तथाविधः अभ्युदयः संवृत्तः रावणस्य परदारान् अभिलष्यतः त्रैलोक्यविजयिनोऽपि तथाविधः उच्छेदः । तस्मात् पितुराज्ञां पालयेत् परदारान् नाभिलष्येत्, रामवद् वर्तते न रावणादिवद् इति ।

जिल्द 1 पृ. 408-9 ॥

इस वाक्यावलि से यह बात स्पष्ट है कि भोज वाक्यशेष के उदाहरण स्वरूप अनभिहित विधि निषेध वाले जिन वाक्यों को प्रस्तुत करते हैं वे बिलकुल काव्य प्रकृति के हैं । अर्थवाद स्तुति या निन्दा विधि या निषेध की सहायता करते हैं । काव्य अर्थवाद है और उसके विधिनिषेध व्यंग्य होते हैं इसको वाक्यशेष कहते हैं ।

भोज का कथन है यह विधि निषेध वाक्यार्थ का एक दूसरा पक्ष अर्थात् विधि है । इस प्रकार “रामवद् वर्तितव्यं न रावणादिवत्” रूप काव्य व्युत्पत्ति भोज की दृष्टि में वाक्यार्थ और वाक्यशेष हैं । ध्वनिवादी इसे ध्वन्यमान या व्यंग्य कहते हैं और जब अध्याहार और वाक्यशेष की चर्चा के प्रसंग में भोज कहते हैं कि विधि निषेध है वाक्यार्थ का वाक्यशेष श्रुतार्थापत्ति के द्वारा उपलब्ध होता है तो वे अपने ही द्वारा अन्यत्र स्वीकृत ध्वनि का तिरस्कार कर देते हैं और उन लोगों में शामिल हो जाते हैं जो अर्थापत्ति को स्वीकार करते हुए ध्वनि की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते और जो जयरथ द्वारा उद्धृत दो कारिकाओं में व्यक्त ध्वनि विरोधी एवं अर्थापत्तिपक्ष के समर्थक हैं ।

भोज द्वारा वाक्यशेष के लिये प्रस्तुत उदाहरण अर्थवाद का निरूपण करते हैं । और स्पष्ट रूप से काव्य वाक्यों से मिलते जुलते हैं । उनमें निहित विधि और निषेध काव्य व्युत्पत्ति से मेल खाते हैं । इनकी व्याख्या केवल ध्वनि द्वारा ही की जा सकती है ।

भोज ने वाक्यशेष के लिये काव्यों से दो उदाहरण दिये हैं और बतलाया है कि उनमें कौनसा अर्थ ऊपर से समझने के लिये अर्थात् प्रतीयमान छोड़ दिया गया है ।

यह टिप्पणी स्वयं ही वाक्य शेष को ध्वनि सिद्ध करती है ।

वाक्यशेषो भवति । यथा च—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं

त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।

इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुन्ध्य मुग्धां,

तामेव — शान्तमथवा किमतः परेण ॥

यथा वा—पत्युः पितेव स भवान् नलकूबरस्य,
रम्भा स्नुषा धनपतेरिव सा तवापि ।
यत्वन्यदत्र हृदयान्न तदेति कण्ठं
दोषस्तथापि यदि तत् स्मृत एष रुद्रः ॥

× × ×

तथाहि—तामेव त्वं तथाग्नौ विशुद्धामाहितगर्भमनागसाम्,

विस्त्रब्धां च धर्मपत्नीमत्याक्षीरिति प्रथमश्लोके, कामयमानायामपि स्नुषायां
कामतोऽपि यत्प्रघर्षणम् तन्महापातकेषु प्रकृष्यते, किमङ्ग पुनः अकामयमानायाः शपन्त्याः
क्रोशन्त्याश्च हठेनेति द्वितीयश्लोके + + । पृष्ठ 179—180 ।

निश्चित ही ये ध्वनि के उदाहरण हैं यद्यपि यहाँ ध्वनि प्रधान नहीं अपितु वह अलं-
कार से अभिभूत अर्थात् वाच्यानतिशायी है । प्रथम श्लोक रुच्यक और भामह के आक्षेप
अलंकार का प्रथम भेद है । भामह ने इसका निम्नोक्त उदाहरण दिया है—

अहं त्वा यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुकान्ततः ।

इयदेवास्त्वतो न्येन किमुक्तो नाप्रियेण ते ॥ काव्यालंकार—2—69 ।

रुच्यक ने इसके उदाहरण में ठीक वैसा ही श्लोक प्रस्तुत किया है जैसा भोज द्वारा प्रस्तुत
प्रथम श्लोक ।

+ + सानूनं—आह किमथवा हतजल्पितेन ।

निर्णयसागर संस्करण पृ० 116 ।

भोज ने शब्दालंकार खण्ड में संवृत्तिमुद्रा नामक अलंकार के उदाहरण में इसी प्रकार
का श्लोक दिया है ।

संवृत्तिमुद्रा यथा—

मणिरत्नं प्रसेनस्य तच्चानार्येण विष्णुना ।

लब्ध येनाद्ययोगेन तेन किं कीर्तितेन वा ॥

अत्र “कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः” ततः “किंते न वःकीर्तितेन” इति साभि-
प्रायसंवृत्तिकरणाद् इयं संवृत्तिमुद्रा । स. क. आ. पृ. 146 ।

रत्नेश्वर—आस्ताम् इत्यादि वचनसंकोचः संवृत्तिः 2

यह उक्ति के एक अंश का सोद्देश्य संकोचन है । और यह ‘तेन किं कीर्तितेन वः’
उसी प्रकार की उक्ति है जैसी “शान्तमथवा किमतःपरेण” तथा “न तदेति कण्ठम्”, जिन्हें भोज
ने वाक्यशेष के उदाहरण स्वरूप दो श्लोकों में प्रस्तुत किया है । किन्तु ये दोनों उदाहरण
मुख्य ध्वनि के नहीं अपितु ऐसे काव्य के हैं जिनमें ध्वनि तत्त्व विद्यमान है । फिर भी भोज
उन स्थलों में तात्पर्य या ध्वनि को स्वीकार नहीं करना चाहते । जहाँ पर उक्ति का एक
भाग अनुक्त छोड़ दिया गया हो और वाक्य पूरा न हो । ध्वनि या तात्पर्य पूरे वाक्यों में ही,
जहाँ अतिरिक्त अर्थ व्यंग्य होता है, होते हैं । अतः वाक्यों के प्रसंगों में वे वाक्यशेष और
श्रुतार्थापत्ति स्वीकार करते हैं ।

तात्पर्यशक्तिर्हि प्रतीयमानार्थविषयो तत्रैव प्रकाशते, यत्र वाक्यवाक्यार्थयोः परि-
पूर्णत्वं भवति ।

+ + + अत्र तु परिपूर्णं वाक्ये नार्थः परिपूर्णं इति तात्पर्यशक्तेरवकाशः ।

तस्मादर्थापत्त्या पूर्वं शब्द एव प्रत्येतव्यः । तस्मिंश्च प्रतिपन्ने तत एव अर्थाविगमोऽपि भविष्यतीति न तात्पर्यतः श्रूयमाण एव शब्दः परिवर्त्तनीयः ।

शृं. प्र. जिल्द 2, पृ. 182—3

अभिनवगुप्त का भी कथन है कि श्रुतार्थापत्ति वहाँ होती है जहाँ अभिधा अर्थबोध कराकर विरत नहीं होती अपितु स्वयं को स्पष्ट करने के लिये कुछ और अर्थ की माँग करती है । ध्वनि के स्थल इससे भिन्न होते हैं । एक तो वह पूरे वाक्यों में ही सक्रिय होती है और वह भी अर्थबोध कराने के बाद अभिधा के विरत हो जाने पर ।

अत एव समाप्तायामेव अभिधायां सहृदयैरेव स द्वितीयोऽर्थः अपृथग्यत्नेन अवगम्यते + + + एतच्च सर्वोदाहरणेष्वनुसर्तव्यम् । “पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति” इत्यत्र अभिधैव अपर्यवसितेति सैव स्वार्थनिर्वाहाय अर्थान्तरं शब्दान्तरं वाकर्षतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेर्वा तार्किक मीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसङ्गः इत्यलं बहुना । लोचन, पृ. 115 ।

परिशिष्ट 2

भोजने कुछ ऐसे प्रसंगों की ओर ध्यान दिया है जो ध्वनि के उदाहरण हैं । सप्तम प्रकाश (जिल्द 2 पृ. 27) विवक्षा के विभिन्न भेदों पर विचार करते हुए उन्होंने जो कहा उसमें से निम्नलिखित पर यहाँ ध्यान देना आवश्यक है—

स्तुत्या निन्दाविवक्षा, निन्दया स्तुतिविवक्षा, विधिना निषेधविवक्षा और निषेधेन विधिविवक्षा ये ध्वनि के स्थल हैं । इनमें अभिधार्थ से ठीक उल्टा अर्थ विवक्षित है । ये भोज के प्रतीयमान वर्ग में आते हैं । भोज ने इस प्रकरण की समाप्ति यह सामान्य मत प्रकट करते हुए की है जिसके आधार पर ध्वनि अन्ततोगत्वा कविप्रतिभा या कविशक्ति ठहरती है । भट्टनायक ने भी इसे कविव्यापार का एक भाग बताते हुए ऐसा ही कहा है । देखिये जयरथ की अलंकार-विमर्षिणी, पृ. 9 । भोज का कथन है—

एवमियमनेकधा विवक्षा विप्रयते । तदेष लौकिकवादः—

अस्मिन्नपारे संसारे कविरेकः प्रजापतिः ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

अपि च— ठियमठिअं दीसइ अठिअंपि जह ठिअं व पडिभाई ।

जह संठिअं अ दीसइ सुकईण इमाओ पअईओ ॥

गोड़वहो, 66—शृं. पृ. जिल्द 2, पृ. 21

शृङ्गार प्रकाश का ध्वनिविषयक मूलपाठ

(मद्रास पाण्डुलिपि जिल्द 2 पृ. 31-42)

सप्तम प्रकाश से

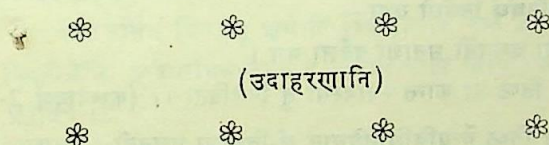
“यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति तात्पर्यम् । तच्च वाक्य एवोपपद्यते । पदमात्रेण अभिप्रायस्य प्रकाशयितुमशक्यत्वात् । तच्च वाक्यप्रतिपाद्यं वस्तु त्रिरूपं भवति अभिधीय-मानम्, प्रतीयमानम्, ध्वनि रूपं च ।

यत्र यद् उपात्तशब्देषु मुख्याणीलक्षणाभिः शब्दशक्तिभिः स्वमर्थमभिधाय उपर-
तव्यापारेषु आङ्गाक्षासनिधियोग्यतादिभिः वाक्यार्थमात्रमभिधीयते तद् अभिधीयमानं, यथा
गौरांछतीति ।

वाक्यार्थावगतेरुत्तरकाल वाक्यार्थः उपपद्यमानः अनुपपद्यमानो वा अर्थप्रकरणोचित्यादि-
सहकृतौ (तो) यत् प्रत्याययति तत् प्रतीयमानम्, यथा 'विषं भुङ्क्ष्व, मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्व'
इत्युक्ते 'वरं विषं भक्षितं, न पुनरस्य गृहे भुक्तम्' इति प्रतीयते ।

अर्थशब्दोपायाद् उपसर्जनीकृतस्वार्थः वाक्यार्थावगतेरनन्तरम् अनुनादरूपम् प्रतिशब्द-
रूपम् वा (यद्) अभिव्यञ्जयति तद् ध्वनिरूपम् । तच्च न सार्वत्रिकम् । तथा हि निवृत्तेऽभि-
घाते कस्यचिदेव कांस्यादेः द्रव्यस्य अनुनादः जायते, कस्यचिदेव कन्दरादेः प्रतिशब्दः, य (त)
था कस्यचिदेव वाक्यस्य प्रतीयमानाभिधीयमानवाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं ध्वनिरूपलभ्यत इति ।
निमिषत्येतेत्युक्त अक्ष्णोर्निमेषोऽभिधीयते, देवी न भवतीति प्रतीयते, रूपातिशय च
ध्वनन्ति (ति) ।

अथैषां प्रयोगः । तत्र अभिधीयमानं चतुर्धा विधिरूपं, निषेधरूपम्, विधिनिषेधरूपम्
अविधिनिषेधरूपं च ।



प्रतीयमानं पुनरनेकधा । क्वचिद्विधौ निषेधः—सम धम्मिअ—इत्यादि
(गाथा० II. 75) 1.

अत्र विस्मयो भ्रमेति विधिवाक्ये तत्र निकुञ्जे सिंहस्तिष्ठति, त्वं च शुनोऽपि
विभेषि, तस्मात् त्वया तस्मिन् गन्तव्यमिति निषेधः प्रतीयते ।

क्वचिन्निषेधे विधिर्यथा—अत्ता एत्थ णिमज्जइ इत्यादि (गाथा० VII. 67)

अत्र शय्यायां मा निषत्स्यसीति निषेधवाक्ये इयं श्वश्रूशय्या इयं मच्छय्या इति
दिवाभ्युपलक्ष्य रात्रौ त्वया इह आगन्तव्यं इति विधिः प्रतीयते ।

क्वचिद्विधौ विध्यन्तरं यथा—

बहलतमा हहराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णम् ।

तह जेगज्जस असंअण जहा णं मे मुसिज्जामो (गाथा० IV. 35)

[बहलतमा हतरात्रिः अद्य प्रोषितः पतिः गृहं शून्यम् ।

तथा जागृहि प्रतिवेशिन् न यथा वयं मुष्यामहे ॥]

(1) उपर्युक्त संपूर्ण पाठ जिसमें प्रतीयमान के भेद दिये गये हैं आनन्दवर्धन के प्रथम-
उद्योत के पृ. 16-20 पर दिये हुए पाठ का विशदीकरण मात्र है ।

भोज का यह संपूर्ण मूल पाठ उदाहरणों एवं व्याख्या के साथ हेमचन्द्र ने अपने
काव्यानुशासन (पृ. 26-34) पर उद्धृत किया है ।

यत्र (अत्र) यथा वयं न मुष्यामहे तथा जागृहीति विध्यभिधाने रात्रिः अत्यन्धकारा, पतिः प्रोषितः, गृहं शून्यम्, अतस्त्वमभयो मत्पार्श्वमागच्छेति विध्यन्तरं प्रतीयते ।

क्वचिन्निषेधे निषेधान्तरं यथा—

आसाइअं अण्णाएण जत्तिअं तत्तिएण बन्धदिहि ।

ओरमसु वुसह एल्लि रळिखज्जइ गहपइच्छत्तम् ॥1

अत्र गृहपतिक्षेत्रे दुष्टवृषवारणपरे निषेधवाक्ये उपपतिवारणं निषेधान्तरं प्रतीयते ।

क्वचिद्वि(दविधि)निषेधे विधियंथा—

महुएहि किं व पन्थिअ जइ हरसि णि अंणिअंवा (णिअसणं णिअंवाओ) ।

ओवाहेमि कस्स रणे गामो दूरे अहं एक्का ॥

[मधूकैः किमिव पान्य यदि हरसि विवसनं नितम्बात् ।

आह्वयामि कस्य अरण्ये ग्रामो दूरे अहं एका ॥]2

अत्र विधिनिषेधयोरनभिधाने अहमेकाकिनी, ग्रामो दूर इति विविक्तोपदेशान्नितम्ब-
वासोऽपि मे हर इति विधिः प्रतीयते ।

क्वचिदविधिनिषेधे निषेधो यथा—

जीविताशा वलवती धनाशा दुर्वला मम ।

गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ।। (काव्यादर्श 2-139)

अत्र गच्छ वा तिष्ठ वेत्यविधिनिषेधात् जीविताशा वलवती, धनाशा 'दुर्वला ममेति
वचनात् त्वया विनाहं जीवितुं न शक्नोमि इति उपक्षेपेण गमननिषेधः प्रतीयते ।

क्वचिद्विधिनिषेधयोः विध्यन्तरं यथा—

णिअदइअदंसणुक्खित्त पहिअ अण्णेण वच्चसु पहेण ।

गहपइवहूआ दुल्लंघिअवाउरा इह हअम्मामे ॥3

[निजदयितादर्शनोत्सिक्तपथिक अन्येन व्रज पथा ।

गृहपतिवधूः दुर्लङ्घवागुरा इह हतग्रामे ॥]

अत्र अन्येन पथा व्रज(जे)ति विधिनिषेधयोरभिधाने हे स्वकान्ताभिरूपताविकत्थन
पान्थ अपि(भ)रूप[क] इह ग्रामे भवतो गृहपतिसुता द्रष्टव्यरूपेति विध्यन्तरं प्रतीयते ।

(1) बैर द्वारा सम्पादित गाथा सप्तशती (1958) में कुछ अंतर के साथ तेलुगु
संस्करण में प्राप्त । देखिये स. क. आ. पृ. 469 । यह थोड़े अंतर के साथ वहाँ उद्धृत है ।
वहाँ इसकी छाया निम्न रूप में मिलती है—

आस्वादितमज्ञातेन तावत् तावदेव व्रीहीणाम् ।

उपरम वृषभेदानीं रक्ष्यते गृहपतिक्षेत्रम् ॥

(2) तेलुगु पाण्डुलिपि बैर द्वारा सम्पादित गाथासप्तशती । यह वज्जालगम्,
बिब०, इण्ड० । संस्करण II गाथा 491 ।

(3) देखिये स. क. आ., पृ. 593, गाथासप्तशती तेलुगु संस्करण, बैर ।

क्वचिद् विधिनिषेधयोः निषेधान्तरं यथा—

उच्चिणसु पडिअकुसुमं मा धुन सेहालिअं हलिअसुल्ले ।
 एस अवसानविरसो ससुरेण सुओ वलअसदो ॥1
 [उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीः शेफालिकं हालिकस्नुपे ।
 एष अवसानविरसः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥]

अत्र पतितं कुसुममुच्चिनु, मा धुनीहि शेफालिकामिति विधिनिषेधयोः अभिधाने, सखि चीर्यरस-(रते) प्रसक्ते वलयशब्दो न कर्तव्यः इति निषेधान्तरं प्रतीयते ।

क्वचिद्विधावनुमयं यथा—

सणिअं वच्च किसोरि वहि वयत्तेन ववसुमहि पट्टेदि ।
 भञ्जिहिंसि वित्थअत्थनि विहिना दुस्खेण गिम्माविआ ॥
 [शनैर्वाज किशोरि बहु प्रयत्नेन व्यवस्यामः पृष्ठतः ।
 भक्ष्यसे विस्तृतस्तनि विधिना दुःखेन निर्मापिता ॥]

अत्र शनैर्वाजेति विध्यभिधाने हि न विधिर्नापि निषेधः । अपि तु वर्णनमात्रं प्रतीयते ।

क्वचिन्निषेधेऽनुमयं यथा—

देआ पसिअ णिवत्तसु इत्यादि (ध्वन्यालोके पृष्ठे 22 उदाहृता गाथा) ।
 अत्र निवर्तस्वेति निषेधामिधानेऽपि न निषेधो नापि विधिः, अपि तु मुखेन्दुकान्ति (वर्णनमात्रं) प्रतीयते ।2

क्वचिद् विधिनिषेधयोः अनुमयं यथा—

वच्च महच्चि(व्वि)अ एक्केइ-इत्यादि (ध्व. आ. पृष्ठे 22)

(अत्र ममैव निश्वासरोदनानि भवन्तु), मा तवापि तां विना तानि जायन्तामिति विधिनिषेधयोरभिधाने न विधिर्नापि निषेधः, अपि तु कृतव्यलीकप्रियतमोपालम्भमात्रं प्रतीयते ।

क्वचिद् विधिनिषेधे अनुमयं यथा—

गोलाणइए कच्छे चक्खन्तो राइआइ पत्ताइ ।
 उप्यडइ मक्कडो खोक्खएइ पोट्टं च पिट्टेइ ॥ (गाथा. II. 71)
 [गोदावरीनदीकच्छे चर्वयन् राजिकायाः पत्राणि ।
 उत्पतति मर्कटः खोक्खशब्दं करोति उदरं च ताडयति ।]3

(1) ध्वन्यालोक पृ. 120 के अनुसार । वहाँ श्रु. प्र. के तृतीय चरण के “अवसान-विरसो” के स्थान पर “विसम विरामो” पाठ मिलता है । गाथा सप्तशती के वैबर-सम्पादित तेलुगु संस्करण में यह गाथा मिलती है ।

(2) इस गाथा के अन्तरङ्ग तात्पर्य के विषय में अभिनवगुप्त का अन्य व्याख्याकारों से कुछ मतभेद है । भोज की व्याख्या सीधी बोधगम्य और प्रासंगिक लगती है ।

(3) हेमचन्द्र ने इस गाथा को छोड़ दिया है । और यहाँ पर दृष्टान्त रूप में एक अन्य गाथा प्रस्तुत की है । स्वभावतः उसकी व्याख्या भिन्न है । (काव्यानु. पृ. 33) इसके पश्चात् उन्होंने आनन्दवर्धन का अन्तिम उदाहरण भी जोड़ दिया “क्वाचिद् वाच्याद् विभिन्नविषय-त्वेन व्यवस्थापितः” जिसका उदाहरण है “कस्य वा न भवति रोषः” आदि ।

अत्र न विधिर्नापि निषेधोऽभिधीयते; नापि अनयोः (प्रतीतिः, अपि तु) अन्यः (सं) केतु(त) कुटु(डं)गे अभ्यागतः, भवान् न गतः इति तं ज्ञापयतीति प्रतीयते ।

ध्वनिः

प्रतीयमानाभिधीयमानवाक्यार्थानाम् आनन्त्याद् ध्वनिरूपमप्यनेकप्रकारमेव । ध्वनिश्च द्विधा अर्थध्वनिः शब्दध्वनिश्च । तयोरर्थध्वनिः अनुनादध्वनिरूपः प्रतिशब्दध्वनिरूपश्च ।

तत्र योऽभिधीयमानवाक्यार्थानुस्यूतमेव कांस्यानुनादरूपम् अर्थान्तरं (ध्वनति, स अनुनादध्वनिरूपः) । (स यथा)—‘शिखरिणि क नु नाम कियच्चिरम्’ इत्यादि ।

(देखिये ध्वन्यालोक पृ० 49) 1

अत्र यथाश्रुतवाक्यार्थोऽभिधीयमानः विम्बफलारुणाधर इत्युपलक्षणेन रागातिशयं प्रत्याययन् नात्पपुण्यस्त्वदधरप्रतिनिधिमपि चुम्बतीति चाटुना वर्णनीयायाः स्वानुराग प्रकाशनं ध्वनति । एतच्च कांस्यध्वनिवद् अविच्छिन्नमेव ध्वनद् अनुनादरूपं प्रतीयत इति अनुनादध्वनिः । तथा—

शान्त्यै वोऽस्तु कपालदाम जगतां पत्युर्गदीयां लिपि

कापि कापि गणाः पठन्ति पदशो नातिप्रसिद्धाक्षराम् ।

विश्वं स्प्रक्ष्यति वक्ष्यति क्षितिम् अपामीशिष्यतेऽशिष्यते

नागै रागिषु रंस्यतेऽस्त्यति जगन्निर्वेक्ष्यति द्यामिति ॥

अत्र गणाः कपाललिपिम् अप्रसिद्धाक्षरां पदशः पठन्तीति वाक्यार्थोऽभिधीयमानः, तानि कपालानि ब्रह्मादीनाम् इति प्रत्याययन् महाध्वो(र्थो) 2 पसंहारे भगवतोऽनुपहतप्रभावस्य एकाकिनः मव(समव)स्थानम् इव (इति) ध्वनति । तच्च विश्वं स्प्रक्ष्यतीत्यादिपदार्थो(र्था)नुस्यूतमेव (अनुनादरूपं) निरूप्यते इति अनुनादध्वनिः । एवम्—

अण्णत्त वच्च बालअ मज्जन्ति कि अलोएसि एअं ।

र(रे) जायाभीरुआणु(णं) तुहं पि ण होई (तुहं तीत्यं विअ ण होइ) ॥3

[अन्यत्र ब्रज बालक मज्जन्तीं कि प्रलोकयस्येवम् ।

भो जायाभीरुकाणां युष्माकं तीर्थमेव न भवति ॥]

अत्र किं मां मज्जन्तीं प्रलोकयसि अन्यत्र ब्रज, नेदं जायाभीरूणां तीर्थमित्यभिधीयमानः जायायास्त्वं विभेषि तेन मां न कामयसे इत्युपालम्भार्थं प्रत्याययन् [अ] स्नेहं विना युवतीनां इष्यायितं भवतीति ध्वनति । तच्च तस्या अनुरागार्थवानि (थानुस्यूत)मेव अनुनादरूपं ध्वनतीत्यनुनादध्वनिः । एवं “अत्ता एत्थ णिमज्जइ” इत्यादि वाक्ये निषेध(धे) विधिः प्रतीयमानः कदाचिदयमन्धकारे मदभ्रान्त्या श्वश्रू प्रति यायाद् इति उत्प्रेक्षमाणायः स्खलितप्रतिविधानरूपं रात्र्यन्धपदाभिधानमपि नयवत्याः वैदग्ध्यं ध्वनति । तच्चाभिधीयमानप्रतीयमानयोः अनु-

(1) यह आनन्दवर्धन की विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है ।

(2) महार्थोपसंहार इस शुद्ध शब्द के लिये भोज का शैव ग्रन्थ तत्त्व प्रकाश 7 और 8 देखिये ।

(3) देखिये ध्वन्यालोक-पृ. 156 ।

स्यूतमेव प्रतीयत इति अनुनादध्वनिः । तथा—“महुएहि किं व पंथग्र” इत्यादी अविधितिषेधे विधिः प्रतीयमानः मधुकापचायिकायाः प्रार्थनावैदग्ध्यं ध्वनति । तच्च प्रतीयमानार्थानुस्यूतमेव अनुनादमिह (मेव) उपलभ्यत इति अनुनादध्वनिः । अपि च “उच्चिरासु पडिअकुसुमं मा धुण सेहालिअ” इत्यादिवाक्ये विधितिषेधयोः निषेधः प्रतीयमानः, स्थलितगोपनेषु सखीवैदग्ध्यं ध्वनति । स च शेफालिकापुष्पापचयव्याजेन पश्चाद्वाटमुपागतायाः हालिकस्तुषायाः तत्रागतेन उपपतिना सह प्रवृत्ते चौर्यरतकलहे कुड्यान्तरितश्वशुराकर्ण्यमानमनोहरवलयशब्दप्रतिषेधपर-तया प्रवर्तमानः स्तुषानुस्यूतमेव शेफालिकाशाखावधूननं सवलयकरावधूननं च कांस्यध्वनिरूपेण अनुनादी ध्वनिं प्रतिपादयन् अनुनादध्वनिव्यपदेशमासादयतीति ।

प्रतिशब्दध्वनिः

यः पुनरभिधीयमानवाक्यार्थात् पृथग्भूत इव गुहादिप्रतिशब्दानुरूपमर्थान्तरं प्रत्याययन् प्रतिध्वनति स प्रतिशब्दध्वनिः । यथा “लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र” इत्यादि (ध्वन्या. पृष्ठे 205) (यथा गुहा)यां पौरुषादिशब्दानां प्रतिशब्दाः जायन्ते, ते च ध्वनिं जनयन्तः उपलभ्यन्ते एवं लावण्यसिन्धुरित्येतस्मिन् पदार्थे उत्प्लादिशब्दानां यथा स्वोपमेयलोचनाद्यर्थ-प्रतिशब्दा जायन्ते ते च अर्थान्तरध्वनिं जनयन्तः उपलभ्यन्ते । तत्र च यथाश्रूयमाणानामुत्प-लादीनामर्थः अभिधीयमानः तस्य लोचनाद्यर्थः सह सादृश्यं प्रत्याययन् वर्णनीयायाः चारुत्वो-त्कर्षप्रतीतिं ध्वनति । ततः पृथगिव उपलभ्यमाना प्रतिशब्दध्वनिः । तथा—

एष्टव्या बहवः पुत्राः यद्येकोऽपि गयां ब्रजेत् ।

यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥ (मनु०)

अत्र बहवः, पुत्रा एष्टव्या इति वाक्यार्थोऽभिधीयमानः पुत्रैः पितृप्रीतये प्रयागगमनादयः कर्तव्या इति प्रत्याययन् पितृणां कामपूरणं परमपुरुषार्थं इति ध्वनति । स च पितृव्यपदेश-परतया प्रवृत्तः पुत्रोद्देशरूपेण तत्प्रवृत्तिषु प्रतिशब्दायमानः पृथगिव उपलभ्यत इति प्रति-शब्दध्वनिः । एवम्—

“कस्स न होइ रोसो”—(देखिये ध्वन्यालोक. पृ० 23)

अत्र सख्युपालम्भार्थोऽभिधीयमानः पत्युः ईर्ष्योपशान्तये भ्रमरेणास्या अधरः खण्डितः नोपपतिना इति प्रत्याययन् स्थलितगोपनेषु सखीवैदग्ध्यं ध्वनति । स च अन्योपदेशपरत्वेन प्रवृत्तः अन्यस्य चेतसि प्रतिफलित इति प्रतिशब्दध्वनिः । एवं “भम धम्मिअ वीसत्थो (देखिये, वही) इत्यादिवाक्ये विधौ निषेधः प्रतीयमानः तस्या नदीकुञ्जके[न] केनचित् सह संके-तार्थं ध्वनति । स वाक्यार्थात् पृथगिव उपलभ्यमानः प्रतिशब्दध्वनिः । “आसाइअं अण्णाएण जत्तिअ” इत्यादिवाक्ये वृषनिवारणपरः निषेधः उपपतिनिवारणं प्रत्याययन् प्रयोक्तुः वैदग्ध्यं ध्वनति । स चान्याभिधानेन अन्यमभिदधत् ततः पृथगिव उपलभ्यमानः प्रतिशब्दध्वनिः । एवम् “गोलाणइकच्छे चक्खन्तो राइआइ पत्ताइ” (गा. स. II. 71) इत्यपि प्रतिशब्द-ध्वनिरिति ।

(1) यह आनन्दवर्धन की अविवक्षितवाच्य ध्वनि है ।

शब्दध्वनिः

ए शब्दध्वनिरपि द्विधैव । तत्र अनुनादरूपो यथा—

भक्तिप्रह्लाय दातुं मुकुलपुटकुटीकोटरक्रोडलीनां
लक्ष्मीमाक्रष्टुकामा इव कमलवनोदघाटनं कुर्वते ये ।

कालाकारान्धकाराननपतितजगत्साध्वसध्वंसकल्याः

कल्याणं वः क्रियासुः किसलयरुचयस्यते करा भास्करस्य ॥

(मयूर सू. श. 2)

अत्र भास्करकराः कस्याणं वः क्रियासुः इति वाक्यार्थः । करशब्दशक्तिस्वाभाव्यात् किसलय रुचय इत्यादिसमस्ततुल्यविशेषणयोगाच्च हस्तेषु अनुनादं जनयन् भगवतः तेजोरूपतां पुरुषरूपतां च ध्वनति । तदुभयमपि तदनुस्यूतमेवेह निरूप्यत इति अनुनादध्वनिः । एवम्—

गर्भेष्वम्भोरुहाणां शिखरिषु च शिताग्रेषु तुल्यं पतन्तः

प्रारम्भे वासरस्य व्युपरतिसमये चैकरूपास्तथैव ।

निष्पर्यायं प्रवृत्ताः त्रिभुवनभवनप्राङ्गणो पान्तु युष्मान्

ऊष्माणं सन्तताध्वश्चमजमिव भृशं विभ्रतो ब्रध्नपादाः ॥ (मयूर, सू. श. 3)

अत्र पादशब्दस्वाभाव्यात् सर्वमपि योजनीयम् । इयांस्तु विशेषः । पूर्वत्र साधर्म्य-द्वारेण इह तु वैधर्म्यद्वारेणेति । अत्र च प्रतिशब्दध्वनिर्यथा—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः

पूर्वाह्ने विप्रकीर्णा दिशिदिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः ।

दीप्तांशोः दीर्घदुःखप्रभवभवमयोदन्वदुत्तारनावो

गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥ (मयूर, सू. श. 9)

अत्र दीप्तांशोर्गावो रश्मयः स्तूयमानाः (गो) शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् तुल्यविशेषण-योगाच्च धेनुषु प्रतिशब्दं जनयन्त्यः तास्वपि विशिष्टं माहात्म्यविशेषं प्रतिध्वनति(न्ति) एवम्—

मीलच्चक्षुर्विजिह्वाश्रुतिजडरसनं विघ्नितघ्राणवृत्ति

स्वव्यापाराक्षमत्वक् परिमुषितमनः श्वासमात्रावशेषम् ।

विस्त्रस्ताङ्गं पतित्वा स्वपदपहरतादश्रियं वोऽर्कजन्मा

कालव्यालावलीढं जगदगद इवोत्थापयन् प्राक्प्रतापः ॥ (मयूर, सू. श. 31)

अत्र अर्कजन्मा प्राक्प्रतापः कालव्यालावलीढं जगत् उत्थापयन् अश्रियं वः अपहरतादिति वाक्यार्थः । अर्कशब्दशक्तिस्वाभाव्यात् तुल्यकर्मक्रियापदादियोगाच्च अर्कवृक्षजन्मा अगदः काल-व्यालदष्टमपि उत्थापयतीति प्रत्याययन् अर्को विषघ्नानां श्रेष्ठ इति प्रतिशब्दरूपं ध्वनिम् उत्थापयति इति । एवं अन्येऽपि महाकविप्रयोगेषु ध्वनिविशेषा गवेषणीयाः । यदुक्तम्—“तात्पर्य-मेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये” इत्यादि । कः पुनः काव्यवचसोः ध्वनित्तात्पर्ययोः विशेषः ? पुरस्तात् (पूर्वाध्यायान्ते) —

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ॥
 वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥
 यदभिप्रायसर्वस्वं वक्तुर्वाक्यात् प्रतीयते ।
 तात्पर्यमर्थधर्मस्तत् शब्दधर्मः पुनर्ध्वनिः ॥
 सोभाग्यमिव तात्पर्यमान्तरो गुण इष्यते ।
 वाग्देवताया लावण्यमिव बाह्यस्तयोर्ध्वनिः ॥
 अदूरविप्रकर्षात्तु द्वयेन द्वयमुच्यते ।
 यथा सुरभिवैशाखौ मधुमाधवसंज्ञया ॥

II

षष्ठ प्रकाश—शृं. प्र., पृ. 425-7

(पहले यह षष्ठ प्रकाश में मिलता है । इसमें स्फोट दर्शन की दृष्टि से ध्वनि के स्वरूप पर विचार किया गया है ।)

ननु च अभिधीयमानतेव प्रतीयमानतापि वाक्यार्थधर्मो विद्यते । यथोच्यते—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ (ध्व. आ., 1. 4)

तस्य च वाक्यार्थभावनोत्तरकालमवगतेः अव्यासपक्षे विवर्तपक्षे वा कथमिव उपपत्तिर्भवति ? उच्य—विपरिणामाद् भविष्यति । वस्तुतोऽपि अवस्थान्तरगमनं विपरिणामः तत्र यथा मृदादयो घटादिरूपेण, क्षीरादयो दध्यादिरूपेण, चैत्रादयो युवादिरूपेण विपरिणामन्ते तथेदं शब्दब्रह्मापि अविद्योपाधेः तेन तेन अर्थरूपेण तथा तथा विपरिणमते । तद्यथा—“सन्ति मे पञ्च पुत्राः, मातरं पितरं शुश्रूषितवानस्मि, योऽहं युवा द्रमिउदेशे द्रमिडकन्याभिस्सह अवसम्, सोऽहमिदानीं पश्चिमे वयसि गङ्गातीरे तपश्चरामि” इति । अत्र च शब्दार्थयोः पृथगवभासाद् वाक्यार्थस्य अभिधीयमानतायां प्रतीयमानतायां वा न अनुपपत्तिः । न च एतावता शब्दव्यापारो विरंस्यति । यतः तात्पर्यमस्य हि अग्रतो विशेषेण वक्ष्यमाणमास्ते तस्योदाहरणमात्रम्—

(1) भोज के स. क. आ. (1-43 पृ. 30) की व्याख्या में रत्नेश्वर ने यह श्लोक उद्धृत किया है । उन्होंने द्वितीय पंक्ति का पाठ भिन्न प्रकार से दिया है । जिसमें अर्थवाद के स्थान पर अनुराग और स्मृति के स्थान पर श्रुति शब्द आया है—“वक्रं यदनुरागादौ तत्काव्यमिति श्रुतिः ।”

1 प्राप्ताश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्यखेदं विदध्यात्
निद्रामप्यस्य पूर्वमिनलसमनसो नैव संभावयामि ।

सेतुं बध्नाति कस्मादयमिह सकलद्वीपनाथानुयातः

त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभति कं पयोधेः ॥

अत्र वर्णनीयराजविशेषस्य विजयिनः यथाश्रुतवाक्यार्थः अभिधीयमानः त्वयीति पदे विष्णवध्यासावतारः स प(त्वम)सीति प्रतीयमानः तदवतारान्तराणां निद्रालसत्वादिदोषयोगाद् अस्य च तद्वधुदासात् ततो वैशिष्ट्यप्रतिपादनं तात्पर्यम्, यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः । तदुक्तम् 2 —

तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये

सौभाग्यमेव गुणसंपदि वल्लभस्य ।

लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः

शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य ॥ 3

कः पुनः काव्यवचसोः ध्वनितात्पर्ययोः विशेषः ? उच्यते—

यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।

वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥

यदभिप्रायसर्वस्वं वक्तुं वाक्यात् प्रतीयते ।

तात्पर्यमर्थधर्मस्तत् शब्दधर्मः पुनर्ध्वनिः ॥

सौभाग्यमिव तात्पर्यमान्तरो गुण इष्यते ।

वाग्देवताया लावण्यमिव बाह्यस्तयोर्ध्वनिः ॥

अदूरविप्रकर्षात् द्वयेन द्वयमुच्यते ।

यथा सुरभिवैशाखौ मधुमाधवसंज्ञया ॥

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में तात्पर्य और ध्वनि का विवेचन ।

प्रागुक्तयुक्तिभिः वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद् व्यपदिश्यते । यत्र च प्राधान्येन 5 अवस्थानं तत्र वाच्यता 6; तयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः । तत्परत्वाद् वाचकत्वस्य । अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः । किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया । तस्मात् तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः । या त्वन्तरा तथा-विधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः, सा तत्प्रतीतेरूपायमात्रम्, पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतिः ।

(1) आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक के पृ. 109 पर उद्धृत

(2) भोजनैव

(3) शृं. प्र. के प्रथम प्रकाश के प्रारम्भिक श्लोकों में से उद्धृत ।

(4) ऊपर दिया हुआ पाठ प्रोफेसर म. म. कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा संशोधित है । पाद टिप्पणी में निर्णयसागर संस्करण (1928) के अशुद्ध पाठ दे दिये गये हैं ।

(5) अनवस्थानम् ।

(6) वाच्यतयैवासौ ।

अत्रोच्यते—यत्र शब्दः स्वार्थमभिधानः अर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं, यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वम्, तयोरविशेषो विशेषो वा ? न तावदविशेषः । यस्मात् तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयी भिन्नरूपौ च प्रतीयते एव । तथा हि—वाचकत्वलक्षणो व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः, गमकत्वलक्षणस्तदर्थान्तरविषयः । ततः स्वपरव्याहारो वाच्यगम्ययोरपह्नोतुमशक्यः, एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन । वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य सम्बन्धी, तदितरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धिसम्बन्धी । यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात् तदर्थान्तरव्यवहार एव न स्यात् । तस्माद् विषयभेदस्तावत् तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः । रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव । न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः । अवाचकस्यापि गीतशब्दादेः रसादिलक्षणार्थावगमनदर्शनात् । अशब्दस्यापि चेष्टादेः अर्थविशेषः प्रकाशनप्रसिद्धः । तथा हि “त्रोडायोगान्नतवदनया” इत्यादि श्लोके चेष्टाविशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव । तस्माद् भिन्नविषयत्वाद् भिन्नरूपत्वाच्च स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य² यत्, तयोः स्पष्ट एव भेदः । विशेषश्चेत्³ न तर्हि इदानीम्⁴ अवगमनीयस्य अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्य वाच्यत्वव्यपदेश्यता । शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्य अस्माभिरिष्यत एव । तत्तु व्यङ्ग्यत्वेनैव, न वाच्यत्वेन । प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य च प्रतीतेः⁵ शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं, तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता ।

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः । यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति⁶ कैश्चिद्विद्वद्भिरास्थितम् । यैरप्यसत्यत्वमस्या नाम्युपेते तैर्विक्यार्थपदार्थयोः घटतदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः, यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भः, तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम् । तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत् । न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोन्यायः । न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति । वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात् । तस्मात् घटप्रदीपन्यायस्तयोः । यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते, तद्वद् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः । यत्तु प्रथमोद्योते “यथा पदार्थद्वारेण” इत्याद्युक्तं तदुपायत्वसाम्यमात्रस्य विवक्षया । न त्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वा वाक्यस्य प्राप्तम् । तद्भावे च वाक्यतैव विघटते । तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात् । नैष दोषः । गुणप्रदानभावेन तयोर्व्यवस्थानात् । व्यङ्ग्यस्य हि कश्चित् प्राधान्यं, वाच्यस्य उपसर्जनभावः, कश्चित् वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य च गुणभावः । तत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव । वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निर्देक्ष्यते । तस्मात् स्थितमेतत्—व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्ग्यस्य अभिधेयत्वम्, अपि तु व्यङ्ग्यत्वमेव । किञ्च व्यङ्ग्यस्य प्रधान्येन अविवक्षायां वाच्यत्वं तावद् भवद्भिः नाम्युपगन्तव्यम् । अतएव तावत् शब्दस्य । तदस्ति तावत् व्यङ्ग्यः शब्दानां कश्चिद्विषय इति यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपहन्यते । एवं तावद् वाचकत्वाद् अन्यदेव व्यञ्जकत्वम् ।

इतश्च वाचकत्वाद् व्यञ्जकत्वस्य अन्यत्वं, यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च । शब्दार्थयोः द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ॥

(1) अर्थाविशेष (2) पूर्णविराम (3) चेन्न (4) अवगमनस्य (5) पूर्णविराम (6) अस्त्येवेति ।

ध्वनि और तात्पर्य के विषय में दशरूपक और दशरूपकावलोक

(चतुर्थ प्रकाश पृ. 119-121)

[निरणयसागर प्रेस संस्करण के पाठ में बहुत-सी अशुद्धियां हैं। यहाँ प्रो. म. म. कुप्पु-स्वामी शास्त्री द्वारा संशोधित पाठ संशोधनों सहित दिया गया है। पाद टिप्पणी में अशुद्ध पाठ दे दिये गये हैं।]

नापि वाक्यार्थत्वं व्यङ्ग्यस्य तृतीयकक्षाविषयत्वात्। तथा हि—‘भ्रम धार्मिक’ इत्यादी पदार्थविषयाभिधालक्षणप्रथमकक्षातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षाति-क्रान्ततृतीयकक्षाक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थः व्यञ्जकशक्त्यधीनः स्फुटमेवावभासते। अतो नासौ वाक्यार्थः। ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु ‘विषं भुंक्ष्व’ इत्यादि-वाक्येषु प्रतीयत एव वाक्यार्थे¹। न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते, तात्पर्यादिनन्य-त्वाद्² ध्वनेः। तन्न³। 3 स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात्⁴ सैव निषेधकक्षा तत्र द्वितीयकक्षा; विधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः; प्रकरणात् पितरि वक्तुरि पुत्रस्य विषमक्ष-णनियोगाभावात्। रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात्।

तदुक्तम्—

‘अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थं यत्परतामिदम्।

वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परतास्य सा ॥

यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम्।

तत्प्रसर्पति तत्र स्यात् सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः ॥’

अत्रोच्यते—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।

वाक्यार्थः कारकैर्युक्तः स्थायीभावस्तथेतरेः ॥ (दशरूपक)

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु ‘गामम्याज’ इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियेषु च ‘द्वारं द्वारम्’ इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात् प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थः, तथा काव्येष्वपि स्वशब्दोपादानात् कचित् ‘प्रीत्यै नवोढा प्रिया’ इत्येवमादौ, कचिच्च प्रकरणादिवशात् नियतविहित⁵ विभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानः रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिः तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परां⁶ प्रौढिमानीयमानः रत्यादिवाक्यार्थः। न चापदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्। कार्यपर्यव-सायित्वात् तात्पर्यशक्तेः। तथा हि पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्⁷, अतत्परत्वेऽनुपादे-यत्वाद्, उन्मत्तादिवाक्यवत्⁸। काव्यशब्दानां च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्य-तिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वादो⁹द्भूतिरेव कार्यत्वेन अवधार्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एव अवगम्यते। अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिः तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वादा¹⁰पेक्षितावान्तरविभावादि-प्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते। तदेतद् विभावादयः पदार्थस्थानीयाः, तत्संसृष्टो

(1) वाक्यार्थः (2) अन्यत्वात् (3) तत्र (4) यहाँ पूर्णविराम अशुद्ध है। वाक्य की समाप्ति द्वितीयकक्षा पर होती है (5) अविहित (6) परम् (7) पूर्णविराम (8) पूर्ण विराम नहीं (9) स्वानन्द (10) स्वार्थ

रत्यादिवक्त्यर्थः, तदेतत् काव्यवाक्यम्, यदीयो! ताविमौ पदार्थवाक्याथौ । न चैवं सति गीतादिवद् वाच्यवाचकभावानुपयोगः, 2 विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादि-भावनावतामेव स्वादोद्भूतेः 3 । तदनेन अतिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः । ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः । यदवो-चाम काव्यनिर्णये—

तात्पर्यानितिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य, न ध्वनिः ।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥
विषं भक्षय 4 वाक्ये यच्चैवं पितृसुतादिषु ।
5 प्रयुज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥
ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तो; तन्न, विश्रान्त्यसम्भवात् ॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम् 6 ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥
भ्रम धार्मिक विश्रब्धम् इति भ्रमिकृतास्पदम् 7 ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेः 8 अविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता 9 ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यम् अतः काव्यस्य युज्यते ॥ इति ।

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यञ्ज्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि ? भाव्यभावकसम्बन्धः । काव्यं हि भावकम्, भाव्या रसादयः । ते हि स्वतोऽभ्यन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादि-मता काव्येन भाव्यन्ते । 11 न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्दे-ष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रियावादिभिः तथाङ्गीकृतत्वात् । किञ्च मा चान्यत्र तथास्तु 12 अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात् ।

तदुक्तम्—

भावाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावाः विज्ञेया नाट्योक्तृभिः ॥' ना. शा. 7. 4.

इति । कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् लोके तथाविधचेष्टा-युक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविना भावदर्शनात् इहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादि-प्रतिपादकशब्दश्रवणाद् अभिधेयाविनाभावेन 13 लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथा अग्रे वक्ष्यामः ॥



1. यदीयम् 2. पूर्णविराम 3. पूर्ण विराम नहीं । 4. पूर्वो यच्चैवं परसुतादिषु.
5. प्रसङ्गते 6. किं कृतम्. 7. आस्पदे 8. विवक्षितप्राप्तेः 9. विवक्षा परतन्त्रता
10. भवन्तः 11. पूर्ण विराम नहीं 12. पूर्ण विराम नहीं 13. अभिधेया विनाभावेन.

त्रयोदश परिच्छेद

भोज और औचित्य

भोज ने औचित्य विषयक मान्यता पर कहीं पृथक् विचार नहीं किया है। उन्होंने इसका उल्लेख काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख विषय के रूप में भी नहीं किया। फिर भी वे इस विषय में मौन नहीं हैं। उनकी रचनाओं में जहाँ तहाँ औचित्य शब्द आया है। जिसके भीतर अन्य अनेक अर्थ निहित हैं। मैंने इस बात¹ की ओर संकेत किया है कि काव्यशास्त्र द्वारा औचित्य की चर्चा किये जाने के बहुत पूर्व उससे सम्बन्धित व्याकरण तन्त्र में औचित्य की चर्चा मिलती है। किसी विशिष्ट संदर्भ में अनेकार्थक वाचक शब्द के निश्चित अर्थ का निर्धारण औचित्य के आधार पर किया जाता था। वाक्यपदीय (2-316) में भर्तृहरि ने औचित्य को शब्दार्थ प्रविभाजकों में से एक माना है। इसी सम्बन्ध में भोज ने शृ. प्र. (जिल्द 2 पृ. 30) के सप्तम प्रकाश में विवक्षा का विवेचन करते हुए औचित्य का उल्लेख किया है। और यही औचित्य शृ. प्र. के पच्चीसवें प्रकाश (जिल्द 4 पृ. 463) में शब्दार्थ के निर्णायक के रूप में फिर से आया है। शृ. प्र. के ग्यारहवें प्रकाश में अपने इस महाकाय ग्रन्थ को साहित्यप्रकाश की संज्ञा देते हुए कहा है कि इसमें अन्य बातों के साथ साथ औचित्य का सन्निवेश है। (जिल्द 2 पृ. 430)

“एतस्मिन् शृङ्गारप्रकाशे सुप्रकाशमेव अशेषशास्त्रार्थसंपदुयनिषदाम् अखिलकला-
काव्यऔचित्यकल्पनारहस्यानां च सन्निवेशो दृश्यते।”
—जिल्द 2, पृ. 430।

फिर भी यहाँ यह शब्द सामान्य अर्थ में लिया जाना चाहिए कि शृ. प्र. के पाठक को प्राप्त होने वाले अन्य फलों के साथ औचित्य का ज्ञान भी प्राप्त होगा। यह औचित्य तो किसी भी ग्रन्थ, विशेषतः साहित्य, काव्यशास्त्र एवं साहित्य समीक्षा के ग्रन्थ में सन्निविष्ट रहता है। काव्यशास्त्र के विशिष्ट प्रसंगों में भी भोज ने एकाधिक बार औचित्य की चर्चा की है उन्होंने अनुभव किया कि यह अत्यन्त व्यापक और लचीला सिद्धान्त है जो कलाकृति के प्रत्येक भाग से सम्बन्धित होता है। रस और इतिवृत्त के प्रधान और प्रमुख औचित्य होते हैं। तथा गुणों, अलंकारों, रीति और छन्द आदि के सहायक एवं गौण औचित्य।

(1) हमें पहले पहल भोज के दोष प्रकरण में अपद नामक वाक्यदोष के प्रसंग में औचित्य के दर्शन होते हैं। अनुपयुक्त पदावलि का प्रयोग अपद कहलाता है। शब्द की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता की परीक्षा वक्ता की प्रकृति के संदर्भ में होती है। ग्राम्यवक्ता का वार्तालाप इसी ढंग से प्रस्तुत किया जाना चाहिये जैसा वह दैनन्दिन व्यवहार में बोलता है। वह

1. मेरे अड्यार लायब्रेरी सीरीज में प्रकाशित सम कनसैप्ट्स के अन्तर्गत हिस्ट्री ऑफ औचित्य का परिच्छेद देखिए।

गवारुं और भद्दी उक्तियों का प्रयोग करता है । संस्कृत नागरिक को परिष्कृत भाषा बोलते हुये दिखाना चाहिये । यह औचित्य के एक प्रकार पर बल है ।

अपद के विशद विवेचन के लिए दोष प्रकरण देखिये । साथ ही स. क. आ. 1 पृ. 19-20 का भी अवलोकन कीजिये ।

अरस्तू ने पद के इस औचित्य अर्थात् शब्दावलि के प्रयोग की उपयुक्तता पर अपने काव्यशास्त्र में विचार किया है । उसका कहना है कि यदि कोई व्यक्ति स्वभाव के उपयुक्त भाषा में अपनी बात कहता है तो वह विशिष्ट होने का प्रभाव उत्पन्न करेगा क्योंकि गंवार और सुशिक्षित व्यक्ति अपनी बात एक जैसे शब्दों में या एक ही ढंग से नहीं कहेंगे । (मेरे लोकधर्मी विषयक लेख-J. O. R. मद्रास, जिल्द 8, पृ. 71 के आधार पर राजशेखर-का. मी. पृ. 30-31 से तुलना कीजिए)

(2) रुद्रट से लिये हुए विरस नामक वाक्यार्थदोष के प्रसंग में भोज ने अप्रस्तुत रस की चर्चा की है । यह रसानौचित्य का एक प्रकार है । स. क. आ. 1-50 पृ. 35 । यहाँ पर रत्नेश्वर ने औचित्य और अनौचित्य विषयक आनन्दवर्धन की कारिका “अनौचित्यादृते नान्यद्” आदि उद्धृत की है । रत्नेश्वर ने यह भी संकेत किया है कि हीन, अधिक और असदृश उपमाएं अनौचित्य के ही भेद हैं ।

(3) विरुद्ध, लोक विरुद्ध एवं कालविरुद्धादि दोष (स० क० अ० 1-54 से 57 पृ. 38-42) भी औचित्य पर ही आधारित हैं । वस्तुगत और अर्थगत विविध अनौचित्यों का ही यह निश्चित और विशिष्टीकृत नाम है । 1-56 में अनुमान विरोध की व्याख्या करते हुए भोज ने औचित्य एवम् उसके प्राणभूत औचित्य-विरुद्ध का उल्लेख किया है ।

युक्त्यौचित्यप्रतिज्ञादिकृतो यस्त्विह कश्चन ।

अनुमानविरोधस्य कविमुख्यैर्निगद्यते । 1-56 ।

और उन्होंने औचित्य-विरुद्ध का उदाहरण इस प्रकार दिया है । औचित्यविरुद्धं यथा—(छाया)

पट्टांशुकोत्तरीयेण पामरः पामर्याः प्रोञ्छति ।

अतिगुरुकूर कुम्भीभरेण स्वेदाद्रितं वदनम् ॥

अत्र पामरस्य पट्टांशुकोत्तरीयाभरणानौचित्यादनीचित्यविरुद्धमिदम् ।

स० क० आ० 1 पृ० 40 ।

किन्तु पामरौचित्यप्रतिसंधाने पट्टांशुकाऽवगुण्ठनमनुचितम् । विदग्धनेपथ्यपरिग्रहादि-नागरवृत्तापरिचय एव पामरत्वम् । उपर्युक्त पर रत्नेश्वर की टीका ।

यहाँ पर अर्थ के औचित्यानीचित्य का विषय बिलकुल स्पष्ट है पामर को नागरिक के समान पट्टांशुक धारण किये हुए कैसे वर्णित किया जा सकता है ?

(4) इसी प्रकार का अर्थौचित्यानीचित्य का उदाहरण भोज के भाविक नामक शब्द-गुण के प्रसंग में मिलता है । जहाँ एक अग्रज स्नेहातिरेक के कारण आचार की सीमा पार करके अनुज के पैरों पर झुक जाता है । स० क० आ० 1 पृ० 58 ।

अत्र हर्षवशादनीचित्येनापि “वन्देऽयं चरणपुष्करकद्वयम्” इत्यादीनामुक्तत्वाद् भाविकत्वम् ।

यदि औचित्य सिद्धान्त को व्यापक परिवेश में ग्रहण करें तो यहाँ पर अनौचित्य गुण या औचित्य बन जाता है ।

इस प्रसंग में व्यापक औचित्य का समावेश है जो अनौचित्य को औचित्य बना देता है । यह रसावेश और रसौचित्य का उदाहरण है ।

(5) उपर्युक्त औचित्य जिसमें दोष गुणों में परिवर्तित हो जाते हैं भोज के गुण प्रकरण के अन्तिम भाग का मूल आधार है । यहाँ भोज ने बतलाया है कि किस तरह विभिन्न परिस्थितियों के कारण दोष गुणों में परिवर्तित होकर वैशेषिकगुण या दोषगुण कहलाते हैं ।

मेरे “सम कनसेप्टस्” नामक ऊपर उल्लिखित ग्रन्थ में औचित्य विषयक अध्याय और स० क० आ० के पृ० 74 से 120 तक विशेषतः पृ० 118 देखिये । भोज ने स्पष्टतया औचित्य सिद्धान्त की चर्चा की है जिसमें कहीं-कहीं अनौचित्य भी औचित्य में परिवर्तित हो जाता है ।

“अत्र स्त्रीत्वाद् औचित्यविरोधेऽपि तत्समयोचितत्वाद् गुणत्वम् ।”

भोज के अलंकार-खण्ड में औचित्य

(6) (क) अपद नामक पददोष के अन्तर्गत इस बात पर दृष्टि गई है । यह एक प्रकार का भाषा औचित्य या उपयुक्त पदावली का औचित्य है । भोज ने अपने शब्दालंकारों का प्रारम्भ जाति नामक अलंकार से किया है । जाति क्या है ? और यह अलंकार, शब्दालंकार किस प्रकार है ? जाति भाषा के विभिन्न प्रकारों की होती है जैसे संस्कृत, विभिन्न प्राकृते तथा अपभ्रंश । यद्यपि भाषा स्वयं अलंकार नहीं है फिर भी कथावस्तु के अनुकूल भाषा का चयन अलंकार माना जाता है क्योंकि यह काव्य सौन्दर्य का एक तत्त्व है । इसे भाषौचित्य कहते हैं । कुछ बातें संस्कृत में और कुछ प्राकृत में कही जाने पर अच्छी लगती हैं । भोज का कथन है—

संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव वाऽपरः ।

शक्यो रचयितुं कश्चिद् अपभ्रंशेन जायते ॥

स० क० आ० पृ० 122 ।

भाषा का बुद्धिमत्तापूर्ण चुनाव और प्रयोग औचित्य है जिसे भोज ने जाति नामक शब्दालंकार कहा है । इसमें निहित औचित्य सिद्धान्त की ओर भोज ने संकेत किया है ।

तत्र संस्कृतमित्यादिः भारती जातिरिष्यते ।

सात्वौचित्यादिभिः वाचामलंकाराय कल्पते ॥

2-6 पृ० 121 ।

रत्नेश्वर ने इसकी निम्न व्याख्या की है ।

“ननु अवश्यं शब्देन संस्कृताद्यन्यतमेन भवितव्यम् । तत्कोऽत्र कवेः शक्तिव्युत्पत्त्योरंशः, येन अलंकारता स्यात्, इत्यत आह—सेति । औचित्याकृष्ट एव अलंकारः । अस्ति च संस्कृतादेरपि तथाभावः इति भावः” पृ० 121 ।

इसके पश्चात् जाति-विषयक अग्रिम कारिका की रत्नेश्वर कृत अवतारिका के अनुसार भोज औचित्य, विषयौचित्य, वक्त्रीचित्य, वाच्यौचित्य, एवं देशौचित्य आदि का सामान्य निदर्शन करते हैं। जब कवि किसी नाटक में स्त्रियों तथा नीच पात्रों के लिये प्राकृत का उपयोग करता है तो भोज की योजना के अनुसार वे उसे जाति शब्दालंकार का विषय मानेंगे। यह वक्तृऔचित्य है। भरत के नाट्यशास्त्र में इस भाषौचित्य का विवेचन भाषा-विधान नामक अठारहवें अध्याय में हुआ है। देशौचित्य के विषय में भरत कहते हैं कि रूपक में बहुत सी भाषाएँ हो सकती हैं क्योंकि उसके पात्र अनेकों देशों एवं जनपदों के होते हैं।

अथवा छन्दतः कार्या देशभाषाः प्रयोक्तृभिः।

नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके ॥

नाट्यशास्त्र 18-34।

(ख) शृं. प्र. के ग्यारहवें प्रकाश में भोज ने इस भाषौचित्य पर फिर जोर दिया है। यहाँ उन्होंने इसे समग्र प्रबन्ध का उभयगुण माना है और इसे पात्रानुरूप-भाषात्व की संज्ञा दी है। “पात्रानुरूप-भाषात्वम् इत्यनेन उत्तमपात्राणि संस्कृतेन उत्तमाधराणि प्राकृतेन ++ आदि।”

शृं. प्र. जिल्द 2 पृ. 432। मद्रास पाण्डुलिपि

(निम्नलिखित अलंकार और गुण प्रकाशों के अनुसार)

7 (क) भोज ने जिस दूसरे गति नामक शब्दालंकार का उल्लेख किया है वह पद्यगद्य या मिश्रित चम्पू शैली अथवा छन्दोविशेष के प्रयोग के औचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किसी विशेष अर्थ को पद्यरूप में व्यक्त करना सर्वोत्तम होगा और दूसरे अर्थ को गद्यरूप में। यह निश्चय करना स्वयं एक अलंकार है। स्वरूप का यह औचित्य गत्यौचित्य कहलाता है। भोज ने स्वयं कहा है कि इसमें मुख्य नियन्त्रक तत्त्व अर्थौचित्य है।

पद्यं गद्यं च मिश्रं च काव्यं यत् सा गतिः स्मृता।

अर्थौचित्यादिभिः सापि वागलंकार इष्यते ॥ 2-18 तथा

यथामति यथाशक्ति यथौचित्यं यथारुचि।

कवेः पात्रस्य चैतस्याः प्रयोग उपपद्यते ॥ 2-21 ॥

(ख) छन्दोरूप के चयन के पश्चात् कवि अपने अर्थ के अनुकूल छन्द का चुनाव करता है। इस छन्दोचयन को वृत्तौचित्य कहते हैं। शृं. प्र. के ग्यारहवें प्रकाश में भोज ने कहा है कि अर्थानुरूप छन्द समग्र प्रबन्ध का उभयगुण होता है।

“अर्थानुरूपछन्दस्त्वम्” इत्यनेन शृङ्गारे द्रुतविलम्बितादयः, वीरे वसन्ततिलकादयः करुणे वृतालीयादयः रीद्रे स्रग्धरादयः, सर्वत्र शार्दूलविक्रीडितादयः निबन्धनीयाः इत्युपदिशति।” जिल्द 2 पृष्ठ 432।

भोज ने इन सबका संबंध रस से जोड़ा है। उन्होंने यह अनुभव किया कि किसी वस्तु के औचित्य की अन्तिम जाँच रस से होती है। चाहे वह औचित्य शब्द द्वारा हो या अर्थ द्वारा क्योंकि समस्त गुण अलंकार और दोषहान का लक्ष्य रसावियोग ही होता है। आगे चलकर महिमभट्ट की तरह भोज ने भी (देखिये आगे भोज और महिमभट्ट विषयक परिच्छेद) समस्त दोषों को अनौचित्य का ही एक रूप बतलाया है। शृं. प्र. के एकादश

प्रकाश में भोज ने कहा है कि समग्र प्रबन्ध में रसावियोग की प्राप्ति दोषहान, गुणादान और अलंकारों से होती है और जिस प्रकार वाक्य में दोष, गुण और अलंकार होते हैं उसी प्रकार वे प्रबन्ध में भी रहते हैं। भोज ने एक रूपक को आधार मानकर उसमें प्रबन्ध दोषों के हान के उदाहरण दिये हैं। हो सकता है कि कथानक की प्रत्येक घटना सुसंबद्ध न हो और उसमें एकताओं की गठन न मिले। कवि कथानक को लेकर उसमें से कुछ अंश निकाल देता है और अपने उद्देश्य को पूर्ति के लिये कथावस्तु को नया रूप दे देता है। भोज के मत से अनावश्यक का त्याग और कथावस्तु का नवीनीकरण प्रबन्ध-दोषहान अथवा अनौचित्य-परिहार है। तथा वस्तु में अनौचित्य के परिहार द्वारा औचित्य की प्राप्ति होती है। “तत्र (प्रबन्धे) दोषहानम् अनौचित्यादिपरिहारेण। यथा माया-कैकेयी-दशरथाभ्यां रामः प्रवासितः न मातापितृभ्यामिति निर्दोषदशरथे (बालरामायणे)।” आदि आदि।

शृ. प्र. जिल्द 2 पृ. 410 मद्रास पाण्डुलिपि

(देखिये मेरे “सम कान्सेप्ट्स” में औचित्य परिच्छेद, और इस ग्रन्थ में भोज और महिमभट्ट विषयक अंश, भोज और कुन्तक विषयक परिच्छेद और वक्रोक्ति परिच्छेद)

इस संबन्ध में भोज ने अपने रामाभ्युदय (जो अब अप्राप्य है) की प्रस्तावना में यशो-वर्मन् का एक श्लोक उद्धृत किया है।

“औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता

पुष्टिः सावसरे रसस्य—” शृ. प्र. जिल्द 2 पृ. 411 मद्रास संस्करण।



चतुर्दश परिच्छेद रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति

रीति¹

भोज ने रीति के विषय में तीन बार विचार किया है। पहले दोष प्रकरण में अरीति-भत् दोष के अन्तर्गत फिर अलंकार प्रकरण में शब्दालंकार के रूप में और अन्ततः अलंकार प्रकरण में तीन बुद्धचारम्भ अनुभावों में से एक अनुभाव के रूप में। वृत्ति के समान रीति भी शब्दालंकार के रूप में छै प्रकार की होती है किन्तु अनुभाव के रूप में वह चार प्रकार की होती है। शब्दालंकार के रूप में भोज ने इसके छै भेद केवल संख्या की समानता बनाए रखने के लिये किये हैं। भोज ने रीति, पथ और मार्ग इन तीनों नामों का व्यवहार किया है। जिनमें से दो पर्यायवाची हैं। भोज ने रीति शब्द की व्युत्पत्ति “रिङ् गतौ” धातु से की है और इस प्रकार इसे पन्थ और मार्ग नामों से संबद्ध किया है। उन्होंने वामन की तीन रीतियों में अपनी ओर से तीन और जोड़ दी हैं। वामन ने केवल वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडीय का उल्लेख किया है। भोज ने आवन्ती और मागधी ये दो अपनी ओर से जोड़ी हैं। और तीसरी लाटीया भी, जिसका प्रथम बार उल्लेख रुद्रट ने किया था, उनमें सम्मिलित कर दी है। इस प्रकार आवन्ती और मागधी ये भोज की उपज हैं। वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली (स.क.आ. 2-29 से 31 से पृ. 134) को परिभाषित करने वाले तीन श्लोक भोज ने वामन से उद्धृत किये हैं। उन्होंने लाटीया रीति रुद्रट से उधार तो ली है किन्तु उनकी परिभाषा की परित्याग कर दिया है। रुद्रट ने अन्य रीतियों के समान लाटीया की परिभाषा भी एक समस्त पद के अन्तर्गत आए हुए शब्दों के आधार पर की है। (काव्यालंकार 2-5) किन्तु भोज ने मनमाने ढंग से कह दिया है कि लाटीया समस्त रीतियों का मिश्रण है। “समस्त रीतिर्व्या (व्या)मिश्रा लाटीयारीतिरुच्यते”।

(स. क. आ. पृ. 134)

“मिश्ररीतिलाटीया।” शृं. प्र. जिल्द 2, पृ. 270

स. क. आ. ने पाञ्चाली और वैदर्भी की मध्यगत शैली को आवन्तिका कहा है जिसके एक समस्त पद में दो से तीन या तीन से चार तक शब्द रहते हैं किन्तु उन्होंने ही शृं. प्र. में दूसरा मत व्यक्त करते हुए कहा कि वस्तुतः आवन्तिका कोई एक रीति नहीं है। अपितु वह समस्त रीतियों की मध्यवर्तिनी है। — वैदर्भादीनामन्तरालरीतिरावन्तिका।”

1 मेरे अडचार लायब्रेरी सीरीज में प्रकाशित सम कनसेप्ट्स का रीति विषयक परिच्छेद भी देखिये।

स. क. आ. और शृं. प्र. दोनों में मागधी को एक रीति से प्रारम्भ होकर अन्य रीति में समाप्त होने वाली खण्डरीति बतलाया है। भोज ने जहाँ स. क. आ. में वैदर्भी पाञ्चाली और गौडीया रीतियों की परिभाषा के विषय में वामन का अनुसरण किया है वहाँ शृ. प्र. में इसी संदर्भ के अन्तर्गत रीति शब्दालंकारों के विषय में रुद्रट की परिभाषा को स्वीकार करने का रुख अपनाया है। रुद्रट ने रीतियों की परिभाषा केवल एक ही तत्त्व समास के आधार पर की है। उन्होंने “असमस्ता पदावली” को वैदर्भी नाम दिया है। और अन्य तीन रीतियों की परिभाषा समता पदावली में समस्त पदों की शब्दसंख्या के आधार पर दी है। इसमें सन्देह नहीं कि वामन ने तीनों रीतियों के विवेचन में समास को भी एक निर्णायक तत्त्व माना है किन्तु केवल समास के आधार पर रीतियों की परिभाषा रुद्रट को छोड़कर और किसी ने नहीं दी। वामन ने वैदर्भी को समस्त गुणों अर्थात् गुण सामग्रय से युक्त बतलाया है। और पाञ्चाली को माधुर्य और सौकुमार्य से पूर्ण तथा ओजस् और कान्ति से रहित बतलाया है। उनके मत में ओजस् और कान्ति का प्राचुर्य गौडीया की विशेषता है। (देखिये वामन का० अ० सूत्र और वृत्ति 1-2 पृ. 17 से 21 वाणीविलास सं. और तुलना कीजिये स. क. आ. पृ. 134)

फिर भी भोज ने शृं. प्र. में वामन की परिभाषाओं का परित्याग कर रुद्रट की निम्नोक्त परिभाषा का परिग्रहण किया—

असमस्तपदा वैदर्भी । समस्तपञ्चशपदापाञ्चाली यथाशक्ति समस्तपदा गौडीया ।
वैदर्भादीनामन्तरालरीतिरावन्तिका । शृ. प्र. जिल्द 2 पृ. 269 ।

तुलना कीजिये—रुद्रट— वृत्तेरसमासा या वैदर्भीरीतिरेकैव । काव्या. 2-6

द्वित्रिपदा पाञ्चाली । लाटीया पञ्च सप्त वा यावत् । यथाशक्ति गौडीया । का.अ. 2-5

यहाँ भी भोज केवल वैदर्भी पाञ्चाली और गौडीया के विषय में ही रुद्रट से सहमत हैं। उन्होंने लाटीया की अपनी निजी परिभाषा दी है—

दण्डी द्वारा विवेचित रीति को भोज ने अरीतिमत् दोष की चर्चा करते हुए (दोष प्रकरण में) स्वीकार किया है। (स. क. आ. पृ. 24-30) मैंने इस विषय में दोष और गुण संबन्धी परिच्छेदों में अधिक विस्तार से लिखा है। भोज के लिये यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि वे अपने एक ही विषय के लेखों में भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी लेखकों का अनुसरण भिन्न भिन्न स्थानों पर करते हैं। वे दोष प्रकरण में दण्डी की रीति विषयक मान्यता के अनुगामी हैं। तो स. क. आ. के शब्दालंकार प्रकरण में एक सीमा तक वामन के, शृं. प्र. में इसी विषय पर रुद्रट के और शृं. प्र. के सत्रहवें प्रकाश में जहाँ उन्होंने 1 वृत्ति और प्रवृत्ति के साथ साथ रीतियों को भी बुद्धिचारम्भानुभाव कहा है, वे राजशेखर के रीतिमत के अनुसर्त्ता के रूप में देखे जा सकते हैं। शृं. प्र. के सत्रहवें प्रकाश में राजशेखर के समान रीतियों की चर्चा वृत्तियों और प्रवृत्तियों के साथ मिलती है। राजशेखर ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा है कि वे रीतियों का वर्णन एक स्वतंत्र अधिकरण में करेंगे। “रीतिनिर्णयं

1 इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली दशम अंक पृ. 767-779 में मेरा रीति एण्ड गुण इन दी अग्निपुराण शीर्षक लेख तथा मेरे सम कान्सेप्ट्स के पृ. 179 से 181 देखिये।

सुवर्णनाभः” और “वृत्तिरीतिस्वरूपं यथाऽवसरं वक्ष्यामः।” (पृ. 8) “रीतयस्तु तिस्रः तास्तु पुरस्तात्” (पृ. 10 का. मी.) । किन्तु यह रीति विषयक अधिकरण नष्ट हो गया है । फिर भी उपलब्ध भाग अर्थात् काव्य पुरुषोत्पत्ति संबन्धी कविरहस्य खण्ड के तृतीय उपविभाग में राजशेखर की रीतिविषयक धारणा एवं परिभाषा का पता चलता है । राजशेखर ने वामनोक्त तीन रीतियों को ही स्वीकार किया है । और इसलिये उन्हें चार वृत्तियों और चार प्रवृत्तियों के साथ तीन रीतियों का समन्वय बैठाने में कठिनता हुई । भोज ने लाटीया नामक चौथी रीति को स्वीकार कर इस कठिनाई को दूर कर लिया । भोज ने निम्न ढंग से साम्य बैठाया है—

वृत्ति	प्रवृत्ति	रीति
भारती	पौरस्त्या	पाञ्चाली
आरभटी	औढूमागधी	गौडी
कैशिकी	दाक्षिणात्या	वैदर्भी
सात्त्वती	आवन्त्या	लाटीया

देखिये जरनल ऑफ रि. मद्रास, जिल्द 7 पृ. 52 वृत्तियों पर मेरा लेख

काव्यमीमांसा में ये भेद निम्न प्रकार से मिलते हैं । (काव्यमीमांसा पृ. 8-9)

भारती	औढूमागधी	गौडीया
सात्त्वती और आरभटी	पाञ्चाली या पाञ्चाल मध्यमा	पाञ्चाली
सात्त्वती और कैशिकी	आवन्ती	कोई रीति नहीं
कैशिकी	दाक्षिणात्या	वैदर्भी

यहाँ रीति-सिद्धांत के मूल उद्गम और उसके इतिहास का विवेचन करना आवश्यक नहीं है । मैंने रीति के विवेचन में पृथक् रूप से इस बात की चर्चा की है । वहाँ पर मैंने इस क्षेत्र में राजशेखर और भोज के स्थान का भी विवेचन किया है इस समय हमारा मुख्य सम्बन्ध इन्हीं दोनों से है । दण्डी और वामन ने रीतियों की परिभाषाएं अर्थों या गुणों के आधार पर दी हैं । रुद्रट ने स्वयं को समास तक सीमित रखा है । और भामह ने अपनी रीति विषयक चर्चा के अन्य सामान्य अर्थों का भी सन्निवेश किया है और अन्ततोगत्वा उन्होंने रीतियों को एक किनारे रख दिया है । राजशेखर ने एक ओर भामह और रुद्रट से भिन्न और दूसरी ओर दण्डी, वामन और गुण परम्परा से अलग हटकर बिलकुल नयी विशेषताओं और अन्यत्र न मिलने वाली शब्दावली का प्रयोग रीतियों की परिभाषा के लिये किया है । भोज ने अपने श्रृं. प्र. के सत्रहवें प्रकाश के लिए इन्हीं विशेषताओं और पदावलियों को उधार ले लिया है और अग्निपुराण ने भोज से ये विशेषताएं और पदावलियां ली हैं । नीचे राजशेखर की परिभाषाएं और उनके साथ भोज की परिभाषाएं भी दी जा रही हैं ।

(1) समासवद् अनुप्रासवद् योगवृत्तिपरम्परागर्भं जगाद । सा गौडीया रीतिः । काव्यमीमांसा पृ. 8 । गौडादिषु भवा गौडीया-यदतिदीर्घसमासं, परिस्फुटबन्धनम्, नात्युपचारवृत्तिम्, पादानुप्रासगिरयो, योगरूढिपरम्परागर्भं वचः सा गौडी । शृ. प्र. जिल्द 3 पृ. 213 ।

(2) ईषदसमासम्, ईषदनुप्रासम्, उपचारगर्भं च जगाद, सा पाञ्चाली रीतिः । काव्यमी. पृ. 9 । पाञ्चालादिषु भवा पाञ्चाली । यदनतिदीर्घसमासम्, (अनति) स्फुटबन्धनम्, उपचारवृत्तिम्, पादानुप्रासप्रायं, योगरूढिम् सा पाञ्चाली । शृ. प्र. जिल्द 3, पृ. 212 ।

(3) स्थानानुप्रासवद्, असमासम्, योगवृत्तिगर्भं च जगाद सा वैदर्भी रीतिः । का. मी. पृ. 9 । विदर्भादिषु (भवा) वैदर्भी यदि(द) समस्तम् अतिसुकुमारबद्धं (न्धं) अनुपचारवृत्तिम्, स्थानानुप्रासयोगि, (योग) वृत्तिमद् वचः सा वैदर्भी-शृ. प्र. जिल्द 3 पृ. 214 ।

हम भोज की लाटीया वृत्ति पर आगे पृथक् विचार करेंगे । राजशेखर ने इसकी चर्चा नहीं की है । निम्न तालिका दोनों लेखकों की परिभाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को अधिक स्पष्टता से प्रकट करती है ।

राजशेखर	समास	अनुप्रास	योगवृत्तिपरम्परा
भोज	अतिदीर्घसमास	पादानुप्रास	योगरूढिपरम्परा

इन तीन के अतिरिक्त भोज ने परिस्फुटबन्ध और कुछ उपचार-वृत्ति प्रयोग भी गौडीया वृत्ति की विशेषताएँ बतलाई हैं । यह ज्ञात नहीं कि भोज ने ये दोनों अतिरिक्त वैशिष्ट्य कहाँ से लिए हैं । राजशेखर से लिये हुए तीनों तत्त्वों को भोज ने अधिक स्पष्टता के साथ रखा है उन्होंने समास को अतिदीर्घ समास, अनुप्रास को पादानुप्रास और योगवृत्ति को योगरूढि के रूप में बदल दिया है ।

पाञ्चाली

राजशेखर	ईषदसमास	ईषदनुप्रास	उपचार
भोज	अनतिदीर्घसमास	पादानुप्रास	वही

भोज ने अनतिस्फुटबन्ध और योगरूढि ये दो अतिरिक्त वैशिष्ट्य गिनाये हैं ।

वैदर्भी

राजशेखर	असमास	स्थानानुप्रास	योगवृत्ति
भोज	वही	वही	वही

भोज ने अतिसुकुमारबन्ध और अनुपचारवृत्ति ये दो विशेषताएँ अतिरिक्त मानी हैं । इसप्रकार का रीति निरूपण आलंकारिकों की सामान्य शैली से मेल नहीं खाता । फिर भी यह दण्डी वामन और रुद्रट द्वारा दी गई वृत्तियों की परिभाषाओं से बिल्कुल असंबद्ध नहीं है । राजशेखर और भोज की परिभाषाओं में समास और अनुप्रास को अधिक महत्त्व प्राप्त है । दण्डी, वामन और रुद्रट ने भी इन्हें प्रमुखता दी है । उपचार को भी दण्डी ने समाधिगुण माना है किन्तु जो बात कुछ विचित्र सी लगती है वह है उपचार, योग, रूढि और बन्धस्फुटत्व पदावली । भोज ने लाटीया की परिभाषा भी इससे मिलती जुलती पदावली में ही दी है ।

लाटादिषु भवा लाटीया; यदीषत्समस्तम्, अनतिसुकुमारबन्धम्, नात्युपचारवत्, लाटीयानुप्रासवद् योगरूढिमद् वचः सा लाटीया ।

पृ. 215 शृ. प्र. जिल्द 3 ।

शारदातनय ने अपने भावप्रकाश में रीतियों की इस प्रकार की परिभाषा दी है । शारदातनय ने उसे शृ. प्र. के सत्रहवें परिच्छेद से लिया है और बहुरूप मिश्र ने अपनी दशरूपक व्याख्या में उसे भोज और शारदातनय दोनों से उधार लिया है । अग्निपुराण ने भी इसे भोज से ही ग्रहण किया । अग्निपुराण में वर्णित रीति और गुण के विषय में मैंने उपर्युक्त इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली में अपने लेख में चर्चा की है ।

(1) भावप्रकाश के प्रथम अध्याय में शारदातनय ने अनुभवों का निरूपण ठीक वैसे ही किया है जैसे कि वह शृ. प्र. के सप्तदश प्रकाश में पृ. 11-12 पर मिलता है । रीति वृत्ति और प्रवृत्ति तीनों को बुद्धचारम्भानुभाव के रूप में एक साथ वर्गीकृत करते हुए शारदातनय ने भोज का अनुसरण किया है ।

बुद्धचारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते ।

रीतिर्वचनविन्यासक्रमः, सापि चतुर्विधा ॥

इस प्रकार भोज द्वारा निरूपित तत्त्वों को शारदातनय ने वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया है । रीतियों का पारस्परिक अन्तर (1) समास (2) सौकुमार्य आदि (3) उपचार आदि और (4) प्रास और अनुप्रास के अन्तर द्वारा जाना जाता है ।

समास-सौकुमार्यादि-तारतम्यात् क्वचित्-क्वचित् ।

उपचार-विशेषाच्च प्रासानुप्रासभेदतः ॥

शारदातनय का अनुसरण करते हुए बहुरूप मिश्र ने दशरूपक व्याख्या में कहा है— एतासां चतसृणां च रीतीनाम् (1) समासतारतम्याद् (2) उपचारतारतम्याद् (3) बन्ध-सौकुमार्यादितारतम्याद् (4) अनुप्रासभेदात् (5) योगादिभेदात् च परस्परभेद इत्यनुसन्धा-तव्यम् इति । जिल्द 2 पृ. 5—मद्रास पाण्डुलिपि आर. 4188 ।

शारदातनय सौराष्ट्री और द्राविडी इन दो नई वृत्तियों को जोड़कर तथा यह बतला-कर कि रीतियाँ 105 हैं भोज से आगे निकल गये हैं । उनका अन्तिम कथन एक अन्य महत्वपूर्ण दृष्टिकोण से अधिक समझदारी का है और वह यह कि हर व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र रीति होती है ।

सौराष्ट्री द्राविडी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम् ।

तत्तद्देशीयरचनारीतिस्तद्देशनामभाक् ॥

×

×

×

×

×

प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति ।

आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिः चतुर्विधेत्येषा ॥

तासु पञ्चोत्तरशतं विधाः प्रोक्ता मनीषिभिः ।

(2) रीति वृत्ति और प्रवृत्ति को बुद्धचारम्भानुभाव कहकर शिगभूपाल ने भोज का अनुसरण किया है। र. स. सो., अध्याय एक पृ. 64-68।

बुद्धचारम्भास्तथा प्रोक्ताः रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः।

किन्तु शिङ्गभूपाल ने केवल कोमला, कठिना और मिश्रा—वैदर्भी गौडी और पाञ्चाली इन तीन ही रीतियों को स्वीकार किया है। वैदर्भी के विषय में वे दण्डी के अनुयायी हैं। उनके मत से गौडी का वैशिष्ट्य है दीर्घ समास और मूर्धन्य वर्ण। पाञ्चाली दोनों की मध्यवर्त्तिनी है। शिङ्गभूपाल का अनुसरण करते हुए शारदातनय ने रीति प्रकरण के अन्त में कहा है कि रीतियाँ अनन्त हैं और हर देश की अपनी अपनी स्वतन्त्र रीतियाँ हैं। आन्ध्री लाटी, सौराष्ट्री और इस तरह की अन्य मिश्र रीतियाँ भी हैं इनके वर्णन के लिये शिङ्गभूपाल, भोज तथा अन्य विद्वानों के ग्रन्थ की ओर संकेत करते हैं।

आन्ध्री लाटी च सौराष्ट्रीत्यादयो मिश्ररीतयः।

भोजादिग्रन्थकारैस्तु तदाकाङ्क्षिभिरीक्ष्यताम्। पृ. 69

शारदातनय ने इस प्रकार की अतिरिक्त रीतियों का उल्लेख किया है और कहा है कि देश में जितने जनपद हैं उतनी ही रीतियाँ हैं। किन्तु भोज ने न शृ. प्र. में और न स. क. आ. में ही कहीं ऐसा कहा। संभवतः शिङ्गभूपाल भोज द्वारा शब्दालंकार प्रकरण में वर्णित वृत्त्युप्रास के बारह भेदों—आन्ध्री, कौङ्की और कोङ्कणी आदि की ओर ही संभवतः शिङ्गभूपाल ने संकेत किया है। अग्निपुराण ने भी अनुभावों के प्रकरण में रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति को एक साथ बुद्धचारम्भानुभाव कहा है।

आलम्बनविभावस्य भावैरुद्बुद्धसंस्कृतैः।

मनोवाग्बुद्धिवपुषां स्मृतीच्छाद्वेषयत्नतः॥

आरम्भ एव विदुषामनुभाव इति स्मृतिः॥

339/44-5

इसके पश्चात् पुरुषों एवं स्त्रियों के मानारम्भ अनुभावों तथा वादारम्भों की चर्चा है और उसके पश्चात् अध्याय की अन्तिम दो पङ्क्तियों में तीन बुद्धचारम्भों का उल्लेख है।

स बुद्धचारम्भ इष्यते।

तस्य भेदाः त्रयस्ते च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः॥ 339/54।

अगले तीन सौ चालीसवें रीति निरूपण नामक अध्याय में आंशिक रूप से वृत्तियों की चर्चा है। यहाँ पर आनन्दाश्रम संस्करण का पाठ अशुद्ध है और अधूरा भी। अध्याय का नाम रीति-वृत्ति-प्रवृत्ति-निरूपण और उसमें इन तीनों बुद्धचारम्भों का विवेचन रहा होगा क्योंकि अगले अध्याय का प्रारम्भ आङ्गिक अभिनय अर्थात् शरीरारम्भ अनुभाव से हुआ है। अपने वर्तमान रूप में तीन सौ चालीसवाँ अध्याय आरम्भ की वृत्ति के अङ्गों के उल्लेख के साथ समाप्त हो जाता है। उसमें केवल रीतियाँ और दो वृत्तियाँ मिलती हैं। मैंने इण्ड. हिस्टॉ. में प्रकाशित मेरे “रीति अण्ड गुण इन दि अग्निपुराण” में जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इसका विवेचन किया है। अग्निपुराण में एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि

इसमें रीतियों की परिभाषाएँ शृ. प्र. के सत्रहवें प्रकाश से ली गई हैं । उसमें शृ. प्र. के रीति प्रकाश की चार रीतियाँ स्वीकार की गई हैं और उनकी परिभाषाएँ समास उपचार योग आदि तत्त्वों के आधार पर दी गई हैं । (अग्निपुराण में मेरे उपर्युक्त लेख के आधार पर)

वृत्तियाँ

वृत्तियों के मान्यता संबन्धी वृत्तिसिद्धान्त और नाट्यकला के इतिहास की दृष्टि से मैंने जर्नल ऑफ रॉयल सोसायटी मद्रास¹ में प्रकाशित अपने लम्बे लेख में मैंने इस विषय की समीक्षा और व्याख्या की है । इस लेख के तीसरे भाग में मैंने वृत्तियों की संख्या के प्रकरण में भोज द्वारा किये हुए वृत्ति विवेचन की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है यहाँ मैं उसी बात को संक्षेप में व्यक्त करना चाहूँगा ।

भोज ने शृ. प्र. के सत्रहवें प्रकाश में वृत्तियों को बुद्धचारम्भ अनुभाव अर्थात् बुद्धि से उत्पन्न अनुभाव माना है । उन्होंने उसकी परिभाषा चेष्टा—विशेष—विन्यास क्रम अर्थात् क्रिया की एक शैली के रूप में दी है और यह अभिनवगुप्त की परिभाषा से मेल खाती है । उन्होंने इसे व्यापार कहा है । आनन्दवर्धन ने भी वृत्ति को व्यवहार बतलाया है । शृ. प्र. के सत्रहवें प्रकाश में भोज ने केवल भरत द्वारा प्रतिपादित चार वृत्तियों का वर्णन किया है और भोज के निरूपण में कोई विशेष बात या अन्तर इन वृत्तियों के वर्णन में नहीं दिखाई देता । हाँ भारती वृत्ति के अङ्गों के वर्णन में भोज में—कुछ महत्वपूर्ण अन्तर मिलता है जिसकी चर्चा मैंने वृत्त्यङ्ग नामक पृथक् प्रकरण में आगे की है ।

यदि कैशिकी का अर्थ सौष्ठव और सौकुमार्य है और वृत्ति का अर्थ मन की विशेष स्थिति और परिस्थितियों का वातावरण तो कैशिकी वृत्ति के भीतर सब सुन्दर क्रियाकलाप आ जायेंगे और उन्हें सीमित अर्थ में अनुभाव नहीं कहा जा सकता अभिनवगुप्त ने आर-भटी की व्याख्या करते हुए उसे काय वृत्ति या उत्कृष्ट चेष्टा, भारती को वाग् व्यापार और सात्वती को मनोव्यापार बतलाया है । भोज भी कहते हैं कि वृत्तियाँ वाङ्-मनो-काय व्यापार हैं (द्वादश प्रकाश) यदि भारती वाग् व्यापार है तो वह वागारम्भ अनुभाव होगी यदि आरभटी काय व्यापार है तो वह शरीरारम्भ अनुभाव होगी और अकेली सात्वती बुद्धचारम्भ अनुभाव कही जा सकेगी क्योंकि उसे मनोव्यापार बतलाया है तब कैशिकी वृत्ति क्या होगी क्योंकि उसका सम्बन्ध किसी शारीरिक या मानसिक क्रिया से नहीं जोड़ा गया है । वह न शरीर से न वाणी से और न मन से संबद्ध है । इसका संबन्ध समग्र चेष्टाओं के सौष्ठव में ढंग से है । इसे बुद्धचारम्भानुभाव कैसे कह सकते हैं । ऐसी स्थिति में कैशिकी का प्रयोग केवल उन शारीरिक चेष्टाओं से हो सकता है जो श्लक्ष्णता और सौकुमार्य को प्रदर्शित करती हैं । शृ. प्र. के सोलहवें प्रकाश के समान स. क. आ. के पाँचवें अध्याय में (पृ. 643) भी भोज प्राचीन चार वृत्तियों से संतुष्ट हैं किन्तु शृ. प्र. के बारहवें प्रकाश में जिसका वर्णन विषय स. क. आ. के पञ्चम परिच्छेद के उपर्युक्त भाग के समान है

¹ जे. ओ. आर. मद्रास जिल्द 6 पृ. 346-370 और जिल्द 7 पृ. 33-52 और 91-112

भोज ने वृत्तियों की संख्या पाँच बतलाई है। शृं. प्र. के इस बारहवें प्रकाश में प्रबन्धाङ्गों के विवेचन में चूँकि और सब बातें पाँच पाँच के वर्गों में मिलती हैं अतः भोज ने एक पाँचवीं विमिश्रा वृत्ति जोड़कर वृत्तियों की संख्या पाँच कर दी है। यह वृत्ति वस्तुतः न तो नवीन है और न अतिरिक्त, अपितु शेष चारों वृत्तियों का सम्मिश्रण है। भोज ने शृं. प्र. की दूसरी जिल्द के पृ. 459 पर द्वादश प्रकाश में पाँचवीं अतिरिक्त वृत्ति का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

यत्रारभट्यादिगुणास्समस्ताः मिश्रत्वमाश्रित्य मिथः प्रथन्ते ।

मिश्रेति तां वृत्तिमुशन्ति धीराः साधारणीमर्थचतुष्टयस्य ॥

मुखादिसंधिषु (च) व्याप्रियमाणानां (नाय)कोपनायकादीनां मनोवाक्काय-कर्म-निबन्धनाः पञ्चवृत्तयो भवन्ति-भारती, आरभटी, कैशिकी, सात्त्वती, विमिश्रा चेति । पृ. 459 ।

सोऽयं पञ्चप्रकारोऽपि चेष्टाविशेषविन्यासक्रमो वृत्तिरित्याख्यायते—पृ. 459

इस वृत्ति का क्षेत्र क्या है क्या यह वृत्ति आवश्यक है। इस विषय में भरत का क्या कहना है? शिङ्गभूपाल ने भोज की इस मिश्र वृत्ति पर कहाँ तक ध्यान दिया और भरत के आधार पर इसका खण्डन किया इन प्रश्नों पर उपर्युक्त वृत्ति विषयक लेख में विचार किया गया है—जे. ओ. आर. जिल्द 2 पृ. 102-3 ।

शिङ्गभूपाल के अतिरिक्त अन्य लेखकों का भी ध्यान भोज की इस पञ्चम वृत्ति की ओर आकृष्ट हुआ है। शिङ्गभूपाल से पूर्व शारदातनय ने जो प्रायः शृं. प्र. से अपना परिचय व्यक्त करते हैं, कहा है कि कुछ लेखक उद्भट की अर्थवृत्ति को स्वीकार न करते हुए उसके स्थान पर मिश्र नामक पाँचवी वृत्ति मानते हैं।

भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटीति च ।

औद्भटाः पञ्चमीमर्थवृत्तिं च प्रतिजानते ॥

अर्थवृत्तेरभावात्तु वि(मि)श्रां तां पञ्चमीं परे ।

प्रथम दो पङ्क्तियों में व्यक्त जानकारी शारदातनय की दशरूपक से मिली है। जे. ओ. आर. छे में प्रकाशित “ऑन रायटर्स कोटेड बाय दि अभिनवभारती” लेख में तथा उपर्युक्त वृत्ति विषयक लेख में मैंने इस बात को स्पष्ट किया है कि किस प्रकार धनञ्जय और शारदातनय इन दोनों लेखकों का यह कथन कि औद्भट अर्थवृत्ति नामक पाँचवी वृत्ति को मानते हैं अशुद्ध है। और वस्तुतः औद्भटों की क्या स्थिति है। यह बात मैंने इन लेखों में उद्भट प्रसंग में विस्तार पूर्वक बतलाई है। ऊपर उद्धृत तृतीय पङ्क्ति में शारदातनय ने भोज की पाँचवी वृत्ति का उल्लेख किया है। रसाण्वयमलंकार (गवर्न. ओरियण्टल मेनस्क्रिप्ट लायब्रेरी मद्रास की पाण्डुलिपि) के रचयिता प्रकाशवर्ष शारदातनय के लगभग समकालीन एक अन्य लेखक हैं—जिन्होंने भोज की इस मिश्र नामक पञ्चम वृत्ति का उल्लेख किया है। प्रकाशवर्ष शृं. प्र. से परिचित हैं और उन्होंने शृं. प्र. के बारहवें प्रकाश से भोज का पञ्चम वृत्ति विषयक “यत्रारभट्यादिगुणास्समस्ताः” आदि उपजाति छन्द उद्धृत किया है किन्तु उन्होंने उसे शृं. प्र. में दिये हुए नाम मिश्रवृत्ति की संज्ञा न देते हुए अंतिम पङ्क्ति में विशेषण के रूप में आया हुआ कामचलाऊ साधारणीवृत्ति नाम दिया है—

“साधारणीमर्थचतुष्टयस्य” हाँ, प्रकाशवर्ष ने इस छन्द को महाभामह रचित बतलाकर अवश्य भूल की है। (देखिये जे. ओ. आर. मद्रास जिल्द 8 भाग 3 में प्रकाशित प्रकाशवर्ष का रसार्णवालंकार शीर्षक मेरा लेख)

भोज द्वारा वृत्ति का तीसरे प्रकार का वर्णन जो कि उनके दोनों ग्रंथों में सर्वप्रथम और पूर्वतम काल का है उसमें वृत्ति को जाति गति या मिश्र रीति के साथ शब्दालंकार माना गया है। यहाँ जाति की भाषा गति को गद्यपद्य रूप और मिश्र को चम्पू शैली कहा है। शब्दालंकार प्रकरण में वृत्ति का वर्णन वैसा भी नहीं हो सकता था जैसा कि रस प्रकरण में अनुभाव के अन्तर्गत नाट्य वृत्तियों का वर्णन है यहाँ वृत्ति का अनुप्रयोग नाटक और केवल श्रव्य काव्य में किया गया है मैंने वृत्ति के इस पक्ष का भी समीक्षण अपने उपर्युक्त वृत्ति संबन्धी लेख में किया है। इस लेख के अन्त में “दी हिस्ट्री ऑफ वृत्ति” इस काव्य प्रकरण के अन्तर्गत यह प्रसंग आया है। (देखिये पृ. 104-112 जे. ओ. आर. जिल्द 7 तथा मेरे सम कान्-सेप्ट्स शीर्षक लेख के 182-193 पृष्ठ)।

जब कभी हम लिखित शब्दों की चर्चा करते हैं तो समझना चाहिये कि हम चार वृत्तियों में से एक भारती वृत्ति के क्षेत्र में हैं और इस क्षेत्र के भीतर भी यदि हम श्लक्षण और ओजस्वी शैलियों में भेद करना चाहें तो हमें कैशिकी और आरभटी वृत्तियाँ नहीं अपितु वैदर्भी और गौडी रीतियाँ अपनानी होंगी। नाट्य से काव्य क्षेत्र के अन्तर्गत लाया हुआ वृत्तियों का सम्पूर्ण वर्ग वहाँ विसंगत है। आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में कहा है कि वृत्तियाँ दो प्रकार की हैं शब्दवृत्तियाँ और अर्थवृत्तियाँ कैशिकी आदि हैं जिनकी चर्चा भरत ने की है। और वृत्तियाँ उपनागरिका परुषा और कोमला शब्दवृत्तियों को एक दूसरा नाम भी दिया गया है रीति। मम्मट ने शब्दवृत्तियों और रीतियों को समान माना है (काव्यप्रकाश नवम प्रकाश)। किन्तु भोज ने इन कठिनाताओं पर दृष्टिपात न करते हुए अपने शब्दालंकारों की चौबीस संख्या की पूर्ति वृत्ति जैसी चीजों से कर दी है। इस विषय में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं।

1 भोज ने वृत्तियों को शब्दालंकार मानकर उनकी संख्या बढ़ाकर छै कर दी। उन्होंने मध्यमा कैशिकी और मध्यमा आरभटी इन दो को यों ही घुसेड़ दिया है। एक जगह उन्होंने इनकी संख्या छै दी है दूसरी जगह पाँच एवं तीसरी जगह पर केवल चार इसका अर्थ यह नहीं कि इन तीनों जगहों पर शब्दालंकाररूपा अनुभावरूपा और सामान्य प्रबन्धाङ्गभूता वृत्तियाँ भिन्न भिन्न हैं। वृत्ति मूलतः अनुभाव है। सारे अलंकार अनुभाव होते हैं। वे वागारम्भानुभाव में विशिष्ट मनोदशा से युक्त पात्र की वाचिक अभिनय में प्रकट होते हैं। उनका उद्देश्य होता है पात्र की मनोदशा का अधिक तेजी और अधिक शक्ति के साथ सम्प्रेषण वृत्ति जब प्रबन्धाङ्ग का रूप लेती है तो भी वह अनुभाव होती है। इस प्रकार यद्यपि भोज ने वृत्तियों का वर्णन तीन बार किया है किन्तु तीनों स्थानों पर वह एक ही है।

2 यदि ऐसी कैशिकी वृत्ति का मानना आवश्यक था जो पूरी तरह कैशिकी न होती परन्तु कुछ कुछ कैशिकी अर्थात् मध्यमा कैशिकी होती। और यदि इसी तरह एक मध्यमा आरभटी का भी मानना आवश्यक था तो मध्यमभारती और मध्यमसात्त्वती को भी स्वीकार

करना चाहिये था। दो अधिक वृत्तियों के स्वीकार न करने का एकमात्र कारण यह है कि भोज के सारे शब्दालंकार समान रूप से केवल छः भागों में उपविभक्त किये गये हैं। और इसके लिये भोज को केवल दो मध्यम वृत्तियों की आवश्यकता थी चार की नहीं।

3 इन सब शब्दालंकारों अर्थात् वृत्ति की परिभाषा करते हुए उन्हें अर्थ संदर्भ कहा है इसमें एक विरोध है अर्थ वैचित्य शब्दालंकार का जनक कैसे हो सकता है? भोज ने वृत्तियों को अर्थालंकार बनाया होता तो कोई बात भी थी भोज के महान् आचार्य दण्डी ने ऐसा किया है। भोज ने काव्यादर्श के द्वितीय अध्याय के लगभग अंत में संध्यंगों और लक्षणों के साथ वृत्तियों और उनके अंगों की भी गणना अलंकारों में की है। और द्वितीय अध्याय में अर्थालंकारों का विवेचन है।

वृत्ति संबन्धी एक अन्य मान्यता इसी शब्दालंकार प्रकरण में भोज ने अनुप्रास के अंतर्गत आने वाली वृत्ति के दो अन्य संबद्ध सिद्धांतों की चर्चा की है। मैंने अपने वृत्ति संबंधी लेख के अन्तिम भाग में इनका उल्लेख किया है देखिये पृ. 108-10 जे. ओ. आर. जिल्द 7 भोज ने उद्भट तथा अन्य आचार्यों की परुषा कोमला आदि वृत्तियों की आलोचना की है और कहा है कि गुणों और वृत्तियों में अन्तर्भूत हो जाने के कारण वे अनावश्यक हैं यद्यपि भोज ने स्वयं वृत्तियों की संख्या बढ़ाकर बारह कर दी है। भोज ने उनके स्थान पर अनुप्रास अर्थात् वृत्तियों के भेद देशभेद के आधार पर बारह मान लिये (स. क. आ. पृ. 201-7) देखिये मेरा वृत्ति विषयक उपर्युक्त लेख तथा अलंकार परिच्छेद।

वृत्यंग

भोज ने सोलह वृत्यंग बतलाये हैं। जिनमें विमर्श को छोड़कर चार-चार अंग प्रत्येक प्रमुख वृत्ति के लिये हैं। जे. ओ. आर. जिल्द 7 पृ. 44-45 पर वृत्ति सम्बन्धी अपने लेख के एक विशेष प्रकरण में मैंने सामान्य वृत्यंगों के विषय में चर्चा की है। भोज के भारती वृत्ति के अंगों के वर्णन में अंतर है। भरत ने भारती वृत्ति के चार अंगों का उल्लेख किया है—प्ररोचना, आमुख, वीथि और प्रहसन। (17-34, 35 काशी संस्करण)

भारती वृत्ति और उसके दो अंगों वीथि और प्रहसन की समीक्षा उपर्युक्त वृत्ति संबंधी लेख के प्रथम भाग में की गई है (पृ. 363-370 जिल्द छः जे. ओ. आर.) भरत द्वारा वर्णित भारती वृत्ति के चार अंगों में से भोज ने केवल एक आमुख को ही ग्रहण किया है और उसे ही सम्पूर्ण भारती वृत्ति का संघटक मान लिया है शृ. प्र. के बारहवें प्रकाश में भोज ने इसे चार भागों में बाँटा है वहाँ भी भोज और भरत के विचारों में अंतर है। भरत ने आमुख के पाँच अंग माने हैं (22-30 से 35)—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक, और अवगलित, भोज ने इनमें से तृतीय को छोड़ दिया है किन्तु चार वृत्तियों में से प्रत्येक के अंगों की संख्या एक समान चार रखने से भिन्न अन्य कोई कारण इस परित्याग में नहीं है। भारती वृत्ति का आमुख के साथ ऐसा साम्य औचित्यपूर्ण नहीं है। और समस्त सामान्य वाग्वृत्तियों को भारती वृत्ति नाम देने के पीछे निहित मूल धारणा का ही खण्डन हो जाता है। (वाग्वृत्ति पृ. 459 जिल्द 2 शृ. प्र.। जे. ओ. आर. जिल्द 6 पृ. 363-370) भोज के समान दशरूपक ने भी भारती वृत्ति के लिये भरत के चार अंग माने हैं किन्तु आमुख के लिये इसमें शृ. प्र.

के समान ही दृष्टिकोण अपनाया है। उसमें आमुख के लिये प्रथम चार मुख्य अंग गिनाये हैं। कथोद्घात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय और वीथ्यंग। इनमें से वीथ्यंग में भरत द्वारा वर्णित अन्य दो अंगों का समावेश है। शिङ्गभूपाल ने दशरूपक का अनुसरण किया है। अन्य वृत्तियों के अंग तथा उनकी संख्या भोज ने वही मानी है जो भरत ने दी है। (श्रु. प्र. जिल्द 2 पृ. 478—480)

स. क. आ. के पञ्चम परिच्छेद की बात बिलकुल भिन्न है। यहाँ भी तीन अन्य वृत्तियों और उनके अंगों के विषय में भोज और भरत में कोई अंतर नहीं है यहाँ भारती वृत्ति के अंगों के विषय में भोज का मत न केवल भरत से अपितु स्वयं अपने भी पूर्व मत से भिन्न है। स. क. आ. (पृ. 643—46) के पञ्चम परिच्छेद में भोज ने भरत के ग्रन्थ का लगभग अनुसरण करते हुए भारती वृत्ति के प्ररोचना वीथी प्रस्तावना (जिसे भरत ने आमुख कहा था) और प्रहसन ये चार अंग बतलाये हैं। किन्तु परवर्ती लेखकों की समझ में यह बात नहीं आई कि वीथी और प्रहसन इन दोनों को भारती वृत्ति का भेद मानने में भरत का क्या उद्देश्य था। ये नाम रूपक के दो प्रकारों के हैं प्रस्तावना के अंगों के नहीं। परवर्ती लेखकों ने वीथी और प्रहसन को प्रस्तावना का अंश मात्र मान लिया है और भारती को केवल प्रस्तावना तक सीमित कर दिया है। यह इसका शुद्ध और वास्तविक वैशिष्ट्य नहीं है।

यह बात मैंने अपने वृत्ति संबंधी लेख के प्रथम भाग में स्पष्ट की है। (जे. ओ. आर. 6 पृ. 363—370) भोज तथा अन्य लेखकों ने केवल यह किया है कि उन्होंने वीथी को केवल सीमित या संकुचित अर्थ में लिया है। भरत और धनञ्जय स्पष्टतया कहते हैं कि वीथी और प्रहसन रूपक के दो प्रकार हैं। किन्तु अन्य अनेक परवर्ती लेखकों के समान भोज भी प्रहसन को प्रस्तावनागत छोटी सी हास्यात्मक उक्ति मानते हैं। किन्तु जब वे वीथी का पाँच अङ्गों वाले सुप्रसिद्ध तेरह अङ्गों के साथ निरूपण करते हैं तो वे बिलकुल अकेले पड़ जाते हैं। और ये अङ्ग क्या हैं? यहाँ पर भोज भरत के आमुख और वीथी इन दोनों को गड़मड़ कर देते हैं। और आमुख के पाँचों अङ्गों को वीथी के साथ जोड़ देते हैं। वे कहते हैं—“उद्घात्यकादीनामङ्गानां प्रवृत्तिः वीथी, उद्घात्यकः, कथोद्घातः, प्रयोगातिशयः, प्रवर्त्तकः, श्रवणलितमितिः। उपर्युक्त पाँच अंगों में से उद्घात्यक और श्रवणलित दो ऐसे वीथ्यंग हैं जिनका समावेश प्रस्तावना में भी होता है और इनके वीथ्यङ्ग भी होने के कारण दश-रूपककार ने उन्हें अलग नहीं गिनाया है। इसी कारण भोज को भ्रान्ति हुई और उन्होंने आमुख और वीथी को एक मानकर कथोद्घात, प्रयोगातिशय और प्रवृत्तक इन तीनों को भी वीथ्यङ्ग मान लिया। नाट्यशास्त्र संबंधी इस विषय पर बड़ी गड़बड़ी पैदा कर दी गई है। भारती वृत्ति संबंधी इस गड़बड़ी के कारणों को मेरे उपर्युक्त वृत्ति-संबन्धी लेख के प्रथम भाग में स्पष्ट किया गया है।

श्रु. प्र. का अनुभाव नामक सत्रहवें प्रकाश में वृत्तियों और उनके अङ्गों का वर्णन है। यहाँ वर्णित भारती वृत्ति के अङ्ग श्रु. प्र. के पञ्चम परिच्छेद से जितने अधिक मिलते जुलते हैं उतने स्वयं इसी ग्रन्थ के बारहवें प्रकाश से नहीं। भारती के चार अङ्गों का वर्णन भरत के अनुसार है। प्ररोचना, प्रस्तावना, वीथी और प्रहसन को भोज ने आमुख-प्रस्तावना-

कहा है किन्तु जब वे वीथी पर पहुँचते हैं तो लगता है जैसे उन्होंने स. क. आ. पञ्चम परिच्छेद में की हुई अपनी भूल को समझ लिया है। वहाँ वे इस बात को भूल गये थे कि यह वीथी तेरह अंगों वाली वीथी है। फिर भी जब वे इस भूल को ठीक करने बैठे तो उन्होंने हमें एक दूसरी उलझन में डाल दिया। उन्होंने वीथी को तेरह अङ्गों वाली तो स्वीकार किया किन्तु जो तेरह अङ्ग उन्होंने बतलाये, वे हैं—उद्घात्यक, अवगलित, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, और प्रवृत्तक आदि।

उद्घात्यकादीनामङ्गानां प्रवृत्तिः वीथी। तानि उद्घात्यकः, कथोद्घातः प्रयोगातिशयः, प्रवृत्तकः, अवगलितमित्यादीनि त्रयोदश। जिल्द 3 पृ. 216।

इनमें से प्रथम दो वीथ्याङ्ग हैं और शेष तीन भरत द्वारा बतलाये हुए आमुखाङ्ग। पहले तो इन दोनों को साथ जोड़ देना ही एक बात नहीं और दूसरे यह बात समझ में नहीं आती कि भोज ने यह कहने का साहस कैसे किया कि इन अंगों की संख्या तेरह है। तेरह अंग तो स्वयं वीथी के हैं। और यदि इनमें कथोद्घात, प्रयोगातिशय और प्रवृत्तक को भी जोड़ दिया जाय तो अंगों की संख्या सोलह होती है। और फिर भोज ने इन सब अंगों के उदाहरण भी नहीं दिये हैं जिनसे ये गड़बड़ी दूर हो सके।

एवं कथोद्घातादयोऽपि दकरूपकादेः उदाहार्यम्। जिल्द 3 पृ. 216

शृ. प्र. के सत्रहवें परिच्छेद में अन्य तीन वृत्तियों और उनके अंगों का जो वर्णन किया गया है उनमें भरत से भिन्न कोई बात नहीं है।

शृ. प्र. में वृत्तियों और उनके अंगों का चतुर्थ वर्णन भी मिलता है और यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार पुरुषार्थ शृङ्गारों के चार प्रकाशों में मिलता है जो शृ. प्र. की तीसरी जिल्द के अठारहवें से लेकर इक्कीसवें प्रकाश तक बिखरा है। यहाँ पर भोज ने एक योजना प्रस्तुत की है कि इन चारों शृङ्गारों में से प्रत्येक एक विशिष्ट प्रकार के पुरुषों एवं स्त्रियों के स्वभावों, वेशभूषा, वातावरण और वाक्शैली लिये हुए है। इसका अर्थ यह कि भोज ने प्रत्येक वृत्ति को उसके उपयुक्त नायक, नायिका, प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति दी है। उनके विषय में भी मैंने अपने वृत्ति-संबन्धी लेख में विचार किया है। (जे. ओ. आर. जिल्द 7 पृ. 51-52) चार पुरुषार्थों की अपनी इस योजना की व्याख्या करते हुए, जिसमें पुरुषार्थ चार नायक=चार वृत्तियाँ आदि हैं, भोज ने काफी शब्दकौशल प्रदर्शित किया है।

प्रवृत्तियाँ

प्रवृत्तियों और वृत्तियों के साथ उनके संबन्ध के विषय में मैंने अपने बहुशः उल्लिखित वृत्ति संबन्धी लेख के एक स्वतन्त्र भाग में विचार किया है (जे. ओ. आर. जिल्द 2 पृ. 49-51)। भोज ने प्रवृत्तियों के विषय में दो बार विचार किया—प्रथम नाट्यशास्त्र संबन्धी विषयों के अन्तर्गत बारहवें प्रकाश में और दूसरे अनुभावों के अन्तर्गत सत्रहवें प्रकाश में। अनुभावों के प्रसङ्ग में भोज ने केवल चार प्रवृत्तियों का जिक्र किया है क्योंकि वह उनकी संख्या का मेल चार वृत्तियों और चार रीतियों से बिठाना चाहते थे।

उन्होंने इनमें से तीनों को एक साथ संयोजित कर दिया है और उन्हें बुद्धचारम्भ-अनुभाव कहा है। किन्तु बारहवें प्रकाश में बहुत अधिक वस्तुओं की संख्या केवल पाँच है अतः उनसे मेल बैठाने के लिये उन्होंने प्रवृत्तियाँ भी पाँच ही मान लीं। किन्तु यहाँ पर केवल परिगणन करते समय ही पाँच प्रवृत्तियाँ बतलाई गई हैं। लक्षण और उदाहरण देते समय उन्होंने केवल प्राचीन चार वृत्तियों का ही उल्लेख किया है।

पञ्च सन्धयः (वृत्तयः पञ्च प्रवृत्तयः) चतुर्विंशति प्रवृत्तयः (प्रवृत्तिहेतवः) इत्येता चतुष्पष्टिः— शृ. प्र. जिल्द 2, बारहवाँ प्रकाश, पृ. 450।

वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः। साऽपि चतुर्धा-पौरस्त्या उद्गमागधी, दाक्षिणात्या, आवन्त्या च। शृ. प्र. जिल्द 2 बारहवाँ प्रकाश पृ. 459।

यदि हम यह स्वीकार कर लें कि भोज ने केवल चार प्रवृत्तियाँ मानी हैं तो हमें वहाँ उल्लिखित चौंसठ बातों के स्थान पर त्रैसठ ही मिलेंगी। भोज द्वारा वर्णित चार वृत्तियाँ वे ही हैं जो भरत के नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में मिलती हैं, किन्तु लगता है कि भोज ने वृत्तियों में से एक के नामकरण में भूल की है। भोज की चार प्रवृत्तियाँ हैं— पौरस्त्या, उद्गमागधी, दाक्षिणात्या गौड़-आवन्ती। यद्यपि उन्होंने बारहवें प्रकाश में उनके विस्तरशः निरूपण की प्रतिज्ञा की है किन्तु वे न तो बारहवें और न तो सत्रहवें प्रकाश में ही उनका वर्णन कर सके हैं। उन्होंने इन चारों में से ही प्रत्येक के क्षेत्रभूत देशों का उल्लेख नहीं किया है इसलिये हमारे पास अन्य संदर्भों में इनकी जाँच पड़ताल का कोई साधन नहीं है।

भरत ने पौरस्त्या प्रवृत्ति का उल्लेख नहीं किया है। उनकी चार प्रवृत्तियाँ हैं— पाञ्चाली, उद्गमागधी, दाक्षिणात्या और आवन्ती। भरत द्वारा उल्लिखित पाञ्चाली के स्थान पर भोज ने पौरस्त्या का उल्लेख किया है और पौरस्त्या का अर्थ पाञ्चाली नहीं, अपितु प्राच्या है। और यह वही है जिसे उद्गमागधी नाम दिया गया है। भरत ने स्पष्टतया इन चार विभागों के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों का परिगणन किया है। दाक्षिणात्या के अन्तर्गत सामान्यतया सारे दक्षिणी प्रदेश; उद्गमागधी के अन्तर्गत सारे पूर्वीयप्रदेश; आवन्ती के अन्तर्गत सारे पश्चिमी प्रदेश और पाञ्चाली के अन्तर्गत सारे उत्तरी और उत्तरपश्चिमी क्षेत्र आते हैं। शृ. प्र. के सत्रहवें परिच्छेद में प्रवृत्तियों के लिये दिये हुए सारे उदाहरण वे ही हैं जो राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा के पृ. 8-9 पर 1-3 में दिये हैं। भोज के इस स्रोत के आधारभूत राजशेखर के ग्रन्थ में पौरस्त्या कहीं नहीं मिलती। किन्तु उसके स्थान पर पाञ्चाल-मध्यमा का उल्लेख मिलता है (का. मी. पृ. 8)। इसी पाञ्चाली प्रवृत्ति का दूसरा और अधिक सुस्पष्ट नाम है पाञ्चाल-मध्यमा क्योंकि इसके अन्तर्गत मध्यप्रदेश प्रान्त आते हैं। स्वयं भरत के ग्रन्थ में पाञ्चाल मध्यमा का यह दूसरा नाम दो श्लोकों में मिलता है (काशी संस्करण- 14-48-49। काव्यमाला सं. 13-36 से 38 तक) इसलिए यहाँ पर भोज में कुछ बात छूटी हुई सी जान पड़ती है। संभवतः भूल से पाञ्चाली छूट गई है। यदि पाञ्चाली को जोड़ दिया जाय तो पाँच और चौंसठ संख्याएं ठीक आ जाएंगी। हमें इस रिक्त स्थान और उससे होने वाली भ्रांति को स्वीकार करना उचित होगा क्योंकि पौरस्त्य और अर्धमागधी दोनों समीपवर्ती और सुदूरपूर्व की शैलियाँ हैं और भोज के प्रस्तुत ग्रन्थ में

राजशेखर का वह श्लोक आया है जिसमें महोदय की स्त्रियों के वेश का वर्णन है। यह उदाहरण पीरस्त्य प्रवृत्ति के लिये दिया गया है, जो ठीक नहीं है।

वृत्ति प्रवृत्ति और रीति-संबन्धी मान्यताएं एक दूसरे के बहुत पास हैं। इनमें एक के भीतर दूसरी का अन्तर्भाव है। किन्तु राजशेखर के मत में वर्गीकरण, विस्लेषण और सिद्धान्त संबंधी अध्ययन के लिये यह निश्चित किया गया है कि शारीरिक चेष्टा या चेष्टा विन्यास क्रम वृत्ति है, वेशभूषा या वेशविन्यास क्रम प्रवृत्ति और वाक् या वचन विन्यास क्रम रीति है। (का. मी. पृ. 9)

तत्र वेशविन्यासक्रम प्रवृत्तिः विलासविन्यासक्रमः वृत्तिः वचनविन्यास-क्रमः रीतिः।

भोज ने वृत्ति, प्रवृत्ति और रीति की परिभाषा राजशेखर से उधार ले ली है।

सोऽयं पञ्चप्रकारोऽपि चेष्टा-विन्यासक्रमो वृत्तिः। वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः।
जिल्द 2, पृ. 459।

बुद्धचारम्भेण वचनविन्यासक्रमो रीतिः, चेष्टाविन्यासक्रमो वृत्तिः वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः। अध्याय 17। जब हम वृत्ति-सिद्धान्त के विषय में किसी ठीक निश्चय पर पहुँचने के लिये वृत्तियों की भरतकृत परिभाषा की परीक्षा करते हैं तो हमें प्रारम्भ में ही इस बात का पता चल जाता है कि भारती शब्दवृत्ति है जिसे तब तक चेष्टाविशेष विन्यासक्रम नहीं कह सकते जब तक हम चेष्टा शब्द को व्यापकतम अर्थ में न ले लें। रीतियाँ भारती नामक शब्दवृत्ति के अन्तर्गत ही आती हैं। (वचनविन्यासक्रमः) एक प्रकार से वृत्ति में प्रवृत्ति और रीति दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि रीति मानवीय चेष्टाओं के संपूर्ण क्षेत्र का नाम है इसी कारण हम सुभगवेश या श्लक्ष्ण नेपथ्य का भी समावेश रीति में पाते हैं। जो कैशिकी वृत्ति की परिभाषा का एक अंग प्रवृत्ति (दाक्षिणात्य) है। इसी प्रकार सात्वती की विशेषता है आवेश भरे शब्दों का आदान-प्रदान और इस प्रकार वह भी रीति के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाती है स्वयं प्रवृत्ति का भी वर्णन इसी प्रकार व्यापक स्वरूप में हुआ है। इसका अर्थ है जनपदीय रंग ढंग अर्थात् उनका वेष, आचार और वार्ता।

अत्राह प्रवृत्तिरिति कस्मादिति? उच्यते, पृथिव्यां नानादेशवेषभाषा-चारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। नाट्यशास्त्र-काशी सं. पृ. 165। ऐसी कौन बातें हैं जो आचार और वार्ता के अन्तर्गत नहीं आतीं। और फिर दाक्षिणात्य प्रवृत्ति के संबन्ध में दाक्षिणात्यों का वर्णन करते हुए भरत ने उनके नृत्य-संगीत प्रेम और उनके कलापूर्ण मधुर एवं ललित आङ्गिक चेष्टाओं की चर्चा की है निश्चय ही यह सब आहार्य या वेश के अन्तर्गत नहीं आतीं।

तत्र दाक्षिणात्यास्तावद् बहु-नृत्य-गीतवाद्याः कैशिकीप्रायाः चतुरमधुर-ललिताङ्गा-भिनयाश्च। 1। नाट्यशास्त्र काशी सं. पृ. 165।

1. इस लालित्य और आभिजात्यमयी दाक्षिणात्य प्रवृत्ति की तुलना दण्डी द्वारा वर्णित काव्य की वैदर्भी रीति से करना मनोरञ्जक होगा। राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी के नान्दी-श्लोक के अनुसार यह “बच्छोमि या वास्यगुल्मी शैली कही जाती है। यह प्राचीन विदर्भ —शेष अगले पृष्ठ पर

शिङ्गभूपाल ने स्पष्ट कहा है कि देशोचित भाषा क्रिया और वेष का नाम प्रवृत्ति है ।

तत्तद्देशोचिता भाषाक्रियावेषाः प्रवृत्तायः र. अ. सु. 1-294 ।

भोज के प्रवृत्ति वर्णन में एक महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने उन अवस्थाओं, जिनका प्रभाव वेष पर पड़ता है एवं उन विभिन्न परिस्थितियों का विश्लेषण किया है जिनके कारण वेष में परिवर्तन होता है और जिनसे न केवल विभिन्न व्यक्तियों अपितु एक ही व्यक्ति में उसकी भिन्नता देखी जाती है । वेष में यह परिवर्तन होना स्वाभाविक है क्योंकि इसका व्यक्ति के स्वभाव, चरित्र, निवास स्थान और मनःस्थिति से घनिष्ठ संबंध होता है । भोज ने अनुभाव प्रकाश के अन्तर्गत वृत्ति और रीति के साथ प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए उस बात को स्पष्ट किया है । इस प्रकार की अवस्थाएँ अनन्त होती हैं जिनका प्रभाव वेष पर पड़ता है ।

और यद्यपि कुछ नमूने के उदाहरणों की ओर संकेत कर देना पर्याप्त होता फिर भी भोज ने थोड़ा आगे बढ़कर वेष को प्रभावित करने वाले चौबीस कारणों का उल्लेख किया है । वे इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे कि सारा विश्व इन चौबीस में नहीं समा सकता । इसलिये उन्होंने एक प्रकीर्णक वर्ग भी दे दिया है । और उसमें एक “आदयः” शब्द भी जोड़ दिया है । भोज ने वेष को प्रभावित करने वाले कारणों को प्रवृत्ति हेतु कहा है । ये चौबीस प्रवृत्ति हेतु निम्नलिखित हैं । देश, काल, पात्रम्, वय, अवस्था, शक्ति, साधन, अभिप्राय, व्यत्यास, विपरिणाम, निमित्त, अभिगम, संग्राम, विहार, उपहार, छलम्, छद्म, आश्रम, जाति, व्यक्ति, विभव, प्रकीर्ण, संकीर्ण, और विप्रकीर्ण ।

देश का अर्थ है जनपद । इस कारण को सूची में सर्वप्रथम स्थान मिलना स्वाभाविक था क्योंकि वेष के विन्यास में जनपद और निवास स्थान का प्रमुख हेतु होना स्वाभाविक है । स्वयं प्रवृत्तियों का नामकरण भारत के चार भौगोलिक खण्डों के आधार पर हुआ है । और वेष की दृष्टि से देश परस्पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं ।

पूर्व पृष्ठ का शेष

देश की राजधानी वत्सगुल्म की शैली है । दाक्षिणात्य शब्द द्वारा संकेतित प्रमुख जनपद विदर्भ है । राजशेखर ने अपनी कल्पना शक्ति से इस विचार को आगे बढ़ाते हुए वत्सगुल्म में काव्यपुरुष और साहित्यविधावधू का परिणय सम्पन्न कराया है । तत्रास्ति मनोजन्मनः देवस्य क्रीडावासः विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम् । तत्र सारस्वतेयः तां औमेयीं गन्धर्ववत् परिणयाय । काव्य. मी. पृ. 10

कालिदास के विक्रमोर्वशीय में, दाक्षिणात्य प्रवृत्ति तथा विशिष्ट एवं अत्यन्त सुन्दर वैवाहिक नेपथ्य की चर्चा है । जिसका आधार विदर्भ भूमि की शैली है ।

अत्र किल देव्या धारिण्या पण्डित कौशिकी भणिता-भगवति त्वं यदि सत्यं प्रसाधनगर्वं वहसि तद् दर्शय तावत् मालविकायाः शरीरे वैदर्भविवाहनेपथ्यम् इति । कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवित में दाक्षिणात्य संगीत के स्वाभाविक माधुर्य का उल्लेख है ।

न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादि ध्वनिरामणीयकवत् तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते । डे का सं. पृ. 46 ।

काल का अर्थ है समय जैसे ग्रीष्म शरद आदि जिनके कारण वेष में परिवर्तन होता है ।

पात्र का अर्थ है व्यक्ति—पुरुष या स्त्री । भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपना पृथक् वेष रखते हैं । पात्र के लिये भोज के द्वारा दिया हुआ उदाहरण उन्होंने स.क. आ. के तृतीय परिच्छेद में वेष स्वभावोक्ति के लिये दिया है । स. क. आ. की इस वेष स्वभावोक्ति की व्याख्या करते हुए रत्नेश्वर ने पृ. 268 पर भोज के प्रवृत्ति धर्मों से अपना परिचय व्यक्त किया है । यहाँ उन्होंने काल और पात्र का उल्लेख किया है किन्तु न भोज ने और रत्नेश्वर ने पात्र की स्पष्ट व्याख्या की है ।

वयस्—आयु जैसे वचपन, कौमार्य, यौवन आदि । अवस्था मानसिक स्थिति और भावनात्मक दशा का नाम है । उदाहरण के लिये प्रति से-विद्युक्त और विप्रलब्ध स्त्री की इच्छा स्वयं को प्रसाधित करने की नहीं होती । शक्ति का अर्थ है आत्मप्रसाधन के साधनों की सुलभता । साधन का अर्थ भी वैसी ही स्थिति है । संभवतः इसका अर्थ है उपलब्ध प्रसाधन सामग्री । उदाहरणार्थ व्याघ्र लोग पक्षियों से प्राप्त वन्य वस्तुओं यथा पंख आदि—को ही धारण कर लेते हैं ।

अभिप्राय का अर्थ है व्यक्ति के उद्देश्य को संकेतित करने वाला वेष ।

व्यत्यास का अर्थ है शीघ्रता में गलत स्थान पर आभूषणों का पहने लेना । कालिदास द्वारा रघुवंश और कुमारसंभव में वर्णित नगर सुन्दरियों का अज और शिव को देखने के लिये शीघ्रता में प्रसाधन ग्रहण कर वातायनों में जा बैठना और अश्वघोष द्वारा बुद्धचरित में इसी प्रकार का वर्णन व्यत्यास का उदाहरण है । विपरिणाम—अलंकार विहीन वस्तुओं का अलंकारों में परिवर्तन । उदाहरणार्थ—पार्वती के साथ परिणय के लिये जाते हुए शिव ने अपने सर्पों को मालाओं में बदल दिया था ।

निमित्त—वह अवसर है जब व्यक्ति विशेष वेष धारण करता है जैसे व्रत पूजा आदि ।

अभिगम—अभिसरण को कहते हैं । अभिसार के लिये जाती हुई स्त्री शुक्लपक्ष में में श्वेत एवं कृष्णपक्ष में काले वस्त्र धारण करती है ।

संग्राम—सैनिक वेष ।

विहार—क्रीडा के समय धारण किया जाने वाला वेष । जैसे जलक्रीडा-वेष ।

उपहार—प्रार्थना अथवा देवता के लिये बलि चढ़ाने के समय का वेष । उदाहरणार्थ भवभूति के मालतीमाधव में कापालिक के द्वारा चामुण्डा पर चढ़ाने के लिये ले जाई जाती हुई मालती रक्तपुष्पों की माला और रक्त वस्त्र ही पहने है । चर—विशेष कार्य पर नियुक्त गुप्त लोगों का वेष जैसे गुप्तचर का ।

चर्मन् छद्यन् भोज का इससे क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं । इसका उदाहरण विपरिणाम और चार स मिलता है आश्रम—ब्रह्मचर्य आदि ।

अवस्था—जाति—वर्ण विशेष । यथा कुट्टनी व्यक्ति—किसी विशेष व्यक्ति की भूषा संबन्धी निजी रुचि । जैसे—शिव का चन्द्र तथा सर्पों के लिये विशेष आग्रह ।

विभव—यदि इसका तात्पर्य किसी व्यक्ति के साधनों और सम्पत्ति से है तो इसे उप-
र्युक्त शक्ति से पृथक् करना कठिन है ।

प्रकीर्ण—परिमिश्रित या बहुप्रकारक ।

संकीर्ण—भले बुरे, प्रसादमय, और भयंकर तथा सीधे सादे और गहरे का घुल मिल
जाना ।

विप्रकीर्ण—संभवतः यह किसी वस्तु को सजीव मानकर उसका वर्णन करना है
जिसमें भूषा और अलंकार बिलकुल कल्पित होते हैं । भोज ने इसका उदाहरण कुमारसंभव
के द्वितीय सर्ग के अन्तिम श्लोक के रूप में दिया है जिसमें रति और वसन्त सहित काम द्वारा
इन्द्र के समक्ष उपस्थित होने का वर्णन है ।

अथ स ललित—योषिद्-भ्रूलता-चारुशृङ्गम् आदि ।

(शृ. प्र. जिल्द 2 बारहवाँ प्रकाश पृ. 460-465)

प्रवृत्ति के विषय में, जिसका मुख्य संबंध वेपभूषा-आहार्य से है भरत द्वारा तेईसवें
अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है (काशी सं.) वहाँ उन्होंने विशिष्ट लिङ्ग, राष्ट्र,
मनोदशा और जनपद आदि की दृष्टि से वेप और अलंकार की चर्चा की है इन्हीं कार्यों से
उन्होंने प्रवृत्ति हेतुओं की अपनी सूची तैयार की है ।

एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानखादपि ।

यथाभावरसावस्थम् विज्ञायैवं प्रयोजयेत् ॥

यह अवस्था नामक प्रवृत्ति हेतु है ।

23-42

मानुषीणां तु कर्तव्या नानादेशसमुद्भवा ।

+

+

+

+

अवन्तियुवतीनां तु शिरस्सालककुन्तलम् । 23, 63-67

अदेशजो हि वेपस्तु न शोभां जनयिष्यति ॥ 23, 69

यह भोज द्वारा वर्णित प्रथम प्रवृत्ति हेतु—देश है । भरत ने जाति पर भी जोर दिया
है । उन्हें मालूम था कि वेश्याओं को कौन सी वेपभूषा अनुकूल होगी ।

गणिकानां तु कर्तव्यमिच्छाविच्छित्तिमण्डनम् ।

देशजातिविशेषेण देशानामपि कारयेत् ॥

वेपं तथा चाभरणं क्षुरकर्म परिच्छदम् । 23, 68-69

भरत ने अवस्था नामक हेतु पर जो संवेगात्मक स्थिति होती है, सर्वाधिक बल दिया
है । उन्होंने श्लोक संख्या 71-72 में उसकी फिर चर्चा की है और अन्त में कहा है ।

एवं स्त्रीणां प्रयोक्तव्या देशावस्थासमुद्भवाः ।

भरत ने वयस् और प्रकृति नामक दो प्रवृत्ति हेतुओं की चर्चा मुख तथा त्वचा को
रंगने के प्रसंग में की है ।

वर्णानां तु विधिं ज्ञात्वा वयः प्रकृतिमेव च ।

कुर्यादङ्गस्य रचनां देशजातिवयःश्रिताम् ॥

23, 88-9 ।

भोज ने वयस् का उल्लेख किया है। उनके द्वारा उल्लिखित 'पात्र' भरत की 'प्रकृति' माना जा सकता है। निम्नलिखित पंक्तियों में वर्ण के कारणों का निश्चय करते हुए भरत ने भोज द्वारा उल्लिखित काल की चर्चा की है।

कारणव्यपदेशेन न तथाऽस्मेच्छया पुनः ।

वर्णस्त्वन्यः प्रयोक्तव्यः देशजातिवयःश्रितः ॥

देशं कालं च जातिं च पृथिव्युद्देशवमेव च ।

विज्ञाय वर्तनां कुर्यात् पुरुषाणां प्रयोगवित् ॥ 23, 100-101

भोज के निमित्त या विशिष्ट अवसर को भरत ने सामान्यतः निम्न प्रकार से दिया है।

धार्मिक समारोह में व्रत में स्थित होने पर देवस्थान को जाते हुए व्यक्ति का वेष शुद्ध और सादा होना चाहिये। इसी प्रकार अन्य स्थितियों में आकर्षक, दरिद्र या अनाकर्षक वेष की आवश्यकता हो सकती है।

शुद्धो विचित्रो मलिनो विविधो वेष उच्यते ।

तेषां विभागं व्याख्यास्ये यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः ॥

देवाभिगमने चैव मङ्गले नियमस्थिते ।

तिथिनक्षत्रयोगे च विवाहकरणे तथा ॥

धर्मप्रवृत्तं यत् कार्यं स्त्रीणां च पुरुषस्य च ।

वेषस्तत्र भवेच्छुद्धः ॥ 23, 116-118

तेईसवें अध्याय के 123 वें श्लोक में भरत ने विचारकों का उल्लेख करते हुए उनके स्वभाव या वृत्त के अनुसार अनुकूल वेषों का वर्णन किया है। 123 वें श्लोक में, भरत ने कहा है कि सामान्यतया वेष का परिधान परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिए।

“वेषः कार्यस्त्वर्थवशानुगः ।”

128 वें श्लोक में भरत ने योद्धाओं तथा उनके सैनिक वेष का वर्णन किया है। उन्होंने इसे सांग्रामिक वेष कहा है। यह भोज का संग्राम नामक प्रवृत्ति हेतु है।

भरत ने एक सौ तीसवें श्लोक में बतलाया है कि व्यक्ति का चरित्र या भूमिका उसके वेष पर प्रभाव डालती है। उन्होंने इसे गुण नाम दिया है।

एवमेष भवेद्वेषो वयोजातिगुणान्वितः ॥

वृत्ति नामकरण विषयक अन्य विचार

मैंने ऊपर वृत्ति संबन्धी प्रकरण में और वृत्ति विषयक लेख के अन्तिम भाग में बतलाया कि नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र में कितनी मान्यताओं की वृत्ति संज्ञा है। इसी

1 देखिये रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण (गा. ओ. सी. सं. पृ. 191) और भोज की प्रवृत्ति हेतुओं की तुलना कीजिये। अयं च (आहार्यः) देश-काल-कुल-प्रकृति-दशा-स्त्रीत्व-पुंस्त्व षष्ठत्वादी (द्यौ) चित्पानुसारतो विधेयैः इति (ना. द.)

प्रकार भोज ने भी अन्य कई धारणाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिन्हें एक ही प्रवृत्ति नाम दिया गया है। उन्होंने श्रु. प्र. के बारहवें प्रकाश में पृ. 459-460 पर कहा है—

(1) वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः। सापि चतुर्विधा पौरस्त्या, उड्गमागधी, दाक्षिणात्या, आवन्त्या च। तासां च लक्षणान्यग्रतो वक्ष्यामः।

(2) अन्ये पुनरन्यथा प्रवृत्तिं व्याचक्षते—दशविधा पुण्यप्रवृत्तिः दशविधा पापप्रवृत्तिरिति। साऽपि अग्रतो व्याकरिष्यते। केचित्तु तामपि अन्यथा आहुः। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि तद्द्वारिका च धर्म (अधर्माभ्याम् पृथक्-पृथक् दशप्रकारा प्रवृत्तिः भवतिः।)

(3) अथ अन्यन्मतम्। प्रवृत्तिर्विबुद्धिशरीरारम्भा। तत्र वागारम्भा द्वादश आलापप्रलापादयः। बुद्ध्यारम्भा द्वादश भावहावादयः। (शरीरारम्भा) (द्वादश लीला) विलासादयः। त एते षट्त्रिंशदप्यग्रत उदाहरिष्यन्ते।

यहाँ पर तीन प्रमुख मत दिये गये हैं। प्रथम सामान्यसम्मत प्रवृत्ति है। इसका अर्थ है परिधान का ढंग अर्थात् वेषविन्यासकर्म। द्वितीय प्रवृत्ति का संबंध इन्द्रियों की चेष्टाओं से है। इन्हें दस पुण्य और दस पाप चेष्टाओं में बाँटा गया है। इस इन्द्रिय-चेष्टा रूप प्रवृत्ति को कुछ लोगों ने दूसरी तरह विश्लेषित किया है। इनमें दस इन्द्रियों के दस प्रकार के कर्म आते हैं जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों से संबन्धित हैं। और इन दसों में से प्रत्येक का विभाजन दस पुण्यात्मक और दस पापात्मक कर्मों में किया जा सकता है। इस प्रकार नैतिकता से संबन्धित प्रवृत्ति कुल दो सौ प्रकार की होती है। भोज ने बारहवें प्रकाश में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार इस प्रवृत्ति के विषय में धर्म शृङ्गार विषयक अष्टारहवें प्रकाश में चर्चा की है। इस प्रकाश में प्रवृत्ति का निवृत्ति के साथ विरोध बतलाया गया है। दस पुण्य प्रवृत्तियाँ ये हैं—“प्रवृत्तिरूपः (धर्मः) दशधा। वाङ्मनःकाय-कायक्रिया-भेदात्। तत्र वाचा हितं, प्रियं, सत्यम्, आप्तम् च ब्रूते। मनसा आस्तिक्यम्, दयाम्, अनीप्सां च भावयति। कायेन कुरुतेऽ (गुरु)पास्तम् दानम् आर्तन्त्राणं च करोति। श्रु. प्र. जित्द तृतीय पृ. 237।

दस पुण्यप्रवृत्तियाँ धार्मिक पुरुषों में सहज पाई जाती हैं इनमें चार का संबंध वाक से अर्थात् हित, प्रियसत्य और आप्त बोलने से है। ऐसा वाक्य वही बोल सकता है जो हमारी सहायता करने के अतिरिक्त अन्य किसी बात में रुचि न रखता हो। 1 इनके अतिरिक्त पवित्रता, दया, और दूसरों की सम्पत्ति के प्रति अनीप्सा भाव मानसिक कर्म है और तीन शारीरिक कर्म है— अर्थात् बड़ों और शिक्षकों की शुश्रूषा, दान देना, तथा पीड़ितों की रक्षा। इनके विरोधी कर्म पापप्रवृत्तियों के अङ्ग हैं। ये हैं

1) वाचिक— अहित, अप्रिय, असत्य और आनाप्त भाषण।

1 भोज ने ये पाप और पुण्य प्रवृत्तियाँ वात्स्यायन के न्यायभाष्य से ली हैं। (पृ. 14 चौखम्बा सं.)। आगे इस ग्रन्थ में भोज तथा अन्य शास्त्रकार परिच्छेद देखिये। भोज ने आप्त को अपनी ओर से जोड़ दिया है। वात्स्यायन ने इसका उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने इसकी जगह स्वाध्याय अर्थात् वेद्याध्ययन को स्वीकार किया है।

वात्स्यायन के शब्दसूत्र (1—7 पृ. 26 चौखम्बा सं.) का भाष्य भी देखिये।

2) बौद्धिक या मानसिक नास्तिक्य, दयाराहित्य और परस्वेप्सा ।

3) शारीरिक-गुरुओं की अशुश्रूषा, अदान और आर्तोपेक्षा ।

भोज दारा वर्णित तीसरी प्रवृत्ति सामान्यतया अनुभाव कही जाती है । यह वही बुद्धि या अङ्गों से जन्य मानव कर्म है किन्तु इसका विश्लेषण निम्न ढंग से किया गया है । बारहवें प्रकाश में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार अनुभाव संबन्धी सत्रहवें प्रकाश में विस्तृत चर्चा के लिये इनका फिरसे ग्रहण किया गया है । बारहवें प्रकाश में भोज ने केवल तीन वर्ग बतलाये हैं—बारह वागालाप आदि बारह मानसिक भाव हाव आदि और बारह शारीरिक लीला विलास आदि । कुल मिलाकर ये छत्तीस हैं । फिर भी भोज ने सत्रहवें प्रकाश में अपनी पूर्वस्थिति का परित्याग कर एक नई योजना प्रस्तुत की है । उन्होंने बुद्धि पक्ष में चौथा विभाग मनस जोड़ दिया है और उन्होंने बुद्धचारम्भ हावादि को मनआरम्भों के अन्तर्गत ले लिया है और वृत्ति प्रवृत्ति और रीति इन तीनों से मिलकर बने हुए बुद्धचारम्भ वर्ग को अलग छोड़ दिया है । अतः सत्रहवें प्रकाश में प्रवृत्तियों—अनुभावों की संख्या छत्तीस नहीं बढ़तालीस है । यहाँ वेषार्थक प्रवृत्ति व्यापक प्रवृत्ति के, जिसका अर्थ अनुभाव है, एक विभाग के अन्तर्गत आती है ।

भोज ने प्रवृत्ति के इन अन्य अर्थों का वर्णन अन्यो के मत के रूप में किया है । किन्तु ये अन्य भोज के अतिरिक्त और कोई नहीं है इनमें प्रवृत्ति का प्रथम अर्थात् वेष या-आहार्य अभिनयरूप अर्थ तो बहुत प्रचलित है और तीसरा इस प्रथम प्रवृत्ति का ही विस्तार है जिसका अर्थ है समस्त सामान्य अनुभाव । दूसरा प्रयोग भी प्रवृत्ति के अन्वनुभाव रूप मूल अर्थ से पूर्णतः असंबद्ध नहीं है । कर्मेन्द्रियों के कार्य शरीरारम्भानुभाव के अन्तर्गत बुद्धीन्द्रियों के कार्य बुद्धचारम्भानुभाव के अन्तर्गत आयेंगे । दोनों प्रकार की इन्द्रियों के कार्यों का पाप-मय एवं पुण्यमय वर्गों में विभाजन एक विशिष्ट संदर्भ-धर्म और अधर्म से ही संबन्धित है, सब बातों से नहीं । इसलिये इसका सामान्य महत्त्व कुछ नहीं है ।



पन्द्रहवाँ परिच्छेद

दोष

नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।

कुक्कवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनिषिणः ॥ भामह 1-12 ।

1—भोज के दोष सम्बन्धी विचार ।

2—काव्य परिभाषा में निर्दोषत्व का स्थान; दोष का तत्त्वज्ञान ।

3—दोष स्वरूप और दोष लक्षण; गुण विपर्यय, काव्य विपत्ति हेतु, सौन्दर्यक्षेप हेतु, मुख्यार्थहृति, अभिमतार्थविघ्न, काव्यापकर्षहेतु, अनौचित्य और सहृदयोद्वेजक ।

4—दोषों की संख्या और उनका वर्गीकरण ।

I—न्यायसूत्र ।

II—कौटिलीय अर्थशास्त्र, अनुयोगद्वारसूत्र और महाभारत ।

III—भरत ।

IV—भामह और दण्डी ।

V—वामन और दोषों का पददोष, पदार्थदोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष में वर्गीकरण ।

VI—रुद्रट ।

VII—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक में उल्लिखित रसदोष ।

एवं मम्मट और हेमचन्द्र द्वारा निश्चित रसदोष ।

VIII—राजशेखर का अनुपलब्ध दोष-निरूपणाधिकरण ।

IX—भोज द्वारा स्वीकृत दोषों की संख्या, दोषों के विभिन्न वर्ग, श्लेषादि-विपर्यय और दोष-गुण, भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट का भोज पर ऋण, भोज द्वारा उल्लिखित कुछ नवीन दोष, भोज के प्रबन्ध-दोष की ध्वन्यालोक और वक्रोक्ति-जीवित के कुछ विचारों के साथ तुलना ।

X—महिमभट्ट : व्यक्ति विवेक, द्वितीय अध्याय, इसके पांच दोष ।

XI—मम्मट, एवं महिमभट्ट का मम्मट पर ऋण, नवीन दोष, अलंकार दोष और हेमचन्द्र ।

XII—दोषों के विषय में भोज के अनुयायी परवर्ती लेखक

भोज के मत में दोषहान प्रथम तत्त्व है जिसके कारण कोई उक्ति साहित्य या काव्य कहलाने के योग्य बनती है । शब्द और अर्थ के चार काव्यात्मक साहित्यों में दोषहान प्रथम है । समस्त दोषों के निराकरण के विषय में पूरी सावधानी लेने के पश्चात् ही कोई कवि अपनी उक्ति के वैशिष्ट्यों, अलंकारों और भावों से युक्त होने की बात सोच सकता है । सुन्दर आकृति भी कुष्ठ के दागों से दूषित हो सकती है । उपर्युक्त विचार के साथ भोज ने दण्डी का श्लोक उद्धृत किया है और उसके साथ भामह का एक श्लोक जोड़ दिया है । जिसका अर्थ है कि कविता न लिखने से न अधर्म होता है न रोग और न इससे किसी प्रकार का दण्ड ही

मिलना चाहिये किन्तु बुरा काव्य लिखना तो सचमुच मृत्यु ही है। स. क. आ. के द्वितीय श्लोक में भोज ने काव्य की परिभाषा दी है और वहाँ कहा है कि काव्य की पहली शर्त है उसका दोष-रहित होना। तत्र अभिधा-विवक्षादिभिः निरूपिते शब्दार्थयोः साहित्ये वाक्यस्य प्रयोगयोग्यता प्रयोगानर्हता च निश्चीयते।

यदाह—एकः शब्दः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति। दुष्प्रयुक्तः पुनरध-
र्माय सम्पद्यते। सम्यक्प्रयोगश्चास्य तदोपपद्यते यदा दोषहानं, गुणोपादानम्, अलंकारयोगः
रसावियोगश्च भवति। तेषां च प्रथमं दोषहानमेव विधेयम्, यतः कमनीयरूपादिसम्पदुपेतमपि
वपुः कुष्ठविन्दुनैकेनापि दौर्मग्यमनुभवति। उक्तं च—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।

स्याद्वपुः सुन्दरमपि शिवश्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ (दण्डी)

किञ्च—ताकवित्वमधर्माय मृतये दण्डनाय वा।

कुक्कित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥ (भामह)

शृ. प्र. नवम् प्रकाश। जिल्द 2 पृ. 144—45।

इस बात को सभी समीक्षक स्वीकार करेंगे कि उक्ति को सर्वप्रथम व्याकरण, तर्क और साहित्य संबन्धी दोषों से रहित होना चाहिए। दोष अपकर्षका हेतु होता है। वह काव्य के किसी अंश में यथा व्याकरण, शब्दों की अवस्थिति, शब्द-चयन, भावाभिव्यक्ति, छन्द, अर्थ-कल्पना आदि—में हो सकता है। इस प्रकार शब्ददोष अर्थदोष और रसदोष ये मुख्य दोष हैं। शब्द-दोषों में से बहुत से व्याकरण-विषयक होते हैं। अर्थदोषों में बहुत से साहित्य या तर्कसिद्धता से संबन्धित और रसदोषों में बहुत से मानव-प्रकृति और वस्तुजगत् से संबन्धित रहते हैं। काव्य में जितने ही कम दोष होंगे प्रबन्ध की उत्कृष्टता उतनी ही होगी। इसलिये काव्य की समस्त प्राचीन परिभाषाओं में “शब्दार्थौ काव्यम्” इस परिभाषा के साथ “अदोषो सगुणो सालंकारी” ये विशेषण जुड़े रहते हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में इसी परिभाषा को ग्रहण किया है। आगे चलकर विद्यानाथ जैसे लेखकों ने इसी को पसन्द किया क्योंकि जहाँ तक विचार का संबन्ध है यह परिभाषा अशुद्ध नहीं है। किन्तु पश्चाद्वर्ती दो प्रथम श्रेणी के काव्यशास्त्र समीक्षकों—विश्वनाथ और जगन्नाथ ने इस परिभाषा की आलोचना की। मम्मट से पहले के अधिकांश लेखक “शब्दार्थौ काव्यम्” इतनी ही परिभाषा देते थे। भामह ने “सहितौ शब्दार्थौ” को काव्य स्वीकार किया। वामन तक पहुँचने से पूर्व हमें काव्य परिभाषा के विषय में किसी नये अतिरिक्त विचार का योग काव्य परिभाषा में नहीं मिलता। वामन ने उसमें अलंकार को जोड़ दिया जिसका अर्थ था सौन्दर्य और सौन्दर्य गुणों (रीति और रस) और अलंकारों का परिणाम था। उनकी दृष्टि में गुणों (जिसमें शैली और भाव दोनों सम्मिलित हैं) और अलंकार से सुन्दरता को प्राप्त शब्द और अर्थ काव्य है। काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। 1-1

काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।

तृतीयसूत्र में वामन ने अपनी परिभाषा को और सविशेषण बना दिया है। वहाँ उन्होंने कहा है कि काव्य में केवल गुणों और अलंकारों से ही सौन्दर्य की प्राप्ति नहीं होती

अपितु प्रमुख रूप से दोषहान से भी होती है। स दोषगुणालङ्कारहानादानाम्याम् 1-1-3। इस प्रकार वामन ही वह प्रथम लेखक थे जिनकी बताई हुई परिभाषा को मम्मट ने स्वीकार किया। मम्मट से कुछ ही पहले भामह, दण्डी और वामन के अनुसर्त्ता भोज ने अपने स. क. आ. 1-2 में काव्य की यह परिभाषा दी—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

रत्नेश्वर ने अपनी भूमिका में कहा है कि उक्त श्लोक द्वारा भोज ने काव्य का लक्षण भी स्पष्ट कर दिया है—एतेन काव्यलक्षणमपि कटाक्षितम् । (पृ. 3) शृ. प्र. में साहित्य की विशद् व्याख्या करते हुए भोज ने चार साहित्यों में दोषहान को प्रथम स्थान दिया है। इस बात को सब स्वीकार करेंगे कि कवि को यथासंभव दोषों से बचना चाहिये और यदि संभव हो तो उनका पूर्ण परित्याग करना चाहिये। दोषहान स्वयं ही एक गुण है। माघ ने कहा है अपदोषतैव विगुणस्य गुणः (9-12)। इसे दोहराते हुए हम कह सकते हैं—भले ही किसी वस्तु में सौन्दर्यवर्धक निश्चित तत्त्व न हों तो भी यदि वह पूर्णतया दोषों से विमुक्त है तो दोषाभाव के कारण ही सुन्दर कही जाएगी। केशवमिश्र ने अपने अलंकारशेखर में किसी लेखक का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

दोषस्सर्वात्मना त्याज्यः रसहानिकरो हि सः ।

अन्यो गुणोस्तु मा वास्तु महान्निर्दोषता गुणः । (2-1)

दोषों पर इतना अधिक जोर देकर लेखकों ने यही मन्तव्य प्रकट किया है कि कवि को अपनी संपूर्ण शक्ति द्वारा दोषों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। हो सकता है कि उसका काव्य पूर्णतया निर्दोष न हो सके। क्योंकि स्वयं होमर तक ने इस बात को मंजूर किया है कि एकाध दोष के आ जाने से किसी रचना का काव्यत्व विनष्ट नहीं हो जाता। और क्या कवि ने कहा नहीं है कि एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरणो-ष्विकाङ्कः । (कु. सं. 1-3)। इतना ही नहीं, कवि ने तो आगे बढ़कर यहाँ तक कह दिया है कि चन्द्रमा का लाल्छन उसके सौन्दर्य में वृद्धि ही करता है—

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति । (शाकु. 1-20) ।

यद्यपि यह बात सही है फिर भी आदर्श यह माना गया है कि विद्वान् वह है जिसे दोषों का ज्ञान हो और जो उनसे बच सके। संस्कृत शब्दकोष का भी यही कथन है कि विद्वान् दोषज्ञ होता है—विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः (अमरकोष) अतः कवि को संपूर्ण शक्ति के साथ निर्दोष रचना के लिए यत्नशील होना चाहिए। कुमारस्वामी का कथन है—

दोषवर्जनस्यादौ व्याख्यानम् अल्पोऽपि दोषः प्रमादादिनाऽपि अनुपेक्ष्यः इति द्योतयितुम् । तदुक्तं दण्डिना-‘तदल्पमपि’ आदि ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य परिभाषा के अन्तर्गत अदोष शब्द के परिग्रहण की डटकर आलोचना की है। उनका कहना है कि परिभाषा में अदोषत्व शब्द के सम्मिलित करने से अव्याप्ति दोष आ जायगा। काव्यतन्त्र की दृष्टि से यह परिभाषा अनुपयुक्त है क्योंकि अदोषत्व को काव्य का अनिवार्य अंग मान लेने पर “न्यकारो ह्ययमेव”

आदि जैसे अनेकों व्यङ्ग्यकाव्य काव्य की सीमा से बहिष्कृत हो जायेगे क्योंकि “न्यकारो हि” आदि श्लोक में अविमृष्टविधेयांश या विधेयाविमर्श दोष है ॥ यह केवल सैद्धान्तिक आपत्ति है । इससे काव्य की पुरानी परिभाषा के महत्त्व में कोई कमी नहीं आती क्योंकि विश्वनाथ यह तो कहते नहीं हैं कि काव्य में दोष होने चाहिए । प्राप्त सामग्री पर विचार करते हुए और यह देखते हुये कि सब कुछ प्रयत्न करते हुए भी एक दो दोष आ ही जाते हैं विश्वनाथ ने, यह निष्कर्ष निकाला है कि हम काव्य परिभाषा में अदोष विशेषण डालकर किसी रचना को कुछ दोषों के कारण ही काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं कर सकते । भरत ने 27-47 (काशी संस्करण) में कहा है —

न च किञ्चिद् गुणहीनं दोषैः परिवर्जितम् न वा किञ्चित् ।

तस्मान्नाट्यप्रकृती दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः ॥

विश्वनाथ — एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात् । सर्वथा निर्दोषस्य एका-
न्तमसम्भवात् ॥

और फिर सब दोष एक समान महत्त्व के नहीं होते । छोटे मोटे दोषों की उपेक्षा की जा सकती है किन्तु गम्भीर रसदोषों की नहीं । रुद्रट (6-1) के टीकाकार नमिसाधु ने रुद्रट द्वारा 2-8 में वर्णित दोषों को छोटे अध्याय में वर्णित दोषों की अपेक्षा अधिक गंभीर बतलाते हुए काव्यदोषों को न्यूनाधिकादि कहा है ।

न्यूनाधिकादि दोषो हि नेत्रोत्पाटतुल्यः असमर्थ्यादिकस्तु पटलनिभः ।

विद्याचक्रवर्ती ने भी दोषों में इस प्रकार का अन्तर किया है । रसदोषो महान् दोषः । अर्थदोषः तदपेक्षया निकृष्टः....। पदपदैकदेशदोषाः परिपाट्या दविष्ठाः इति निकृष्टतराः । पृ. 7 जिल्द 2, काव्यप्रकाशव्याख्या, त्रि. सं. सी. ।

इस बात के अतिरिक्त यह एक नियम है कि कवि का परीक्षण उसकी सर्वोत्कृष्ट रचना के आधार पर किया जाना चाहिये । फिर भी दोष आखिर दोष है और इसीलिये हम कहते हैं कि अमुक काव्य दुष्ट है—काव्यं दुष्टम् । यह काव्य है फिर भी यह दोषयुक्त है । यदि रचना में दोषहान के प्रति विश्वनाथ भी दण्डी, भामह, वामन और भोज के समान चिन्तित न होते तो उन्होंने साहित्यदर्पण के एक पूरे अध्याय में दोषविवेचन को स्थान न दिया होता । अतः विश्वनाथ को काव्य और सुकाव्य अथवा उपादेय काव्य के बीच एक सूक्ष्म विभाजन स्वीकार करना पड़ा ।

न हि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः । किन्तु उपादेयतारतम्यमेव कर्तुम् । तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च—

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।

दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥ सा. द. 1 ।

1 गोल्डस्मिथ ने अपने विकार ऑफ वेकफील्ड के विज्ञापन में कहा है कि अनेक भूलों के रहते हुए भी कोई ग्रन्थ रुचिकर हो सकता है । जबकि एक भी दोष के न होने पर भी विलकुल रूखा और अनाकर्षक ।

उपर्युक्त कारिका के लेखक भट्टनायक और विश्वनाथ दोनों इस बात को तो निश्चय ही स्वीकार करेंगे कि सदोष और निर्दोष रत्नों में से लोग निर्दोष को ही चुनेंगे। इस तरह सभी दृष्टियों से दोषहान का महत्त्व है और यथाशक्ति दोषों का वर्जन किया जाना चाहिये।

दोषस्वरूप और दोष-लक्षण

इस प्रश्न पर निश्चित रूप से कुछ कह सकना असम्भव है कि क्या सौन्दर्य नामक उत्कृष्ट जैसी किसी वस्तु की कोई स्वतन्त्र सत्ता है अथवा निकृष्ट के अभाव का नाम ही श्रेष्ठ है। दर्शनशास्त्र में इस बात का विवेचन किया गया है कि क्या बन्ध के अभाव का नाम मुक्ति है (क्योंकि शब्द का अर्थ यही है) अथवा आनन्द की प्राप्ति की वह कोई स्वतन्त्र स्थिति है। इस प्रश्न का निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति किसी वस्तु का विवेचन किस दृष्टि से करना चाहता है। भरत ने सत्रहवें अध्याय में दस दोषों को परिगणित कर उनका वर्णन किया है। और गुणों के वर्णन के पूर्व कहा है कि दोषों के उलटे गुण होते हैं। उन्होंने दोषों से प्रारम्भ किया और गुणों की परिभाषा दोषविपर्यय के रूप में दी।

एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरीभिर्नाटकाश्रयाः ।

एत एव विपर्यस्ताः गुणाः कान्येषु कीर्तिताः ॥

कहा जा सकता है कि गुण विपर्यय या गुणाभाव का नाम दोष है। आनन्दवर्धन के अनुयायी मम्मट का, जिन्होंने केवल तीन ही गुण स्वीकार किये हैं अन्य विद्वानों द्वारा मान्य शेष गुणों के संबन्ध में कथन है कि इन गुणों को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इनमें से बहुत से तो दोषाभाव ही हैं। ये सर्वस्वीकृत और प्रायः उल्लिखित दोषों के विपर्यय हैं। अष्टम प्रकाश में बहत्तरवीं कारिका में मम्मट ने कहा है—

“दोषत्यागात् परे श्रिताः ।” मम्मट ने ऐसे कुछ उदाहरण भी दिये हैं जिनमें विशिष्ट दोषों का अभाव ही गुण बन गया है। यद्यपि भरत ने गुणों और दोषों का यह सामान्य विवरण प्रस्तुत किया है फिर भी उन्होंने स्वयं इसकी समीक्षा नहीं की है। और यह नहीं कहा जा सकता कि उनके दशगुण उनके दश दोषों के विपर्यय ही हैं। वामन का यह मत है कि दोष गुणों के विपर्यय रूप ही हैं। वे कहते हैं—

दोषस्वरूप कथनाथमाह—(गुणविपर्ययात्मानो दोषाः ।) 2-1-1 गुणानां वक्ष्यमाणानां विपर्ययाः तदात्मानो दोषाः । अर्थस्तदवगमः 2-1-2 । गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषां दोषणा-मर्थादवगमोऽर्थान्तिस्त्रिः । किमर्थं ते पृथक्कृत्य प्रपञ्च्यन्ते इत्याह—सौकर्याय प्रपञ्चः । 2-1-3

गुण प्रकरण के प्रारम्भ में भी वे कहते हैं—यद् विपर्ययात्मानो दोषाः तान् गुणान् विचारयितुम् गुणविवेचनमधिकरणमारभ्यते । कामसूत्र के रचयिता का भी ऐसा ही विचार है। नायकों के गुण दोष विवेचन के प्रसङ्ग में उन्होंने कहा है—गुणविपर्यये दोषाः— का. सू. 6-1-15 पृ. 303 चौ. सं.

दोष प्रकरण के अन्त में वामन ने एक सीमा तक अपनी बात की सम्यक् पुष्टि कर

दी है क्योंकि वहाँ उन्होंने गुणों को दस शब्द गुणों और दस अर्थ गुणों की अपेक्षा जिनका निरूपण गुण प्रकरण में हुआ है और जहाँ केवल अधिक महत्त्वपूर्ण गुणों की परिभाषा और उदाहरण दिये गये हैं, अधिक बड़ा बतलाया है। प्रत्येक दोष के वर्जन से एक गुण की सृष्टि होती है। और दोष तो असंख्य हैं। अतः उनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण दोष ही प्रदर्शित किये जा सकते हैं। प्रत्येक गुण का अभाव एक दोष है। यह बात वामन द्वारा प्रत्येक गुण के प्रत्युदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। वामन ने कहा है—एते वाक्यवाक्यार्थदोषाः त्यागाय ज्ञातव्याः। ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्माः ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते। वामन ने जिन दोषों को सूक्ष्म माना है और जिन्हें गुण प्रकरण में प्रत्युदाहरणों द्वारा निर्दिष्ट किया है वे दण्डी में भी मिलते हैं। दण्डी ने एक पृथक् प्रकरण के अन्त में विशिष्ट दोषों का एक वर्ग निर्दिष्ट किया है किन्तु उनके साथ ही दण्डी ने वामन द्वारा निरूपित सूक्ष्म दोषों का भी उल्लेख किया है। ये सूक्ष्म दोष स्पष्ट ही गुण विपर्यय हैं। अन्य स्थानों के समान यहाँ भी दण्डी वामन के प्रेरणादायी रहे हैं। दण्डी ने वैदर्भी और उसके गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि इन गुणों के अपने विपर्यय भी हैं जो प्रायः गौडी शैली में पाये जाते हैं। एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि। का. अ. 1-42। दण्डी के गुण-विपर्ययों से ही प्रेरणा लेकर भोज ने अरीतिमत् नामक दोषवर्ग की सृष्टि स. क. आ. में और श्लेषादिगुणविपर्यय की श्रु. प्र. में की है। स्वरूप का सार ही लक्षण कहलाता है। अतः यदि दोष को गुणाभाव या गुण विपर्यय मान लिया जाय तो यह जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि गुण क्या है। लेखकों ने दोष की स्वतन्त्र परिभाषा भी दी है। भोज ने कहा है कि काव्य में दोषों से वचना चाहिये—“दोषाः हेयाः काव्ये” और रत्नेश्वर का कहना है कि यहाँ भोज ने दोष का सामान्य लक्षण संकेतित कर दिया—

हेयाः इत्यनेन सामान्यलक्षणम्। ये हेयाः ते दोषाः इत्यभिप्रायात्। पृ. 3। यह विचार और हेय शब्द ये दोनों भोज ने वामन से लिये हैं। श्रु. प्र. में भोज ने दोषहान पद का प्रयोग किया है जो वामन के “सदोषगुणालङ्कारहानादानाम्याम्” इस सूत्र से लिया गया है। वामन से बहुत पहले ही दण्डी ने दोष और गुण में अन्तर स्पष्ट किया था और साथ ही इन दोनों की परिभाषा भी प्रस्तुत की थी। दोषा विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये तथा—4-1। दोष नष्ट कर देते हैं और गुण सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। विपत्ति और सम्पत्ति सामान्यतया काव्योक्ति के प्रत्येक अंश पर लागू होती है थोड़ा सा परिवर्तन और विस्तार करते हुए वामन ने इस बात को यों कहा है “काव्यसौन्दर्याक्षिपहेतवः त्यागाय दोषाः ज्ञातव्याः।

वामन का कथन है कि दोष वे हैं जो काव्य के सौन्दर्य को क्षति पहुँचाते हैं। अन्य लोगों ने इस बात को और स्पष्ट रूप से कहा है कि दोष वे हैं जो कवि द्वारा प्रेषणीय विचार से मेल नहीं खाता अथवा उसकी प्रगति में सहायक नहीं होता। किसी समय कवि पाठक को रसास्वाद कराना चाहता है। या केवल शब्दमात्र का कथन करना चाहता है। और तब दोष रसदोष या केवल पददोष हो सकता है। भोज द्वारा प्रस्तुत दोष वर्णन में हेयत्व की भावना को विस्तार देते हुए रत्नेश्वर कहते हैं—अभिमत—प्रतीति—व्यवधायकतया विघ्न-भूतः (यः) शश्वत् काव्ये हेयतामासादयति स एव दोषः। मम्मट ने काव्य की आत्मा रस या मुख्यार्थ को दृष्टि में रखकर यह बात कही है और दोष को उसमें विघ्न कारक या मुख्यार्थ

हति बतलाया है। यह परिभाषा स्वभावतः शब्द और अर्थ पर भी लागू होगी क्योंकि रस शब्द और अर्थ से आवृत रहता है। रत्नेश्वर का कथन है—अयमेवार्थः—“मुख्यार्थहतिदोषः” इतिपःपदेन अन्येषामभिमतः।” केशव का भी कथन है—दोषत्वंच रसोत्पत्ति-प्रतिबन्धकत्वम्। (अलंकार शेखर 2-1 पृ. 14 चौ. सं.) और विद्यानाथ ने भी यही बात कही है— दोषः काव्यापकर्षहेतुः शब्दार्थगोचरः। यदि दण्डी के अनुसार गुण काव्योत्कर्ष हेतु या काव्यसम्पत्ति हेतु है तो दोष काव्यापकर्ष— हेतु या काव्यविपत्ति हेतु होगा ही। जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के गुण हैं उसी तरह गुण रस के धर्म हैं। और तब दोषों का रस-सम्पत्ति होना उचित ही है। रस की अनुभूति में बाधक मात्र होने के कारण उन्हें दोष कहा जाता है। यदि रसानुभूति में बाधा न पड़े तो वहाँ कोई दोष नहीं होगा। इस स्थिति से मेल खाता हुआ सिद्धांत है दोषानित्यत्व और यह इसी से निकला है। इसी से हम गुणों के उस वर्ग तक पहुंचते हैं जिसे वैशेषिक गुण या दोष-गुण कहते हैं। भोज ने इसका उल्लेख किया है और यहीं से हमें औचित्य सिद्धान्त के दर्शन होते हैं। आनन्दवर्धन ने कहा है—

श्रुतिदुष्टादयो दोषाः अनित्या ये च सूचिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥

इस पर टिप्पणी करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है—

नापि गुणोभ्यो व्यतिरिक्तत्वं दोषत्वम् । वीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्मामिरूपगमात्
शृङ्गारादौ च वर्णनाद् अनित्यत्वं समर्पितमेवेति भावः । पृ. 83

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में भी यह बात स्पष्ट की गई है। सब दोष अनित्य होते हैं, इस ग्रन्थ के गुण परिच्छेद के अन्तर्गत भोज के वैशेषिक गुणों की चर्चा के प्रसङ्ग में इस बात पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त अपने सम कानसेप्ट्स (पृ. 201-204) नामक प्रबन्ध के औचित्य शीर्षक के अन्तर्गत मैंने इस बात को विशद रूप से स्पष्ट किया है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के दोष प्रकरण के अन्त में दोषों के नित्य और अनित्य भेद मानकर उनमें अन्तर किया है। उन्होंने कहा है कि अपशब्दादिक व्याकरण दोष और भिन्नवृत्त आदि छन्दोदोष नित्य दोष हैं। श्रुतिदुष्ट, ग्राम्यता, आदि दोष अनित्य हैं क्योंकि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में वे गुण बन जाते हैं।

एकम् (षां) मध्ये तु केचिन्नित्यदोषाः । यथा—अपशब्दः । केचिद् अनित्याः यथा ग्राम्यम् हास्यादौ तस्य चेष्टतमत्वात् । पृ. 409 जिल्द 2 अभि. भा. । यह अन्तर अन्तिम नहीं है क्योंकि यह अन्तर तुलनात्मक दृष्टि से बतलाया गया है। रौद्र रस में जहाँ श्रुतिदुष्ट दोष गुण बन जाता है, अपशब्द दोष ही बना रहता है। किन्तु यदि गहराई से देखा जाय तो अपशब्द भी अनित्य दोष है क्योंकि अनुकरण की अवस्था में अपशब्द भी गुण बन जाता है। रुद्रट और भोज ने इस बात का उल्लेख किया है। जब अशिक्षित व्यक्ति के भाषण और व्यवहार को चित्रित करना होता है तो उसकी उक्ति के व्याकरण-दोष उसके चरित्र और उससे संबन्धित रस के महत्वपूर्ण निदर्शक होते हैं और इस प्रकार वे गुण बन जाते हैं। रुद्रट (6-47) की व्याख्या करते हुए नमिसाधु ने दोषों को गुणों में परिवर्तित कर देने वाले अनुकरण सिद्धान्त का प्रवर्तन करते हुए उदाहरणस्वरूप एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें कवयित्री विकटनितम्बा के अशिक्षित पति की गवारू उक्ति का चित्रण है।

तदपि पदं न दोषाय । यथा विकटनितम्बायाः पतिमुनुकुर्वाणा सखी प्राह—

काले माषं सस्ये मासं वदति शकाशं यश्च सकाशम् ।

उष्ट्रे लुम्पति रंवा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा ॥

इस प्रकार अभिमतार्थविघ्न हेतु, मुख्यार्थहति अथवा रसविघ्न पर विचार करते हुए हम दोष की एक व्यापक परिभाषा—अनीचित्य पर पहुँचते हैं। आनन्दवर्धन ने (तृतीय उद्योत) में कहा है कि औचित्य रस की आत्मा है और अनीचित्य को छोड़कर रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं होता। रसिक की भाषा में नीरस प्रबन्ध अपशब्द है। इसी प्रकार प्रत्येक अनुचित बात दोष का विषय है। इसी के अनुसार महिमभट्ट ने भी अनीचित्य को दोष कहा है।

शब्ददोषाणामनीचित्योपगमात् ।

व्य. वि. त्रि. सं. सी. पृ. 31

संग्रह कारिकाओं में भी उन्होंने यही बात कही है।

पारम्पर्येण साक्षात् च तदेतत्प्रतिपद्यते ।

कवेरजागरूकस्य रसभङ्गनिमित्तताम् ॥

यत्त्वेतत् शब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते ।

तस्य प्रकरणभेदाद्याः दोषाः पञ्चैव योनयः ॥ श्लोक 90-91 1 पृ. 32 ।

भोज ने भी संपूर्ण प्रबन्धगत दोष का वर्णन करते हुए उसे सामान्यतया अनीचित्य ही कहा है।

तत्र दोषहानमनीचित्यादिपरिहारेण—शृ. प्र. जिल्द 2 पृ. 410

आगे चलकर कुछ दोषों का पृथक् पृथक् वर्णन करते हुए भोज ने स्पष्ट किया है कि वे औचित्य की उपेक्षा के कारण ही उत्पन्न हुए हैं। यह बात इस ग्रन्थ के औचित्य शीर्षक में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। रस के साथ दोष के मौलिक संबंध पर विचार करते समय हम दोष की अधिक मौलिक परिभाषा के समीप पहुँचते हैं। रस सहृदय द्वारा संवेद्य सौन्दर्य या चमत्कार है। जिस किसी से इस आस्वाद्यता में वृद्धि होती है उसे गुण, रीति या अलंकार आदि कहा जाता है और इनमें से जो कोई रसानुभूति अथवा रसास्वाद में बाधा पहुँचाता है या सहृदय के कानों को उद्वेजक लगता है, उसे दोष कहते हैं। रत्नेश्वर ने कहा है—

सहृदयोद्वेजकत्वेन हि दोषता । स. क. आ. व्याख्या पृ. 99

इसीलिये दण्डी ने भी बतलाया है कि “स्त्रीव गच्छति षण्डोऽयम्” आदि जैसे श्लोक बड़े रुचिकर होते हैं—और उनमें लिङ्गभेद-जन्य उपमादोष की ओर कोई ध्यान नहीं देता और न यह सोचता है कि वह उनकी सौन्दर्यानुभूति में बाधक है। दण्डी का कथन है।

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकताऽपि वा ।

उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥

+

+

+

इत्येवमादौ सीभाग्यं न जहात्येव जातुचित् । 2-54 ।

2-51 ।

दण्डी की इन पङ्क्तियों से प्रेरणा लेकर केशवमिश्र ने कुछ पारम्परिक दोषों की चर्चा के पश्चात् अपने दोष निरूपण की समाप्ति यह कहकर की है कि मैंने इन दोषों के वर्णन

में प्राचीन लेखकों की शैली का अनुसरण किया किन्तु वस्तुतः केवल इतना ही कहना आवश्यक है कि कवि को ऐसे काव्य की रचना करनी चाहिये जिसका कोई अंश सहृदय के कानों को उद्वेजक न लगे—

सम्प्रदायानुरोधेन व्याख्येयं मम वस्तुतः ।

तादृक् काव्यं प्रकुर्वीत यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥

अलंकार-शेखर-2 पृष्ठ 20 काशी संस्करण

दोषों की संख्या और उनका वर्गीकरण

गौतम के नाट्यसूत्रों में दो बार दोषों की चर्चा है। हमें अलंकार ग्रन्थों के दोष प्रकरण के अन्तर्गत सुपरिचित दोषों के दर्शन इस नाट्यसूत्र में दो संदर्भों में होते हैं। प्रथम शब्द-प्रमाणखण्ड में जहाँ पूर्वपक्ष कहता है कि ज्ञानप्राप्ति में शब्द अप्रमाण है क्योंकि वह अत्यन्त व्याघात और पुनरुक्त दोषों से युक्त हो सकता है—2-1-57।

इनमें व्याघात और पुनरुक्त दोष अलंकार ग्रन्थों के दोष प्रकरणों में सामान्यतया मिलते हैं। व्याघात को भामह ने व्यर्थ और दण्डी ने पूर्वापरविरुद्ध (अर्थात् एक भाग का दूसरे से विरुद्ध होना) नाम दिया है। पुनरुक्त तो सुप्रसिद्ध ही है। भरत, भामह और दण्डी ने इसे एकार्थ कहा है। अगले सूत्रों और उनके भाष्यों में गौतम और वात्स्यायन ने इस बात को स्पष्ट किया है कि व्याघात और पुनरुक्त कहाँ और क्यों दोष नहीं होते। स्पष्ट विरोध के प्रसंगों का अर्थ अन्ततोगत्वा कुछ और हो सकता है और उन्हें कुछ और नाम दिया जा सकता है। अनुवाद के कारण होने वाली पुनरुक्ति भी दोष नहीं होती यही दोष का अन्त्यत्व अर्थात् उसकी असार्वकालिकता एवं असार्वदेशिकता है। न्यायसूत्रों और उनके भाष्य के इस भाग में दोष के गुणीभाव अर्थात् वैशेषिक गुण का विचार भी निहित है।

न्यायसूत्रों के लगभग अन्त में बहुत से दोषों की चर्चा है। किन्तु निग्रहस्थानों का परिगणन और वर्णन जिसका प्रथम उल्लेख प्रथमसूत्र में हुआ है, 5-2 में मिलता है। यहाँ विवाद के उन दोषों की चर्चा है जिनके कारण किसी पक्ष की पराजय होती है। उनमें से कुछ दोष अलंकारशास्त्र के दोष-प्रकाश में मिलते हैं यथा—

(1) अर्थान्तर—यह छठा निग्रहस्थान है। सप्तमसूत्र में इसका लक्षण दिया है “प्रकृतादर्थोद् अप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम्” (7-2)। वात्स्यायन ने इसका जो उदाहरण दिया है, वह मनोरञ्जक है। उनका कहना है कि यदि वादी असंबद्ध विषय की ओर चला जाता है, तो इस दोष से ग्रस्त होकर पराजित होता है। यदि किसी को “शब्द नित्य है” यह सिद्ध करना है तो वह इसके लिये हेतु या तर्क देता है। यदि वह इस अवसर पर हेतु शब्द की व्युत्पत्ति बतलाने लगे एवं प्रकृति और प्रत्यय का निर्देश कर उसके कृदन्त होने के पक्ष में तर्क देता हुआ विभिन्न प्रकार के पदों को प्रस्तुत करने लगे तो वह अर्थान्तर दोष का भागी होगा। भरत ने भी अर्थान्तर दोष का उल्लेख किया है जो इसी के समान है। उन्होंने इसकी परिभाषा देते हुए इसे अवर्णनीयवर्णन कहा है।

(2) निरर्थक (5-2-8)—इसमें इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग आता है जिनका कोई अर्थ नहीं है। वस्तुतः हम इन्हें शब्द भी नहीं कह सकते क्योंकि शब्द का गौरव या

मुख्य अर्थात् कुछ न कुछ अर्थ होता ही है। इस दोष में शब्द नहीं, बल्कि कुछ ध्वनि समूह ही होते हैं जो किसी सार्थक शब्द का निर्माण नहीं करते।

(3) अभिज्ञातार्थ—वह है जिसे विरोधी वक्ता अथवा श्रोता लोग समझ नहीं पाते या जो समझा नहीं जा सकता। भले ही उसे कई बार दोहराया जाय। यह अकेला नहीं बल्कि कई दोषों से मिलकर बना है। वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि कई दोष मिलकर अभिज्ञातार्थ दोष की सृष्टि करते हैं। यथा—वह्वर्थक या अस्पष्टार्थक शब्द आदि। इनमें द्वितीय अर्थात् अप्रतीत शब्द, अलंकारशास्त्र में भी मिलता है। यह भामह के “गूढ-शब्दाभिधा” (1-45, 46) से मिलता जुलता है। अप्रतीत दोष वामन के समय से ही विशिष्ट शास्त्र या तन्त्र से ही सिद्ध शब्दों के काव्य में प्रयोग के लिये सीमित हो गया था।

(4) अपार्थक (सूत्र 10) यह नवम निग्रह स्थान है “पौर्वापर्ययोगात् अप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम्” यह ऊपर वर्णित निरर्थक से भिन्न है। निरर्थक ऐसी ध्वनियों या शब्दों को कहते हैं जिनका अपना कोई अर्थ नहीं होता। अपार्थक का संबंध ऐसे वाक्य से होता है जिसका कोई अर्थ नहीं होता। यद्यपि इसके पृथक् पृथक् शब्दों का अर्थ होता है। वात्स्यायन ने कहा है—“तत्समुदायार्थस्य अपायात् अपार्थकम्” और उन्होंने इसका उदाहरण “दश दाडिमानि षड्रूपाः” आदि दिया है। यह दण्डी और भामह के अपार्थक से बिल्कुल मिलता जुलता है। भामह ने इसका लक्षण लगभग वात्स्यायन के ही शब्दों में दिया है। और उनका उदाहरण भी वही है जो वात्स्यायन का है।

समुदायार्थं शून्यं यत् तदपार्थकमिष्यते।

दाडिमानि दशापूर्वाः षडित्यादि यथोदितम् ॥4-8

(5) पुनरुक्त (2-1-57) इसका अर्थ स्वयं ही स्पष्ट है और यह सभी अलंकार-ग्रन्थों में मिलता है। गौतम और वात्स्यायन दोनों ने शब्द पुनरुक्त्य और अर्थ-पुनरुक्त्य की चर्चा की है। वात्स्यायन का अर्थपुनरुक्त्य मम्मट के अनवीकृत नामक अर्थदोष से मिलता जुलता है। इसकी चर्चा आगे होगी।

इसके आगे गौतम ने दो और दोष या निग्रह स्थान बतलाये हैं—न्यून और अधिक जिनका संबंध अंगों, प्रतिज्ञा, हेतु आदि—की न्यूनता या अधिकता से है। ये न्यूनता या आधिक्य अलंकार ग्रन्थों के दोष खण्डों में मिलते हैं। इनका संबंध पदों के प्रयोग से है—न्यूनपद और अधिकपद (देखिये रुद्रट) और साथ ही उपमालंकार और उपमा दोषों से भी इनका संबंध है।

कौटिल्य

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शासनाधिकार (2-10) में शासन अर्थात् पत्र तथा आवेदन लिखने और अभिलेख एवं दानपत्रों की चर्चा है। इन शासनों के लिखने के प्रसङ्ग में कौटिल्य ने कुछ लेखन-गुणों एवं रचना-गुणों तथा कुछ वर्ज्य दोषों की चर्चा की है। कौटिल्य ने जिन दोषों का उल्लेख किया है वे हैं अकान्तिः, व्याघातः, पुनरुक्तम् अपशब्दः, संप्लवः इति लेखदोषाः त्रि. सं. सी. जिल्द 1 पृ. 177।

इनमें अकान्ति दोष का वर्तमान चर्चा से संबन्ध नहीं है क्योंकि यह लेखन कला संबन्धी दोष है। व्याघात की परिभाषा कौटिल्य ने यों दी है—“पूर्वेण पश्चिमस्य अनुपपत्तिः व्याघातः।” और यह स्पष्ट है। यह भामह और दण्डी का व्यर्थ और पूर्वापर-व्याघात है। तृतीय दोष—पुनरुक्त भी स्पष्ट है और कौटिल्य ने इसका लक्षण दिया है—“उक्तस्य अविशेषेण द्वितीयमुच्चारणं पुनरुक्तम्।” अर्थात् निरुद्देश्य आवृत्ति। अकारण पुनरुक्ति दोष है किन्तु बात पर जोर देने तथा ऐसे ही किसी अन्य अभिप्राय से पुनर्वचन गुण है। दण्डी और भामह ने यह बात कही है। जैसा कि भोज ने कहा है, किन्हीं स्थितियों में यह वैशेषिक गुण बन जाता है। कौटिल्य की परिभाषा में “अविशेषेण” द्वारा इस बात पर बल दिया गया है।

चतुर्थ दोष—अपशब्द, लिङ्ग या वचन—संबन्धी व्याकरण दोष होता है—“लिङ्ग-वचनकालकारकाणामन्यथाप्रयोगः अपशब्दः। अन्तिम दोष संप्लव सुबोध्य नहीं है। कौटिल्य ने इसका लक्षण किया है—“अवर्गे वर्गकरणम्, वर्गे चावर्गक्रिया गुणविपर्ययः संप्लव इति।

इस परिभाषा के दो स्पष्ट पक्ष हैं। इनमें पूर्व पक्ष स्पष्ट नहीं है। इसमें वर्ग शब्द का प्रयोग हुआ है जो इसी अधिकरण में पहले भी आया है।

एकपदावरः त्रिपदपरः परपदार्थानुरोधेन वर्गः कार्यः।

त्रि. सं. सी. की अपनी अर्थशास्त्र व्याख्या में गणपति शास्त्री ने जयमङ्गला और प्रतिपदपञ्चिका इन दो प्राचीन टीकाओं द्वारा बतलाये हुए वर्ग शब्द के अर्थ को ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। जयमङ्गला टीका ने (आर. 5208, टी. 4, 191, मद्रास गवर्न. ओरि. मेनस्क्रिप्ट लायब्रेरी) अथवा टीका के अन्तिम वाक्य के अनुसार (पी. 129, 3-2 का अन्त) जिसे भिक्षु प्रभमति की व्याख्या कहना अधिक उपयुक्त होगा—मूल के वर्ग शब्द का अर्थ उपयुक्त दोनों स्थानों पर ‘समास’ किया है।

वर्गः समास इत्यर्थः। पृ. 172, असमासे समासकरणम् तथा समासेऽप्यसमासः।

अर्थशास्त्र की प्रतिपद पञ्चिका (वी. 5-47 मद्रास पाण्डुलिपि डी. 3873) में भट्टस्वामी ने पहले इसका अर्थ समास और फिर विराम किया है (पृ. 22 और 30) उनके विराम का अर्थ अनुच्छेद का विभाग या समाप्ति नहीं है जैसा कि म. म. श्याम शास्त्री ने अपने अनुवाद में समझा है। एक शब्द के साथ समास कैसे हो सकता है या एक शब्द से अनुच्छेद या पैराग्राफ कैसे बन सकता है। वर्गकरण का अर्थ समास या पैराग्राफ स्वीकार कर सकना कठिन है तीन शब्दों तक का एक पैराग्राफ नहीं हो सकता “त्रिपदपर”। संभवतः वर्ग का अर्थ है एक शब्द और दूसरे शब्द अथवा एक शब्द समूह और दूसरे शब्द समूह के बीच विराम। संभवतः कौटिल्य का आशय यह है कि लेखक को प्रत्येक शब्द या कम से कम हर तीन शब्दों के बाद कुछ स्थान छोड़ना चाहिए। यदि वर्ग का अर्थ समास हो तो उससे संबन्धित दोष साहित्यिक होगा। और यदि इसका संबन्ध पैराग्राफ या अन्य किसी विराम से हो तो इसका संबन्ध अकान्ति नामक प्रथम दोष के समान लिखावट से माना जायगा। यह स्वीकार करना होगा कि उपर्युक्त अर्थों में से कोई भी संतोषप्रद नहीं है।

संज्ञक का दूसरा पक्ष स्पष्ट है। यह दण्डी के गुणविपर्यय, वामन के सूक्ष्मदोष और भोज के अतीतिमत् के सदृश है। कौटिल्य ने इसे लेख गुणों का जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, विपर्यय कहा है। कौटिल्य ने अर्थक्रम, संबन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य और स्पष्टत्व ये गुण गिनाये हैं। गुण अध्याय देखिये। मामह, दण्डी तथा अन्य लेखकों ने अर्थ के विपर्यास को अपक्रम कहा है। कौटिल्य ने संबन्ध की परिभाषा “आगे आने वाले अर्थ के द्वारा पूर्वार्थ का अवरोध” यह बतलाई है। इसका विपर्यास वही व्याघात होगा जो पृथक् और स्वतन्त्र रूप से दोष बतलाया गया है। संबन्ध का वर्णन करने वाले कौटिलीय ग्रन्थ से हम विपर्यास की परिभाषा बना सकते हैं—“प्रस्तुतस्य अर्थस्य उत्तरेण उपरोधः।” परिपूर्णता नामक तृतीय गुण के एक से अधिक पक्ष हैं—अर्थ पद और अक्षर की अन्यूनानतिरिक्तता। इसका विपर्यास इन तीनों की न्यूनता या आधिक्य होता है। अलंकार ग्रन्थों के दोष प्रकरण में न्यूनपद और अधिकपद नामक दोष मिलते हैं। उदाहरणार्थ—रुद्रट के 2-8 को ले सकते हैं। अक्षर की न्यूनता और आधिक्य स्पष्ट नहीं हैं। यदि यह छन्दो-दोष हो तो बात समझ में आ सकती है। संभवतः इसका संबन्ध लेखन-कला से है, शासन रचना से नहीं। (2) परिपूर्णता का दूसरा पक्ष है तर्कों और उदाहरणों के द्वारा बात का पूरा और स्पष्ट प्रतिपादन। परिपूर्णता के इस पक्ष का कोई ऐसा निश्चित विपर्यास जो किसी अलंकारदोष से मेल खाता हो, नहीं बतलाया जा सकता। हो सकता है कोई इसके लिए रुद्रट के अपुष्टार्थदोष का उल्लेख करे। (3) अश्रान्तपदता—संभवतः यह अर्थ प्रेषण के लिए समर्थ शब्दों या उक्ति का नाम है। जयमङ्गल ने इसकी व्याख्या “अक्लिष्ट-पदता” की है और इसे सुश्लिष्ट अथवा सुबद्ध उक्ति का गुण माना है। जो असमर्थ एवं बिखरी हुई उक्ति से ठीक उलटी होती है। गुणाध्याय देखिए। हम श्रान्तपदता को इसका विपर्यय मान सकते हैं। अर्थ की सुखोपनीतता और चारुता इन दोनों को माधुर्य कहते हैं। इसका ठीक उलटा जिसे हम सरलता से अमाधुर्य कह सकते हैं अनाकर्षक शब्दों द्वारा व्यक्त खींचतान कर और कष्ट के साथ उपलब्ध अर्थ है। अग्राम्य अथवा संस्कृत शब्दों के प्रयोग को औदार्य कहते हैं। ये शब्द क्षेत्र विशेष में ही प्रयुक्त भद्दे और गवारू नहीं होने चाहिये। इसका उलटा असभ्य कथन हो सकता है। इसे हम ग्राम्य-शब्द कह सकते हैं। स्फुटत्व सुप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग का नाम है। इसे दण्डी ने प्रसाद कहा है। “प्रतीतशब्दप्रयोगः स्पष्टत्वम् इति” इसका उलटा है अप्रतीत शब्द जिसे वामन ने अप्रतीत और दण्डी ने (1-46) व्युत्पन्न और अनतिरुद्ध शब्द कहा है।

उपर्युक्त विवेचन कौटिलीय अर्थशास्त्र के शासनाधिकार में वर्णित गुणों एवं दोषों के अर्थ को स्वतन्त्र समीक्षा है। भिक्षुक प्रभमति की शब्दार्थानुक्रमणी और अर्थशास्त्र की प्रतिपदपञ्चिका टीका में इनमें से कुछ गुणों और दोषों के ये ही अर्थ नहीं बतलाये हैं।

अनुयोगद्वार

जैनों के अनुयोगद्वार¹ के पृ. 261 की पादटिप्पणी ‘अ’ में 32 वर्णनीय दोषों की चर्चा

(1) आगमोदय समिति सीरीज में हेमचन्द्र के संस्कृत कोष के साथ प्रकाशित। यह हेमचन्द्र काव्यानुशासन के रचयिता हेमचन्द्र के समकालीन किन्तु उनसे बड़े थे।

है। इनमें से कुछ नीतिशास्त्र, कुछ तर्कशास्त्र और कुछ साहित्य से संबन्धित है।

अनृत-सत्य को छिपाकर असत्य बात कहना।

उपघातजनक—जीवित प्राणियों की हिंसा का प्रेरक। जैसे-पशुबलि संबन्धी वैदिक विधान।

निरर्थक—अर्थहीन ध्वनियों का संघात।

अपाथक—स्वयं में अर्थवान् होते हुए भी अर्थयुक्त वाक्य का निर्माण न करने वाले शब्द।

चल—अस्थिर।

द्रुहिल—नैतिकदोष (जिसमें द्रोह निहित है?) जैसे द्वितीय दोष।

निस्सार—तुच्छ एवं तर्कानुकूलता से विरहित। (युक्तिरहितम्, परिफलम्)

अधिक—इसमें दो दोष सम्मिलित हैं। अत्यधिक छन्दोमयता अथवा अत्यधिक शब्दों का प्रयोग।

ऊन—छन्दोदृष्टि से अक्षरों की कमी, अपर्याप्त कथन तथा हेतु और दृष्टान्त की दृष्टि से अपर्याप्त। इस प्रकार इसमें तीन दोष सम्मिलित हैं छान्दसिक, साहित्यिक और तार्किक।

पुनरुक्त—आवृत्ति। यह शब्द और अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार की है।

व्याहत—परस्पर असंबद्ध पूर्वापर व्याघात।

अयुक्त—प्रायेण असंभाव्य, अनुपपत्तिक्षम।

क्रमभिन्न—जिसमें उचित क्रम न हो।

वचनभिन्न—जिसमें वचन का औचित्य न हो।

विभक्तिभिन्न—जिसमें विभक्तियों का उचित प्रयोग न हो।

लिङ्गभिन्न—जिसमें वेमेल लिङ्ग का प्रयोग हो।

अनभिहित—ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन जो किसी आगम या शास्त्र से संबद्ध न हो।

अपद—छन्दोदोष जिसमें उपयुक्त छन्द के स्थान पर अन्य छन्द का प्रयोग हो-अन्यत्-

छन्दः।

स्वभावहीन—लोकविरुद्ध अर्थात् स्वभाव के प्रतिकूल।

व्यवहित—मूल प्रतिपाद्य से हटकर अन्य बात की चर्चा।

कालदोष—अशुद्ध काल लकार अथवा कृत् का प्रयोग।

यतिदोष—उचित स्थान पर विराम का न होना।

छविदोष—यह वर्ण या अलंकार से विरहित होना है। कोष में छवि को अलंकार विशेष भी कहा है। इस प्रकार यह पीछे माने जाने वाले निरलंकार का ही दूसरा नाम है। अथवा यहाँ इससे कोई विशेष अलंकार अभिप्रेत है?

समयविरुद्ध—यह अनभिहित के समान है। अनभिहित में किसी शास्त्र या सम्प्रदाय के नाम पर ऐसी बात कही जाती है जो उसकी नहीं होती किन्तु इसमें किसी आगम या शास्त्र की बात को अशुद्ध ढंग से प्रस्तुत किया जाता है।

निर्हेतुक—किसी बात को बिना तर्क से समर्थित किये यों ही कह देना ।

अर्थापत्तिदोष—दूसरा तर्क संबन्धी दोष ।

समासदोष—स्पष्ट ही है ।

उपमादोष—इसके अन्तर्गत तीन दोष आते हैं—हीनोपमा, अधिकोपमा, और अनुपमा । अनुपमा अशुद्ध उपमा देने का नाम है ।

रूपकदोष—यह रूपक अलंकार से संबन्धित नहीं है यद्यपि नाम से ऐसी भ्रान्ति होती है । यहाँ रूपक का अर्थ है रूप या आकृति । किसी वस्तु के स्वरूप का ठीक वर्णन न करने से प्रस्तुत दोष होता है ।

निर्देशदोष—कहे हुए शब्दों में एकवाक्यता का अभाव । इसके उदाहरण स्वरूप ऐसा वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें क्रिया न हो ।

पदार्थदोष—प्रस्तुत शब्द के पर्याय के द्वितीय अर्थ पर आधारित मिथ्या तर्क ।

संधिदोष—स्पष्ट ही है ।

सहाभारत

(अध्याय 325 कुम्भकोणम् सं., अध्याय 320 चित्रशाला प्रेस सं. और अध्याय 308 भण्डार. ओरि. रि. इं. तुलनात्मक संस्करण) के शान्तिपर्व में आये हुए मुलभा-जनक संवाद के 87-90 श्लोकों में उक्ति के गुणों और दोषों की चर्चा है । उसमें निम्नलिखित दोषों का पता चलता है—अपेतार्थ, भिन्नार्थ, न्यायविरुद्ध, अधिक, अश्लक्ष्ण, संदिग्ध, गुर्वक्षर, पराङ्मुखपद, अनृत, त्रिवर्गविरुद्ध, असंस्कृत, न्यून, कष्टशब्द, विक्रम या व्युत्क्रम, सशेष (अपूर्ण) निष्कारण (अप्रयोजन), अहेतुक (युक्तिरहित) । भ. ओरि. रि. इं. सं. में न्यायविरुद्ध के स्थान अपवृत्त का उल्लेख है जो छन्दोदोष होता है । चित्रशाला सं. में पराङ्मुखपद के स्थान पर पराङ्मुखसुख शब्द मिलता है । जिसका व्याख्या ग्राम्य की गई है । भण्डारकर ओरि. सं. में पराङ्मुख सुख का उल्लेख है जिसे 'अस्थाने' कहकर व्याख्यात किया गया है । चित्रशाला सं. के सशेष के स्थान पर कुम्भ. सं. में सदोष शब्द है जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता । सशेष के पश्चात् चित्रशाला और भ. ओरि. सं. में अनुकल्पेन शब्द आया है जिसकी व्याख्या नीलकण्ठ ने लक्षण (!) की है । कुम्भ सं. में इसके स्थान पर "अधिकल्पेन" पाठ है । नीलकण्ठ ने अपनी व्याख्या में क्लिष्ट दोष का विवेचन किया है किन्तु मूल में कहीं इसका पता नहीं चलता । अब हम अलंकारशास्त्र के लेखकों पर दृष्टि डालेंगे । इनमें सबसे पहले भरत है ।

भरत

भरत ने सत्रहवें अध्याय में दस दोषों का उल्लेख किया है—गूढार्थम्, अर्थान्तरम्, अर्थहीनम्, भिन्नार्थम्, एकार्थम्, अभिप्लुतार्थम्, न्यायापेतम्, विषमम्, विसन्धि, शब्दच्युतम् । इनमें अन्तिम का नाम शब्दहीन भी है । इनमें अन्तिम चार स्पष्ट ही हैं । न्यायापेत तर्क-विरुद्ध अर्थात् जगत् में दृश्यमान वास्तविकताओं के विरुद्ध होता है । इसमें भामह के अन्तिम दोनों दोष देश-काल-कला-लोक न्यायागमविरोधी और प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्तहीन समा जाते

हैं। इनमें प्रथम को दण्डी और वामन ने स्वीकार किया है। वामन ने इसे दो भागों में बाँट दिया— लोक-विरुद्ध और विद्या-विरुद्ध। भोज ने इन सब दोषों को विरुद्ध नामक एक ही अर्थदोष के अन्तर्गत रखा है। भरत ने न्यायापेत को प्रमाणपरिवर्धित कहा है और प्रमाण कला और विज्ञान दोनों ही है। ठीक वैसे ही जैसे यह जगत् विज्ञान कला और साहित्य का मूलाधार है। विषम का अर्थ स्पष्ट नहीं है। यह एक छन्दोदोष है।

वृत्तदोषो भवेद्यत्र विषमं नाम तद्भवेत् ।

उसके अन्तर्गत वाद के दोनों दोष भिन्नवृत्त और यतिभ्रष्ट समा जाते हैं। न केवल ये ही अपितु अनुचित छन्द का चयन भी विषम के अन्तर्गत छन्दोदोष होगा क्योंकि क्षेमेन्द्र जैसे परवर्ती लेखकों ने (अपने सुवृत्ततिलक में) और कात्यायन जैसे पूर्ववर्ती लेखकों (मेरे जे. ओ. आर. जिल्द 6 पृ. 222-223 में प्रकाशित “राइटर्स कोटेड इन हिन्दी अभिनव-भारतों” शीर्षक लेख के अनुसार अभिनवभारती में उद्धृत) ने कहा है कि रस और अर्थ की दृष्टि से छन्दों में औचित्य अथवा अनौचित्य होता है। वृत्तौचित्य या वृत्तध्वनि होती है। विषम दोष वहाँ होगा जहाँ छन्द का औचित्य न हो। महिमभट्ट का कहना है कि वृत्त का दुःश्रवत्व अनौचित्य माना जाता है। और यह एक शब्ददोष है “दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव”। व्यक्तिवि. 2-37 विसंधि या तो व्याकरणिक संधि के अभाव को अथवा अशुद्ध व्याकरण-संधि को कहते हैं। यह दोष सभी पञ्चाद्वर्ती लेखकों में पाया जाता है। भरत के ग्रन्थ की परिभाषा स्पष्ट नहीं है—

अनुप्रतिष्ठाशब्दं यत् तद् विसन्धीति काशितम् ।

भरत ने शब्दच्युत या शब्दहीन की परिभाषा “अशब्द” की है। यह अनुचित शब्द हो सकता है जो साहित्यिक दोष है। इसका संबंध व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्दों और प्रयोगों से भी संभव है। जब किसी विचार को ठीक तरह से अत्यन्त उपयुक्त शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जाता तो उनकी शुद्धता और शक्ति नष्ट हो जाती है, रस और अर्थ की दृष्टि से वह अपशब्द होता है, कुन्तक ने कहा है—

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमितिद्यपि ।

तथापि काव्यमार्गोऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः ॥

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु स स्वपि ।

अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ।

स शब्दः काव्ये, यस्तत्समुचितसमस्तसामग्रीकः । व.जी 1-8,9

किन्तु भामह, दण्डी तथा अन्य लेखकों ने शब्दहीन का जो अर्थ माना है उसे देखते हुए हम ये कह सकते हैं कि इससे भरत का भी आशय व्याकरण-दुष्ट शब्दों से था।

अब दूसरे दोषों की ओर ध्यान दें। गूढार्थ का अर्थ पर्यायशब्दाभिहित किया गया है। इस अर्थ की अपेक्षा तो मूल शब्द ही सरल है। संभवतः इसका संबंध उन प्रसंगों से है जहाँ अस्पष्ट पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग के कारण अर्थ अस्पष्ट हो जाता है। तथा इस कारण उक्ति में प्रसाद गुण का अभाव होता है। रूपक में ऐसी उक्तियाँ जिनका प्रयोग बहुत कम होता है और ऐसे पर्याय जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है विशेषतया वर्णनीय हैं। रूपकों में सुप्रसिद्ध और

सुबोध शब्दों का ही प्रयोग किया जाना चाहिये । भरत ने 17-123 में फिर जोर देकर कहा है कि नाटक या रूपक में गूढ शब्दार्थहीन अर्थात् अस्पष्टार्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये । भामह ने भी प्रथम अध्याय में गूढ-शब्दाभिधान दोष की चर्चा करते हुए कहा है—

गूढशब्दाभिधानं च न प्रयोज्यं कथंचन ।

मुधियामपि नैवेदमुपकाराय कल्पते ॥

उन्होंने एक ऐसा श्लोक भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है जिसके अर्थ का बोध बड़ी कठिनाता से होता है । भोज के गूढार्थ नामक पददोष की परिभाषा और उदाहरण से भरत और भामह की बात सरलता से समझ में आ जाती है—

गूढार्थमप्रसिद्धार्थ-प्रयोगं ब्रुवते बुधाः ।

स. क. आ. 1-2 ।

उदाहरण के श्लोक में लोक में अप्रयुक्त असाधारण पर्यायों का प्रयोग है । उदाहरणार्थ-नेत्र के अर्थ में 'गो' शब्द का प्रयोग, जो सामान्य नहीं है । भरत ने अर्थान्तर का लक्षण "अवर्ण्य-वर्णन" बतलाया है । अर्थात् ऐसा वर्णन जो या तो किया नहीं जाना चाहिये अथवा जो अनावश्यक हो । यह वस्तुतः छोटा, पददोष नहीं है । इसका साहित्यिक महत्त्व कहीं अधिक है क्योंकि इसके क्षेत्र में सभी अवाञ्छित कथन आ जाते हैं । जब हम यह अनुभव करते हैं कि कथन में ऐसी ही बातों का समावेश किया जाना चाहिये या वही बात कही जानी चाहिये जो रस-निष्पत्ति में सहायक होकर अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध कर सके तो वे शब्द अर्थ और रचना के अंश, जिनका विशेष उपयोग न हो, अर्थान्तर माने जायेंगे । मैंने इस दोष के संबन्ध में अपने "सम कान्सेप्ट्स" में औचित्य के विवेचन के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक चर्चा की है । महिमभट्ट ने इसे अवाच्य-वचन और वाच्यावचन नाम दिया है जिसका अर्थ है अनावश्यक का वर्णन और आवश्यक का अवर्णन ।

अर्थहीन—इस दोष की भरतकृत परिभाषा अस्पष्ट है ।

अर्थहीनं त्वसंबद्धं सावशेषार्थमेव च ।

भामह दण्डी तथा अन्य लेखकों ने एक अपार्थ नामक दोष की चर्चा की है । यह सूढ या विक्षिप्त व्यक्ति के निरर्थक प्रलाप जैसा है ।

समुदायार्थ-शून्यं यत् तदपार्थकमिष्यते ।

दाडिमामि दशापूपाः षडित्यादि यथोदितम् ॥ भामह-4-8 ।

निश्चय ही इसे असंबद्ध और अर्थहीन कह सकते हैं ।

भिन्नार्थ-भरत ने इस दोष का वर्णन दो प्रकार से किया है । प्रथमतः वे इसे असम्य, और ग्राम्य बतलाते हैं । पश्चाद्बर्ती लेखकों ने इस दोष के अनेकों भेद किये हैं । भरत ने भिन्नार्थ की दूसरी परिभाषा निम्न प्रकार से दी है ।

विवक्षितेऽन्य एवार्थे यत्रान्यार्थोऽभिधीयते ।

भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः ॥

यहाँ ग्रन्थ का पाठ दूषित प्रतीत होता है । मैंने स्वयं सुधार कर उपर्युक्त पाठ प्रस्तुत किया है । जब कोई व्यक्ति एक बात कहना चाहे किन्तु वास्तव में ऐसी बात कही जाय

जिसका अर्थ कुछ और हो और प्रायः उससे बिलकुल ठीक उलटा हो तो वहाँ भिन्नार्थ दोष होता है। भोज ने इसे विरुद्धपददोष कहा है।

विपरीतं विरुद्धार्थप्रकल्पनमिहोच्यते ।

जब कोई अनुत्तम शब्द का प्रयोग करता है तो उसका आशय सर्वोत्कृष्ट या निकृष्टतम से हो सकता है। अकार्यसुहृत् के दोनों अर्थ हो सकते हैं—अव्याजमित्र तथा पाप में साथी। अभिनवगुप्त ने इस पङ्क्ति को ज्यों का त्यों ले लिया है, मेरे द्वारा सुधारे रूप में नहीं। फिर भी अर्थ एक ही है।

एकार्थ—भामह और दण्डी दोनों ने इसे यही नाम दिया है। यह पुनरुक्त का पर्याय है।

अभिप्लुतार्थ—इसकी व्याख्या भरत ने निम्न प्रकार से दी है—

अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पादेन समस्यते ।

यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है। अभिप्लव का अर्थ है भरकर वह निकलना। यहाँ ऐसा भी कुछ नहीं है जो अनुमान में सहायक हो सके और न परवर्ती लेखकों ने कोई ऐसी बात कही है जिससे भरत के अभिप्लुतार्थ पर कुछ प्रकाश पड़ सके। मेरा विचार है कि यह वाद में आये हुए असंशय का ही नाम है।

भरत द्वारा बताये हुए अन्य दोषों में से किसी का भी संशय से कोई संबन्ध नहीं है। मैंने ऊपर भरत के मूल पाठ पर विचार किया है। यह पाठ इसी रूप में प्राप्त होता है। और मैंने इसे ही दृष्टि में रखा है। मैंने इसका जो अर्थ समझा, वही ऊपर दिया है। अब आइये देखें कि अभिनवगुप्त ने भरत के इन दोषों का क्या अर्थ समझा है। अभी गुण परिच्छेद में हम देखेंगे कि अपनी अभिनवभारती में गुणों और दोषों के विषय में अभिनवगुप्त ने पूर्णतया वामन का अनुसरण किया है। अभिनवगुप्त ने भरत के गूढार्थ को वामनप्रोक्त नेयार्थ (कल्पितार्थ) माना है। उन्होंने वामन के एकार्थ या उक्तार्थ के उदाहरण को भरत के अर्थान्तर के लिये प्रस्तुत किया है जो ठीक तरह समझ में नहीं आता।

अभिनवगुप्त ने कहा है कि अवर्ण्य वर्णन से भरत का आशय एक वाक्यदोष से है। और जिस व्याख्याकार ने इसे प्रबन्धदोष मान लिया उसने भूल की है और काव्य का प्रबन्ध दोष जिसमें अनावश्यक या अप्रासंगिक वर्णन आते हैं संधि संध्यङ्गों के अन्तर्गत विचार का विषय है। अभिनवगुप्त ने अर्थहीन को वामन का व्यर्थदोष माना है। अर्थहीन की भरतकृत परिभाषा के दो अङ्ग हैं—“अर्थहीन ह्यसंबद्धं सा त्वशेषार्थमेव च।” इसमें पहला असंबद्ध स्पष्ट ही है। और ऊपर इसकी व्याख्या दी जा चुकी है। द्वितीय को अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार इस प्रकार सुधारा जा सकता है—“सावशेषार्थमेव चा” अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए इसे संदिग्ध कहा है जो वामन द्वारा वर्णित एक दोष है।

जिसमें महापदम् जैसे एक शब्द का अर्थ उच्च स्थान और उसका ठीक उलटा महापतन दोनों हो सकते हैं किन्तु ऐसे स्थलों में संदर्भ के सहारे एक सीमा तक अर्थबोध हो सकता है। अर्थ-बोध के लिये संदर्भ के आश्रय लेने को सावशेषार्थत्व कहा है।

अत्र हि सावशेषः प्रकरणापेक्षः वस्तुनिश्चयः। अभिगम्यवशादिति अपि संभाव्यत्वात् ।

अभिनवगुप्त ने भिन्नार्थ को तीन दोषों का मिश्रण माना है ।

(1) दूरसम्बन्ध-व्यवधान—इस दोष के लिये अभिनवगुप्त ने जो उदाहरण दिया है वह वामन, भामह और दण्डी में नहीं मिलता । यह वामन के क्लिष्टदोष के कुछ समीप है । और क्लिष्ट का अर्थ है व्यवहितार्थप्रत्यय । किन्तु भिन्नार्थ का यह प्रथम रूप भरत में नहीं मिलता । नाट्यशास्त्र में इसके केवल दो ही रूप प्राप्त होते हैं । संभवतः अभिनवगुप्त के पाठ में “भिन्नार्थम् अभिविज्ञेयम्” के स्थान पर कोई अन्य शब्द रहे होंगे जिनका अर्थ दूरसम्बन्ध व्यवधान होता होगा ।

(2) द्वितीय भेद है ग्राम्य और असभ्य ।

(3) और तीसरा है एक ही वाक्य में दो विचारांशों का परस्पर-विरोधी होना—“विवक्षितोऽयं एवार्थः यत्राऽन्यार्थेन भिद्यते ।” “स्याच्चेदेष न रावणः” इत्युक्त्वा “क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः” इति । उद्दिष्टं ह्यत्र रावणस्य अनुपादेयत्वम् । वव पुनरित्यनेन अन्यथा-करणाद् भेदितम् । पृ. 409 अभि. मा. ।

मैंने ऊपर भरत के “यत्पादेन समस्यते” इस पाठ का उल्लेख किया है जिसमें अभि-प्लुतार्थ की परिभाषा दी गई है । यह पाठ अस्पष्ट है । अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में इसे “यत्पादेषु समाप्यते” माना है ।

अभिप्लुतार्थं यथा—स्सराजा नीतिकुशलः सरः कुमुदशोभितम् ।

सर्वप्रिया वसन्तश्रीः श्रीधमे मालतिकागमः ॥

अत्र प्रतिपदम् (प्रतिपादम्) अर्थस्य परिसमाप्तत्वाद् अभिप्लुतम् । एकवाक्यत्वेन निमज्जनाभावाद् । अभि. भा. पृ. 409 ।

किन्तु भरत का आशय ठीक ऐसा नहीं प्रतीत होता । यहाँ अभिनवगुप्त ने वामन से कुछ नहीं लिया है । जो कुछ उन्होंने कहा है वह अपार्थ नामक दोष है । भामह और दण्डी ने इसे समुदायार्थ शून्य कहा है । फिर यह भरत के अर्थहीन या असंबन्ध से भिन्न नहीं है । न्यायापेक्ष देशकालकलाशास्त्रविरुद्ध माना गया है । विषम विसन्धि और संबन्ध के विषय में अभिनवगुप्त मेरे उपर्युक्त कथन से सहमत हैं । यद्यपि बहुत से ऊपर संकेतित स्थल हैं जहाँ उन्होंने वामन से सहायता न लेकर केवल अपनी कल्पना का आश्रय लिया है । फिर भी दोषों के संबन्ध में अभिनवगुप्त ने केवल वामन का अनुसरण किया है । भरत के “एत एव (दोषाः) विपर्यस्ताः गुणाः काव्येषु कीर्तिताः” इस अंश पर टिप्पणी करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि दस दोषों के दस विपर्यय होते हैं । वे ही दस गुण हैं । किन्तु इन दस दोषविपर्यय गुणों के अतिरिक्त श्लेष आदि दस और भी हैं तथा वे भी गुण हैं । सत्रहवें अध्याय के दोष प्रकरण में बताये हुए दस दोषों के अतिरिक्त भरत ने सिद्धि-विषयक सत्ताईसवें अध्याय में कुछ और भी दोष बतलाये हैं जहाँ उन्होंने नाट्य प्रयोग के गुण दोषों पर विचार करने वाले निर्णायकों की चर्चा की है । प्रयोग का एक महत्त्वपूर्ण विभाग होता है नाट्यकृति और उसके दोष हैं —

पुनरुक्तं ह्यसमासो विभक्तिभेदो विसन्धयोऽपार्थाः ।

त्रिलिङ्गजाश्चदोषाः प्रत्यक्षपरोक्षसम्मोहः ॥

छन्दोवृत्तत्यागः गुरुलाघवसंकरो यतेर्भेदः ।

एतानि स्थूल (?) घातस्थानानि काव्यस्य ॥

इनमें पुनरुक्त वही है जो सत्रहवें अध्याय में वर्णित एकार्थ है। उपर्युक्त अपार्थ भी सत्रहवें अध्याय में उल्लिखित अर्थहीन ही है। सत्रहवें अध्याय के विसंधि दोष को यहाँ उसी नाम से दोहरा दिया गया है। असमास दोष का अर्थ स्पष्ट नहीं है। संभवतः इसका अर्थ है अशुद्ध समास क्योंकि समास विधान के अपने नियम होते हैं। विभक्ति भेद और त्रिलिङ्गज दोष व्याकरणिक भूलें हैं जिनका संबन्ध विभक्ति रूपों एवं लिंगों से है। तीसरी संपूर्ण पंडक्ति का संबन्ध छन्दों-दोषों से है। 17 वें अध्याय में इन सबके लिये केवल एक नाम दिया गया है—विषम। परवर्ती लेखकों ने इसके लिये अलग-अलग दो नाम दिए हैं। भिन्नवृत्त और यतिभ्रष्ट। एक और दोष है प्रत्यक्ष-परोक्षसम्मोह—इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। संभवतः इसका संबन्ध काल और लकार विषयक व्याकरणिक दोषों से है क्योंकि जब विभक्ति रूपों पर विचार किया गया है और विभक्ति भेद की भी गणना कर दी गई है। तो आशा की जाती है कि घातुरूपों का भी उल्लेख किया गया होगा। अतः प्रत्यक्षपरोक्षसम्मोह का अर्थ भूत और वर्तमान संबन्धी भ्रान्ति माना जा सकता है।

भामह और दण्डी

भामह ने अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के अन्त में और फिर ग्रन्थ के लगभग अन्त में एक स्वतंत्र खण्ड में दोषों की चर्चा की है उन्होंने 1-37 में छः दोष बताये हैं—नेयार्थ क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्, और गूढशब्दाभिधा। 34-46 श्लोकों में इन दोषों की व्याख्या की गई है 47 वें श्लोक में कुछ और दोष बताये गये हैं—

श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, और श्रुतिकष्ट। इन दस दोषों का उल्लेख करने के पश्चात् कि किस प्रकार ये दोष कभी-कभी गुण बन जाते हैं (श्लोक 54-58) चौथे अध्याय में भामह ने निम्न दोष भी बताये हैं—अपार्थ, एकार्थ, ससंशय अपेक्षम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, विसंधि, देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि और प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टान्तहीन। चौथे और पाँचवें अध्यायों में इन दसों दोषों का विवेचन है। इनमें से प्रथम अध्याय में प्रथम सूची के अन्तर्गत वर्णित अयुक्तिमत् दोष द्वितीय सूची के लोकविरुद्ध नामक नवम दोष के अन्तर्गत दिया जा सकता है। क्योंकि अयुक्तिमत् का उदाहरण भेद्यो तथा ऐसे ही निर्विषय पदार्थों और यहाँ तक कि पक्षियों द्वारा भेजा हुआ प्रणय संदेश बतलाया गया है। भामह का नेयार्थ दोष वही है जो भरत का गूढार्थ और वामन का कल्पितार्थ, नेयार्थ एवं क्लिष्ट दोष भी वामन ने भामह से लिया है। और उसकी परिभाषा भी भामह के शब्दों में ही दी है। यह व्यवहितार्थ-प्रत्यय है। वामन द्वारा दी हुई अन्यार्थ की परिभाषा का, हरदास सो. में प्रकाशित काव्य. अ. के मुद्रित सं. में मिलती है। अन्यार्थवियोगे यथा—

विजह्नु स्तस्य ताः शोकं क्रीडायां विहृतं च तत् । एक अन्य पाठ भी मिलता है—

“अन्यार्थ—विगमे यथा ।” फिर भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता । लेखक कहता है—
“विजह्नुस्तस्य ताः शोकम्” जिसका अर्थ हुआ कि उन्होंने उसका शोक दूर किया ।

किन्तु क्रिया का शुद्ध रूप होना चाहिये “जह्नुः” और विपूर्वक ह का अर्थ है—
खेलना, विहार, विहरण आदि । वामन के अन्यार्थ का भामह के इस अन्यार्थ के साथ मेल बैठ जाता है । अवाचकम् का अर्थ है अवाचक शब्द, ऐसा शब्द जो अर्थ से मेल न खाता हो अथवा जिसका अर्थ से मेल खा सकना कठिन हो । उदाहरणार्थ—“हिमापहामित्रधर” का अर्थ है बादल । हिमापह अग्नि को कहते हैं जो कोहरे को हटाती है । उसका अमित्र अर्थात् शत्रु है जल जो अग्नि को बुझाता है और उसे धारण करने या ले जाने वाला मेघ होता है । यदि यह अवाचक दोष है तो यह पर्यायाभिधान या नेयार्थ या कल्पितार्थ से बहुत अधिक भिन्न नहीं है । साथ ही इसे व्यवहितार्थ प्रतीति वाले क्लिष्टदोष से पृथक् नहीं किया जा सकता । वामन ने भामह के क्लिष्टदोष को स्वीकार किया है और अवाचक को अनावश्यक मानकर छोड़ दिया है । तर्कहीन कल्पना का नाम अयुक्तिमत् है—जैसे बादल को दूत बनाना । यह पददोष या वाक्यदोष नहीं, अपितु प्रबन्ध-दोष है । अन्तिम है गूढशब्दाभिधान जिसे वामन ने गूढार्थ कहा है । उन्होंने इसकी परिभाषा “अप्रसिद्धार्थ-प्रयुक्त” अर्थात् किसी शब्द का उससे कम प्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग, बतलाई है । यदि किसी शब्द के दो अर्थ हों और उनमें से एक अधिक तथा दूसरा कम प्रसिद्ध हो तो कम प्रसिद्ध अर्थ के प्रयोग में गूढशब्दाभिधान दोष होगा । किन्तु भामह के उदाहरण (1-46) से पता चलता है कि अप्रयुक्त और अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग गूढ शब्दाभिधान है । भामह के द्वितीय वर्ग के चार दोषों में तीन प्रकार के दुष्ट और एक कष्ट है । विसर्ग, उद्गार, आदि शब्दों का प्रयोग, जिनका एक भद्दा अर्थ भी होता है श्रुतिदुष्ट के अन्तर्गत आता है । अर्थदुष्ट कोई संपूर्ण वाक्य होता है । जिससे दूसरा जुगुप्सित अर्थ निकले । श्रुतिदुष्ट में अश्लीलता एक शब्द में सीमित होती है । अर्थदुष्ट में शब्दों का कोई दूसरा भद्दा अर्थ नहीं होता किन्तु कुल मिलाकर पूरा वाक्य जुगुप्सित और गंवारु अर्थ को उत्पन्न करता है । तीसरा कल्पनादुष्ट नामक दोष भी अश्लील या ग्राम्य दोष है । इसमें न तो एक शब्द और न पूरा वाक्य ही जुगुप्सित अर्थ के लिये उत्तरदायी होता है अपितु वाक्य में शब्दों का असावधानी से विन्यास इस दोष को उत्पन्न करता है । इसमें एक शब्द का एक भाग दूसरे शब्द के किसी भाग से मिलकर अश्लील अर्थ वाले शब्द का निर्माण करता है । श्रुतिकष्ट में वे ध्वनियाँ आती हैं जो कठोर होने के कारण कर्णकटु लगती है ।

अब तृतीय वर्ग के दस दोषों की चर्चा करें । विक्षिप्त या उन्मत्त व्यक्ति के असंबद्ध प्रलाप का नाम अपार्थ है । उसके शब्दों से किसी वाक्य की सृष्टि संभव नहीं होती । व्यर्थ का अर्थ है विरुद्धार्थ । अर्थात् ऐसा वाक्य जिसमें एक भाग दूसरे भाग का खण्डन करता है । इसे पूर्वापरव्याघात कहते हैं । एकार्थ का अर्थ है आवृत्ति दोष और ससंशय संदेह युक्त उक्ति का नाम है । वस्तुओं के वर्णन में स्वाभाविक क्रम के परित्याग को अपक्रम कहते हैं । शब्दहीन-व्याकरण दोष का नाम है । इसे अपशब्द भी कहते हैं । छन्द में अशुद्ध स्थान पर विराम करने का नाम यतिभ्रष्ट है ।

दोष

ह्रस्व और दीर्घ वर्णों की भूल के कारण दूषित छन्द भिन्नवृत्त कहलाता है। शब्दों के संयुक्त न होने अथवा गलत ढंग से संयुक्त होने को विसंधि कहते हैं। लौकिक तथ्यों, विज्ञान, तर्क, कला या पारंपरिक बातों का खण्डन विरुद्ध कहलाता है।

इन दस दोषों के सम्बन्ध में दण्डी ने अपने ग्रन्थ के अन्त में विचार किया है उनकी परिभाषाएँ न केवल विचारों, अपितु भाषा की दृष्टि से भी भामह से मिलती जुलती हैं।

अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, और अप्रक्रम के विषय में तो अर्थ और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उनमें साम्य है। ससंशय-शब्दहीन यतिभ्रष्ट और देशादिविरुद्ध के सम्बन्ध में, दोनों का मत एक सा है यद्यपि उनकी परिभाषा के शब्दों में अन्तर है। भिन्न वृत्त के विषय में भी दोनों के विचारों और भाषा में एक सीमा तक साम्य है। भामह ने विसंधि की परिभाषा नहीं दी है, केवल उदाहरण दिया है। दण्डी ने इसकी परिभाषा और उदाहरण दोनों दिये हैं। और अन्तिम देशादिविरुद्ध के प्रसंग में भामह ने न्याय को शास्त्र माना है जिसमें दर्शन, धर्म, अर्थ, काम और दण्डनीति के शास्त्र आते हैं। उन्होंने अर्थशास्त्र के दोष पर अधिक ध्यान दिया है।

उदाहरणार्थ—राजा उदयन को पकड़ने के लिये बिछाये हुए जाल की कथा की वेहूदगी। दण्डी ने मुख्यतः देश, काल, कला और लोक पर विचार किया है। तथा हेतु विद्या (न्याय) और आगम पर अधिक ध्यान दिया है। भामह और दण्डी में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि भामह ने प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन नामक ग्यारहवें दोष को स्वीकार किया है जिसे दण्डी ने शुष्क विचार कहकर खण्डित कर दिया है।—“विचारः कर्कशप्रायः तेनालीढेन किं फलम्।” भामह ने संपूर्ण छठे अध्याय में इसकी चर्चा की है। इन दोनों लेखकों में एक और अन्तर भी है और वह यह कि प्रथम अध्याय (5-54, 58) में वर्णित दस दोषों के अन्त में भामह ने संक्षेप में कहा है कि कभी कभी ये दोष गुण बन जाते हैं। उन्होंने दो सुन्दर उपमाएँ प्रस्तुत की हैं और एक उदाहरण भी जोड़ दिया है। किन्तु चतुर्थ अध्याय में एकमात्र पुनरुक्त (5-14) को छोड़कर उन्होंने इस बात को फिर से उठा करके उसका विशदीकरण नहीं किया है किन्तु दण्डी ने प्रत्येक दोष के उदाहरण देने के पश्चात् उदाहरणों के द्वारा यह बतलाया है कि किस प्रकार कोई दोष विशेष परिस्थितियों में गुण बन जाता है। अन्त में भी दण्डी ने यह सामान्य मत प्रकट किया है कि सारे दोष गुण बन सकते हैं। उन्होंने इस विचार की पुष्टि के लिये उदाहरण स्वरूप छैः श्लोक दिये हैं।

बीस दोषों के इन दो वर्गों के अतिरिक्त भामह ने सात अन्य दोषों का भी निरूपण किया है। जो उपमा को दूषित करते हैं। उन्होंने इन दोषों को अपने एक पूर्ववर्ती लेखक मेघावी के ग्रन्थ से उद्धृत किया है।

हीनतासंभवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।

उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशताऽपि च ॥

त एते उपमादोषाः सप्त मेघाविनोदिता । 2; 39-40

इस प्रकार के दोष प्रत्येक अलंकार के विषय में बतलाये जा सकते हैं। यदि अलंकारों के लक्षण होंगे तो उनमें दोष भी अवश्य होंगे।

किन्तु लेखको ने दोषों के संबन्ध में केवल उपमालंकार पर विचार किया है। निश्चय ही अलंकारों में उपमा का स्थान सर्वोपरि है। और यह अन्य अनेकों अलंकारों का मूल भी है। रत्नेश्वर का कथन है।

उपमायाः प्रभूतविषयतया प्राधान्याच्च उदाहृतमतिस्फुटं भवतीति संक्षेपः।

स.क.आ. व्या. पृ. 101।

किन्तु ऐसा कोई कारण नहीं है कि केवल उपमा दोषों का ही विशेष रूप से विवेचन किया जाय। दण्डी ने उपमा दोषों पर नियमपूर्वक विचार भी नहीं किया है। बल्कि यों कहना चाहिये कि प्रारम्भ में उन्होंने इस ओर संकेत किया है कि ऐसे स्थल भी हैं जहाँ उपमा में भिन्न लिङ्ग तथा अन्य दोष पाये जाते हैं। फिर भी उनसे उपमा का सौन्दर्य नष्ट नहीं होता। शास्त्रीय दृष्टि से दूषित होने पर भी बहुत से कथन रसिकों को श्रुतिकटु नहीं लगते और ऐसे स्थल भी हैं जहाँ पर ये दोष वस्तुतः दोष होते हैं और उसका कारण यह कि वहाँ समीक्षकों को भद्देपन की अनुभूति होती है। (2, 51-56 का. अ.) इस बात से हमें दोष की अधिक व्यापक परिभाषा, जो रसापकर्षकत्व या अनौचित्यसहृदयोद्वेजकत्व से अधिक व्यापक है, प्राप्त होती है। जैसा कि अभी ऊपर बतलाया गया है रत्नेश्वर का कथन है "सहृदयोद्वेजकत्वेन हि दोषाः" पृ. 99।

जैसा कि अभी हमने देखा, दण्डी ने भामह द्वारा चतुर्थ अध्याय में उल्लिखित दसों दोषों को स्वीकार किया है। वे इस संदर्भ में भामह द्वारा प्रथम अध्याय में वर्णित नेयार्थ तथा अन्य नौ दोषों की भी चर्चा नहीं करते। वामन और भोज ने भामह के प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्तहीन नामक ग्यारहवें दोष को छोड़ते हुए दण्डी का अनुसरण किया है।

प्रथम अध्याय में वैदर्भी में प्राप्त होने वाले सामान्य गुणों का वर्णन करते हुए दण्डी ने कहा है कि इन गुणों के विपर्यय सामान्यतया गौडी शैली में मिलते हैं। ये गुण विपर्यय सूक्ष्म दोष हैं जिनकी चर्चा वामन ने की है मैंने भी ऊपर इनका उल्लेख किया है। इन गुण विपर्ययों में कुछ ऐसे दोष भी हैं जो भामह द्वारा प्रथम अध्याय में बतलाये हुए दोषों से मिलते जुलते हैं। काव्यादर्श के प्रथम अध्याय में दण्डी द्वारा वर्णित गुण विपर्यय इस प्रकार हैं।

गुण	गुणविपर्यय
श्लेष	शैथिल्य
प्रसाद	अनतिरूढ
माधुर्य	शब्द और अर्थ की ग्राम्यता
सुकुमारता	निष्ठुरता, दीप्तत्व अथवा कृच्छ्रोद्यत्व
अर्थव्यक्ति	नेयार्थ
कान्ति	अत्युक्ति

इनमें भामह द्वारा वर्णित तीन दोष—श्रुति, अर्थ और कल्पनादुष्ट—माधुर्य के विपर्यय ग्राम्यता में मिलते हैं। भामह का नेयार्थ यहाँ अर्थव्यक्ति गुण के विपर्यय के रूप में दिया गया है। सुकुमारता का दण्डी प्रोक्त विपर्यय कृच्छ्रोद्य अथवा निष्ठुर भामह के श्रुतिदुष्ट के

समान है। दण्डी का प्रसाद-विपर्यय अनतिरुद्ध भामह के अवाचक और गूढशब्दाभिधान जैसा है। इस संबन्ध में अग्रिम गुणपरिच्छेद तथा उसी में भोज शीर्षक के अन्तर्गत श्लेषादि विपर्यय दोष को देखिये। भामह ने अन्य प्रसंगों में भी कुछ अन्य दोषों की चर्चा की है।

(1) प्रथम अध्याय के 31-36 श्लोकों में भामह ने वैदर्भी और गौडीया इन दो शैलियों पर आधारित साहित्यिक समीक्षा की पद्धति की आलोचना की है भामह ने कहा है कि कुछ ऐसे मूलभूत श्रेष्ठ गुण हैं जो सब शैलियों एवं श्रेष्ठकाव्य के तत्त्वों के आधार-भूत हैं।

इनके बिना वैदर्भी भी अच्छी नहीं लगती और इन गुणों के होने पर गौडीया भी अच्छी मालूम होती है। जो लोग वैदर्भी की प्रशंसा एवं गौडीया की निन्दा करते हैं वे ऐसे स्थलों को चुनते हैं जहाँ गौडीया के महत्वपूर्ण तत्त्व अतिरंजित रूप में मिलते हैं वे भूल जाते हैं कि गौडीया के भी कुछ श्रेष्ठ गुण हैं। शर्त यह है कि वे गुण एक सीमा के भीतर रहे हों। और इसी तरह वैदर्भी के गुणों को भी अतिरञ्जित कर दिया जाता है। इस संबन्ध में भामह ने कहा है—

अपुष्टार्थमवक्रोक्तिप्रसन्नमृजुकोमलम् ।

भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥

अलंकारद्वयग्राम्यमर्थं न्याय्यमनाकुलम् ।

गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमपि नान्यथा ॥ 1' 34-35 ।

इनमें वैदर्भी के संबन्ध में प्रथम श्लोक का कहना है कि वैदर्भी सरल सीधी और स्पष्ट होती है, वह अर्थ को अलंकारों, कल्पनाओं और पेशलता के द्वारा अलंकृत या विकसित नहीं करती। किन्तु ये सरलता और प्रसाद आसानी से नीचे गिरकर भद्देपन और सौन्दर्यहीनता की कोटि तक पहुंच सकते हैं जिससे अपुष्टार्थ और अवक्रता ये दो दोष उत्पन्न होते हैं। भामह का यह अपुष्ट दोष रुद्रट में मिलता है और भामह का अवक्र ही भोज का निरलंकार है। यह बात नीचे स्पष्ट की गई है। प्रसाद गुण की भी कुछ सीमाएं हैं। काव्य में कुछ न कुछ जिज्ञासा और कुछ नवीन उद्घाटन बना रहना चाहिये। शब्दों से अर्धतिरोहित भाँकता हुआ अर्थ चमत्कार का मुख्य स्रोत होता है। प्रसाद पर बहुत अधिक जोर देने से वैदर्भ बन्ध अनाकर्षक हो सकता है। इसी प्रकार माधुर्य का भी अतिशय हो सकता है। कोमलम्, भिन्नम्, गेयमिवेदं तु केवलम् श्रुतिपेशलम्। गुणपरिच्छेद भी देखिये। इसी प्रकार गौडीया में जिन दोषों की संभावना की जा सकती है वे हैं अत्यलंकार, शब्दाडम्बर और अर्थत्वहीनता, नैसर्गिक-क्रम-विपर्यय अर्थात् न्याय्यत्वविरुद्धता और आकुलत्व। अनाकुल शब्द असंगत या असंपृक्त का बोधक हो सकता है। भामह का इससे कुछ निश्चित आशय था। संभवतः उनका आशय किसी ऐसी बात से था जिसकी कल्पना कर लेना तो सरल है पर वर्णन करना कठिन। उन्होंने 3-54 में भाविक के वर्णन के अन्तर्गत शब्दानाकुलता के रूप में पुनः इसकी चर्चा की है। ऐसा लगता है कि शब्दों से बोझिल रचना को उन्होंने शब्दानाकुल माना है। भामह ने 5-67 में आकुल दोष का पुनः उल्लेख किया है।

(2) 5, 62-63 में भामह ने कुछ ऐसे प्रबन्धों की आलोचना की है जो मन पर प्रभाव नहीं डाल पाते, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जो सरलता से ग्राह्य नहीं होते, और

जो कुछ भावपूर्ण होने पर भी सौन्दर्ययुक्त नहीं होते । उन्होंने ऐसी रचनाओं की तुलना अपरिपक्व कपित्थ से की है । इसी स्थान पर असुनिर्भेद अर्थात् असुबोध्य नामक दोष का उल्लेख है जो प्रसाद और अर्थव्यक्ति का विपर्यय है । यह कई निश्चित दोषों से मिलकर बना हुआ एक मिश्र दोष है ।

(3) भामह ने 5-67 में विरुद्ध पद, अस्वर्थ, पादपूरण (बहुपूरण) तथा पूर्वोक्त आकुलदोषों की चर्चा की है ।

विरुद्धपदमस्वर्थं बहुपूरणमाकुलम् ।

कुर्वन्ति काव्यमपरे व्यायताभीप्सया यथा ॥ 5-67

विरुद्धपदता उच्छिष्ट अर्थ से ठीक विरुद्ध अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्दों के प्रयोग का नाम है । पादपूरण और बहुपूरण शब्दों की भरती को कहते हैं । पश्चाद्वर्ती लेखकों में ये दोनों दोष मिलते हैं । आकुल की चर्चा भी हो चुकी है । किसी सुन्दर अर्थ से विरहित को अस्वर्थ कहते हैं । शब्दकोषों के साथ माथापच्ची करने के पश्चात् भी किसी किसी काव्य में एक भी सुन्दर अर्थ उपलब्ध नहीं होता । ठीक वैसे ही जैसे तमाम भूसा छान डालने पर भी अनाज का एक दाना न मिले । भामह का कहना है कि कुछ लोग शब्दों की इस चकाचौंध, घटाटोप और विशालता को पसंद करते हैं । उन्होंने एक छन्द में इसका उदाहरण भी दिया है ।

(4) 2-18 में भामह ने बतलाया है कि पाठक या श्रोता यमकों को कव सहन कर सकता है । यहाँ उन्होंने कुछ गुराों का उल्लेख किया है जिनसे कुछ दोष उत्पन्न हो सकते हैं ।

वामन

यद्यपि दोषों का निरूपण भरत के समय से ही किया जा रहा है फिर भी किसी लेखक ने उनका विश्लेषण कर वर्गीकरण नहीं किया था । दोषों का वर्गीकरण नाट्यशास्त्र में भी नहीं है । भामह ने जिस प्रकार अलंकारों के अलग अलग वर्ग बनाकर उनका निरूपण किया उसी तरह उन्होंने दोषों को भी तीन वर्गों में रखा यद्यपि इससे उनका उद्देश्य वर्गीकरण बिलकुल नहीं था । तो भी जब प्रथम अध्याय में भामह ने श्रुतिदुष्ट और अर्थ दुष्ट इन दो प्रकार के दुष्टों का उल्लेख किया तो उन्होंने शब्ददोष और अर्थ दोष में भेद कर ही दिया । इसी प्रकार 4-12 में एकार्थ या पुनरुक्त का वर्णन करते हुए उन्होंने शब्द और अर्थभेद से उसके दो भेद बतलाये ।

पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः । 4-12

दण्डी ने भी जिनके ग्रन्थ में दोषों का वर्गीकरण अभी तक नहीं दिया गया था शब्द और अर्थ पुनरुक्तियों के विषय में लगभग भामह की बात को ही दुहराया है ।

अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थमतं यथा । 4-12

दोषों की स्थिति गुणों से मिलती जुलती है । गुणों का शब्द और अर्थ में विभाजन दण्डी के द्वारा भी निश्चित रूप से नहीं किया गया । सबसे पहले वामन ने ही दोषों और गुणों को शब्द और अर्थ के भेद से अलग अलग विभाजित किया ।

हि न बाध

ऊपर कहा जा चुका है कि दोषों के संबन्ध में भामह और वामन में बहुत कुछ साहमत्य है। वामन ने भामह द्वारा प्रथम अध्याय में निरूपित नेयार्थ आदि को ज्यों का त्यों ले लिया है। दोषों के स्वयं स्वीकृत द्वितीय वर्ग के निरूपण में वामन ने भामह और दण्डी दोनों का उपयोग किया है। वामन द्वारा वर्णित दोष निम्न प्रकार हैं-

पददोष		वाक्यदोष	
पद दोष	पदार्थदोष	वाक्यदोष	वाक्यार्थदोष
असाधु	अन्यार्थ	भिन्न वृत्त	व्यर्थ
कष्ट	नेयार्थ	यतिभ्रष्ट	एकार्थ
ग्राम्य	गूढार्थ	विसंधि	संदिग्ध
अप्रतीत	अश्लीलार्थ		अयुक्त
अनर्थक	क्लिष्टार्थ		अपक्रम
			लोकविद्याविरुद्ध

गुणों का विभाजन शब्दगुण और अर्थगुणों में ही किया गया है। किन्तु दोषों का विभाजन वामन ने चार श्रेणियों में किया है—पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ। आइये अब वामन के दोषों का परीक्षण करें। उनका असाधुदोष वही है जिसे भरत, भामह और दण्डी ने शब्दहीन कहा है। भामह ने अपने प्रथम अध्याय में क्लिष्टदोष को द्वितीय वर्ग के चार दोषों में चतुर्थ बतलाया है। वामन का ग्राम्यदोष भरत के भिन्नार्थ के प्रथम प्रकार में आता है। भामह ने इसका नामोल्लेख नहीं किया है और न ही इसकी परिभाषा दी है किन्तु अन्य दोषों की तरह भामह ने इसका केवल उदाहरण दिया है। 1-53 में भामह ने कहा है —“गण्डमप्यपरे किल (नेच्छन्ति)” यह गण्डशब्द ग्राम्य है। कवियों को जिस प्रकार ग्राम्य शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये उसी प्रकार शास्त्र विशेष में रूढ पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार ग्राम्य के साथ साथ वामन ने अप्रतीत दोष का भी निरूपण कर दिया है। इस दोष का उल्लेख करने वाले प्रथम आचार्य वामन ही हैं वामन का अनर्थक दोष छन्दोमय पादपूर्वार्थ हूँसे गये तावत् तु, हि, आदि शब्दों से उत्पन्न होता है। यह भी एक नवीन दोष है जिसका परिचय पहले पहल वामन ने कराया है। यद्यपि भामह के 5-67 में एक बहुपूरण दोष मिलता है जिसमें वामन के अनर्थक का अन्तर्भाव हो जाता है। वामन के अन्यार्थ और नेयार्थ दोष भामह द्वारा प्रथम अध्याय में वर्णित दोनों दोषों से मिलते जुलते हैं। भामह के प्रथम अध्याय में गूढशब्दाभिधान दोष आया है जो वामन के गूढार्थ से मेल खाता है किन्तु इन दोनों के अर्थ बिल्कुल एक ही नहीं हैं। वामन का अश्लील दोष वही है जो भामह का श्रुतिभ्रंश और कल्पनादुष्ट है। वामन का क्लिष्ट भी वही है जो भामह के प्रथम अध्याय में मिलता है। इस प्रकार अवार्चक और अयुक्तिमत् इन दो को छोड़कर भामह द्वारा प्रथम अध्याय में बतलाये हुए लगभग सारे दोष वामन ने ले लिये हैं और उनमें कुछ और दोषों को मिलाकर उन्हें पद और पदार्थ दोषों में पुनर्गठित कर दिया है।

जहाँ तक वामन के वाक्य और वाक्यार्थदोषों का संबंध है ये लगभग वे ही हैं जिनका उल्लेख भामह और दण्डी ने अपने ग्रन्थों के चतुर्थ अध्याय में किया है। दण्डी के समान वामन ने भी भामह के प्रतिज्ञादिहीन को छोड़ दिया है तथा अन्य सबको स्वीकार कर लिया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि वामन ने अपार्थ नामक प्रथम दोष को भी स्वीकार नहीं किया। वामन की सूची में इससे मिलता जुलता भी कोई दोष नहीं है। वे व्यर्थ से प्रारम्भ करते हैं एवं अन्य आठ दोषों को स्वीकार करते हैं। वामन ने देशकालकलालोक-न्यायागम-विरुद्ध को दो भागों में बाँट दिया। इनमें एक लोकविरुद्ध अपने में देशकाल और लोक तीनों को समाहित किये हैं तथा दूसरे विद्या विरुद्ध में कला न्याय और आगम विरुद्ध समा जाते हैं। वामन ने इनके साथ एक अयुक्ति को भी जोड़ दिया है जो भामह के प्रथम अध्याय में मिलता है और जिसे उन्होंने पहले छोड़ दिया था फिर भी वामन का अयुक्त ठीक तरह स्पष्ट नहीं है।

वे कहते हैं —“मायादिविकल्पितार्थम् अयुक्तम् 2-2-21।” संभवतः वामन का आशय भ्रान्ति और मिथ्याभासों से है जिनमें अवास्तविक बातें घटित होती हैं। गोपेन्द्र तिप्प ने इसका उदाहरण विदग्धमुखमण्डन से उद्धृत किया है। और वह भी वैसा ही अस्पष्ट है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भोज ने अयुक्त की कोई आवश्यकता नहीं समझी। 4-2 में वामन ने छः उपमा दोष स्वीकार किये थे—हीनत्व, अधिकत्व, लिङ्गभेद, वचनभेद, असादृश्य, असंभव। भामह में एक और दोष मिलता है—विपर्यय। जिसे वामन ने छोड़ दिया है। यह स्पष्ट है कि वामन ने भामह का बहुत कुछ अनुसरण किया है। क्योंकि भामह का कहना है कि उपमा में बढ़ा चढ़ाकर वर्णन करना या अतिशयोक्ति दोष नहीं होता। इसे असंभव नामक उपमा-दोष नहीं कह सकते। भामह का कथन है—

यस्यातिशयवानर्थः कथं सोसंभवो मतः ।

इष्टं चातिशयार्थत्वमुपयोत्प्रेक्षयोर्यथा ॥

और भामह का अनुसरण करते हुए वामन ने उपमा प्रकरण के अन्त में कहा है—

“उपमायामतिशयस्य दृष्टत्वात् ।” उन्होंने एक सूत्र भी दिया है—“न विरुद्धे, अतिशयः ।” 4-2-21 वामन द्वारा विपर्यय के परित्याग का कारण है कि इन्होंने हीनोपमा और अधिकोपमा नामक दोनों प्रकार के विपर्ययों का अन्तर्भाव दोनों द्वारा मान्य हीनता और आधिक्य नामक सामान्य दोषों में कर दिया है। सूक्ष्म दोष की चर्चा ऊपर की जा चुकी है इसका उल्लेख वामन ने 2-2 के अन्त में किया है।

रुद्रट

2-8 में रुद्रट ने कुछ सामान्य वाक्य-गुणों और वाक्य-दोषों का उल्लेख किया है उनके इस छन्द में निम्न लिखित दोषों का संकेत मिलता है—न्यूनपद, अधिकपद, अवाचक, अपक्रम, अपुष्टार्थ और अचारुपद। नमिसाधु ने इन दोषों की सोदाहरण व्याख्या की है। अपर्याप्त शब्दों अथवा महत्त्वपूर्ण और आवश्यक शब्द के अभाव का नाम न्यूनपद है। इस दोष के आजाने पर अर्थव्यक्ति नहीं होती। इससे दण्डी द्वारा प्रोक्त नेयार्थ दोष उत्पन्न होता है। रुद्रट का अधिकपद ही वामन का अनर्थक दोष है। पुनरुक्ति भी इसी के अन्तर्गत आती है। अवाचक वामन द्वारा प्रथम अध्याय में वर्णित अवाचक ही है।

हम किसी भाव को व्यक्त करने के लिये कुछ शब्दों प्रयोग करते हैं किन्तु उनसे वह भाव व्यक्त नहीं होता। पङ्क्तिविहङ्गमनामभूत् शब्द का प्रयोग जब दशरथ के लिये किया जाता है तो यही दोष होता है। अपक्रम केवल वस्तुओं के अस्वाभाविक क्रम को अथवा उनकी न्यायोचित शृङ्खला को ही नहीं कहते अपितु शब्दों के व्याकरणिक दृष्टि से अस्थाने विन्यास को भी कहते हैं। जिससे अन्वय ही गड़बड़ हो जाता है। अपुष्टार्थ का संबंध अधिकपद से है। यहाँ नमिसाधु ने कहा है कि यहाँ रुद्रट ने शब्द का प्रयोग किया है अपुष्टार्थशब्द इसका अभिप्राय एक अन्य दोष से है जिसे अपुष्टशब्द दोष कहते हैं।

यह अपशब्द है। अचारूपद भामह के श्रुतिकष्ट का दूसरा नाम है। नमिसाधु ने इसे दुःश्रव कहा है। रुद्रट ने इस अन्तिम दोष—अचारूपद पर विशेष ध्यान दिया है और दो श्लोकों (2,9-10) में इसकी चर्चा की है। शब्दालंकारों की चर्चा करने के पश्चात् रुद्रट ने षष्ठ अध्याय में शब्द दोषों पर विचार किया है। उन्होंने दोषों का पददोष और वाक्यदोष में भेद स्वीकार किया है। रुद्रट में शब्ददोषों और अर्थ दोषों का अन्तर स्पष्ट है। और उन्होंने शब्ददोषों का शब्दालंकारों के पश्चात् और अर्थ—दोषों का अर्थालंकारों के पश्चात् निरूपण किया है। उन्होंने पहले पदसंबन्धी और वाक्यसंबन्धी शब्ददोषों का वर्णन किया है। 2-8 में उपर्युक्त निदर्शित छः दोषों के अन्तर्गत शब्ददोष और वाक्यदोष दोनों ही आये हैं। नमिसाधु ने भी इस ओर संकेत किया है। रुद्रट ने 6-2 में असमर्थ, अप्रतीत, विसंधि विपरीतकल्पन, ग्राम्य, अव्युत्पन्न और देश्य ये पददोष बतलाये हैं। असमर्थ वामन के ग्रन्थार्थ या रुद्धिच्युत जैसा है यह वामन का ग्रन्थार्थ है। जिसमें जहु, के लिये विजहुः, विस्मरन्ति के लिये प्रस्मरन्ति और प्रकर्षेण स्थितः के लिये प्रस्थितः आदि का प्रयोग होता है। रुद्रट ने असमर्थ का एक दूसरा भेद भी बतलाया है। जिसका उदाहरण है—जाता हैं के अर्थ में हन्ति का प्रयोग निश्चय ही हन् धातु का एक अर्थ जाना भी है किन्तु वह कवि-जगत् में प्रचलित नहीं है। इसका एक तीसरा भेद है—जैसे समुद्र के लिये जलभृत् शब्द का प्रयोग। ये द्वितीय और तृतीय भेद वामन के गूढार्थ में गतार्थ होते हैं। रुद्रट ने असमर्थ का एक चौथा भेद भी बताया है। जो अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार भरत के सावशेषार्थ से मिलता जुलता है ऊपर देखिये अप्रतीत दोष रुद्धिच्युत या कल्पित जैसा है। जिसमें अप्रयुक्त या अप्रसिद्ध पर्याय या तोड़ा मरोड़ा हुआ नाम आता है। उदाहरणार्थ कुहरे को नष्ट करने वाले के लिये हिमहा का प्रयोग। प्रयोक्ता का आशय अग्नि से हो सकता है किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ सूर्य भी संभव है। यह संशय अप्रतीत है। असंशय अप्रतीत इसी प्रकार का गठा हुआ नाम होता है यद्यपि यह एक से अधिक अर्थ को व्यक्त नहीं करता। यथा—“अश्व-योषिन्-मुख-अचिष्मान्” इसका अर्थ है वाङ्मयमुखान्। विसंधि केवल अशुद्ध संधि ही नहीं है अपितु बुरी संधि भी है जिसमें ऐसी ध्वनियाँ संघटित हो जाती हैं जिनसे अश्लील अर्थ निकलता है। इसे भामह ने कल्पना—दुष्ट कहा है। विपरीत कल्पना का उदाहरण अकार्यमित्र दिया गया है। यह वामन का संदिग्ध दोष है। ऊपर देखिये। ग्राम्य अनुचित और निम्न श्रेणी का शब्द है। रुद्रट ने ग्राम्य के तीन भेद बताये हैं। एक अनुचित संबोधन का प्रयोग। उदाहरणार्थ—राजा को भगवन् संबोधित करना ग्राम्य है। समझ में नहीं आता यह ग्राम्य कैसे है ? यह ग्राम्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी दोष हो सकता है—जैसे लोक विरुद्ध किन्तु ग्राम्य नहीं हो सकता।

रुद्रट द्वारा कथित ग्राम्यदोष का तृतीय भेद भी इसी प्रकार आलोचना का विषय है। रुद्रट ने इसे अर्थानुकूल ध्वनि वाले शब्दों की अनुपयुक्तता से संबन्धित माना है। उदाहरणार्थ रागित का प्रयोग केवल नूपुर ध्वनि के लिये ही किया जाना चाहिये आदि। यह लोक विरुद्ध हो सकता है किन्तु ग्राम्य नहीं है। केवल द्वितीय भेद जिसमें गण्ड् जैसे शब्दों का प्रयोग होता है, वस्तुतः ग्राम्य है। रुद्रट ने सामान्य अनौचित्य को ग्राम्य मान लिया है किन्तु अनौचित्य उससे कहीं अधिक बड़ा है। जिसे रुद्रट ने यहाँ ग्राम्य बताया है। अनौचित्य के अंतर्गत सारे दोष आ जाते हैं। अन्तिम दो दोष हैं अव्युत्पन्नपद और देश्यपद। ये स्वयं स्पष्ट हैं। 6-40 में संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ, और अनलंकार वाक्यदोष कहे गये हैं। एक वाक्य के शब्दों का दूसरे वाक्य के शब्दों में मिल जाना संकीर्ण दोष है और एक वाक्य का दूसरे वाक्य में प्रवेश कर जाना गर्भित। रुद्रट ने गतार्थ का उदाहरण नहीं दिया है किन्तु इसकी परिभाषा दी है। और इसे प्रबन्ध—दोष कहा है। नमिसाधु ने इसकी व्याख्या की है और कहा है कि वाक्य के पूर्ण तात्पर्य को हृदयंगम करने के लिये अगले वाक्य अथवा आगे आने वाले विवरणों पर निर्भर होना गतार्थ है। अपुष्टार्थ या कोरी सपाट सादी उक्ति को निरलंकार कहते हैं।

अर्थदोष—5-7 में रुद्रट ने कहा है कि एक सामान्य व्यापक अर्थदोष है अन्यथाकरण अर्थात् वस्तुओं का देशकाल तथा प्रकृति नियमों के विरुद्ध वर्णन। भामह दण्डी और वामन ने इसे देशविरुद्ध कहा है। रुद्रट ने एकादश अध्याय में अर्थदोषों की चर्चा की है। ये हैं—अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाध्यत्, असंबद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वत् और अतिमात्र। रुद्रट के द्वारा प्रस्तुत अपहेतु का उदाहरण किसी पश्चाद्वर्त्ती लेखक का है जिसमें भामह के पञ्चम अध्याय में वर्णित तर्क संबन्धी दोषों को सम्मिलित कर लिया गया है। रुद्रट का अपहेतु भामह के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्तहानि में से हेतुहानि माना जा सकता है। अप्रतीत में कवियों द्वारा अप्रयुक्त शब्द आते हैं। निरागम का समावेश प्रथमोक्त सामान्यदोष-देशकालादिविरुद्ध के अन्तर्गत हो सकता है। पूर्वापर व्याहत का नाम बाध्यत् है। भामह दण्डी और वामन ने इसे व्यर्थ नाम दिया है। असंबद्ध वामन के एकार्थदोष के द्वितीय भेद के समान है “न विशेषश्चेदकार्थम्।” रुद्रट ने अनौचित्य को ग्राम्य कहा है जिसे अन्य लेखकों ने लोक-विरुद्ध नाम दिया है। विरस, रस संबन्धी दोष है और यह प्रथम अवसर है जब दोषों के प्रसङ्ग में रस पर विचार किया गया है। विरस के एकाधिक भेद हैं। यदि एक रस में दूसरा विरोधी रस आ मिले तो वहाँ यह दोष होता है। वैरस्य का। दूसरा भेद है रस की अतिवृद्धि अर्थात् संबन्धित रस का भी अत्यधिक परिपाक। तद्वत् दोष असंबद्ध के समान है। अनावश्यक शब्दों या भरती के पदों का प्रयोग तद्वत् कहलाता है इसे वामन ने पूरणार्थ नाम दिया है। उन्होंने इसके अन्तर्गत तर्हि आदि शब्दों का प्रयोग बतलाया है। रुद्रट ने कुछ और शब्द भी गिनाये हैं जो किसी नये अर्थ की वृद्धि नहीं करते, केवल छन्द की पूर्णता के लिये प्रयुक्त होते हैं। अतिमात्र वही है जिसे दण्डी ने कान्ति गुण का विपर्यय-अत्युक्ति कहा है।

रुद्रट के दोष-वर्णन में ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे भी दण्डी के समान तत्काल यह बतलाते चलते हैं कि किस प्रकार ये सब दोष परिवर्तित स्थिति में गुण बन जाते हैं।

रुद्रट के उपमा दोष—रुद्रट को केवल चार उपमा दोष स्वीकार हैं। सामान्य शब्द भेद, वैषम्य, असंभव और अप्रसिद्ध (11-24) नमिसाधु ने भामह के ग्रन्थ में उल्लिखित मेधावी के सात उपमा दोषों की समीक्षा की है और बतलाया है कि इनमें से चार को स्वीकार करना ही पर्याप्त है। मैंने पीछे कहा है कि सबसे पहले वामन ने ही उपमा दोषों की संख्या कम करने का प्रयास किया है। उन्होंने केवल छैः उपमा दोष स्वीकार किये हैं क्योंकि उन्होंने विपर्यय और हीनताधिकत्व दोनों को एक में मिला दिया है। हीनोपमा और हीन-विशेषण ये दोनों उपमा के हीनत्व हैं इसी प्रकार अधिकोपमा और अधिकविशेषण ये दोनों उपमा के अधिकत्व। रुद्रट ने इनका संक्षिप्तीकरण भिन्न ढंग से दिया है हीनविशेष और अधिकविशेषण। इन दोनों को वैषम्य शीर्षक के अन्तर्गत एक जगह रख दिया है। रुद्रट ने अधिक सँकरे लिङ्गवचन, भेद-दोष के स्थान पर एक अधिक तर्कसङ्गत और व्यापक दोष-सामान्यशब्दभेद मान लिया है। जिसके अन्तर्गत लिङ्ग, वचन, काल, और विभक्ति संबन्धी असंगतियाँ आ जाती हैं (श्लोक 26)

उपमान और उपमेय के विशेषणों में वचन के न्यूनत्व या अधिकत्व से संबन्धित वैषम्य के विषय में रुद्रट का मत है कि यह कल्पित और उत्पाद्य उपमा के प्रसंगों पर ही लागू होता है। असंभव दोष, पुराने उपमा दोष का ही नाम है। अप्रसिद्ध के अन्तर्गत रुद्रट ने वामन द्वारा उद्घातित हीनोपमा, अधिकोपमा और अप्रसिद्धोपमा को रखा है। उनके उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है।

आनन्दवर्धन

ध्वन्यालोक में दोष का प्रसङ्ग अनायास ही आ गया है। 2-12 में आनन्दवर्धन ने गुणों को रसधर्म बतलाते हुए दोषों को भी उसी स्थिति में रक्खा है। 2-12 में उन्होंने श्रुतिदुष्ट तथा अन्य दोषों की चर्चा की है और उन्हें अनित्य कहा है। ये दोष मूलतः दोष नहीं, अपितु सापेक्ष रूप से होते हैं। इसी श्रुतिदुष्ट दोष का उल्लेख तृतीय उद्योत के संग्रह श्लोकों में पृ. 129 पर है। फिर भी रसदोष नामक एक नवीन दोष-श्रेणी का विकास आनन्दवर्धन के ग्रन्थ में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उन्होंने 2-12 में इन्हें आकस्मिक नहीं, अपितु मौलिक दोष माना है।

ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेयाः इत्युदीरिताः ।

समस्त दोषों का प्रत्यक्ष संबन्ध रस से है। वे उसकी अनुभूति में बाधक होते हैं और इसीलिये रसदोष कहलाते हैं। किन्तु विश्लेषणात्मक रूप से कहें तो और काव्यात्मक उक्तियों को विभिन्न वर्गों में विभाजित करें तो हम दोषों को पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध तथा शब्ददोष, अर्थदोष और वाक्यदोष इन भागों में बाँटेंगे। हम यह भी देख चुके हैं कि अलंकारदोष कैसे होते हैं। हमने भामह उपशीर्षक के अन्तर्गत मेधावी के काल से चले आते हुए उपमा दोषों पर विचार किया है और इस प्रसङ्ग में यह कहा है कि इस प्रकार से अन्य अलंकारों के संबन्ध में भी दोषों का प्रदर्शन संभव है। सामान्य अलंकारों के संबन्ध में द्वितीय उद्योत में आनन्दवर्धन ने एक मनोरञ्जक प्रकरण लिखा है, जहाँ उन्होंने अलंकारों को अत्यन्त उपयुक्त ढंग से प्रस्तुत करने के लिये कुछ नियम दिये हैं। इन नियमों का ठीक तरह पालन न करने पर निम्नलिखित दोष उत्पन्न होते हैं—

- (1) यमकादिशब्दालंकाराणां शृङ्गाराद्यङ्गिरसेषु एकरूपेण निबन्धनम् (2-15)
- (2) पृथग् यत्ननिर्वर्त्यम् । (2-17)
- (3) अरसपरत्वम् रूपकादेः । (2-19, 20)
- (4) अङ्गित्वेन करणम् ।
- (5) अकाले ग्रहणम्, कालेऽग्रहणम् अकाले त्यागः, कालेऽत्यागः ।
- (6) अतिनिर्वाहः ।

तब अलंकार अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते और दोष बन जाते हैं । इन्हें सामान्य अलंकार दोष कह सकते हैं । गुणों संघटनों आदि के संबन्ध में भी इसी प्रकार के दोषों का निर्देश किया जा सकता है । और वे सब गुण या संघटन आदि के अनौचित्य के ही रूप होंगे । मेरे “सम कान्सेप्ट्स” में औचित्य शीर्षक देखिये । रस के अत्यन्त महत्वपूर्ण होने एवं उसके निरूपण के अत्यन्त कठिन होने के कारण आनन्दवर्धन ने उनमें से प्रधानों पर ही विचार करने का कष्ट उठाया है और तृतीय उद्योत की 18-19 कारिकाओं में अन्य लोगों के मार्ग-दर्शन के लिये कुछ सामान्य बातें बतलाई हैं । उन्होंने रस के बाधक निम्नलिखित दोष गिनाये हैं—

- (1) विरोधी रससंबन्धविभावादि परिग्रहः ।
- (2) विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्यवर्णनम् ।
- (3) अकाण्डे विच्छित्तिः ।
- (4) अकाण्डे प्रथनम् ।
- (5) पुष्टस्यापि पुनः पुनः दीप्तिः ।
- (6) वृत्त्यानौचित्यम् (यह पृथक् रूप से वृत्तिदोष माना जा सकता है ।)

आनन्दवर्धन ने इन्हें रसविरोधी कहा है । रसदोष की कल्पना आनन्दवर्धन से भी पहले प्रारम्भ हुई थी और ऊपर समीक्षण करते समय हमें रुद्रट के अर्थदोषों में एक विरस नामक दोष मिला था । रुद्रट का यह विरस दोष दो प्रकार का है । एक क्रमापेतरसनिपात अर्थात् विरुद्ध रस संबन्ध और दूसरा संबन्धित रस की भी अतिशय दीप्ति—1 (1) आनन्दवर्धन के शब्दों में क्रमापेतरसनिपात अथवा विरुद्ध रससंबन्ध (2) सावसरस्यापि रसस्य अतिमहती वृद्धिः निरन्तरम् यथा पौनः पुन्येन दीपनम् (रुद्रट 11-12, 14) रुद्रभट्ट के शृङ्गारतिलक में विरुद्धरस के संपर्क के वर्जन की चर्चा है— विरुद्धरससंपर्क विवर्जन (3-20, 22) और उसी अध्याय में 46 वें श्लोक में कहा गया है—

विरसं प्रत्यनीकं च दुःसंधानरसं तथा ।

नीरसं पात्रदुष्टं च काव्यं सद्भिन्नं शस्यते ॥

इस श्लोक में वर्णित विरस को विरुद्ध रस और नीरस को रुद्रट के विरस का दूसरा भेद बतलाया है । जैसे एक ही रस की अतिशयता— “निरन्तरम् एकरसवृद्धिः ।” आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में पृ. 161 से 181 तक इन दोषों का विशद निरूपण किया है । ध्वन्यालोक के आधार पर मम्मट ने निम्नलिखित रस दोषों की कल्पना की है । (का. प्र. 7-12, 14)

दोष

(1) रसस्थायिव्यभिचारिणां स्वशब्दवाचकत्वम् ।

यहाँ हेमचन्द्र ने निर्देश किया है कि कभी कभी व्यभिचारियों का स्वनाम से कथन उचित हो सकता है ।

रसादेः स्वशब्दोक्तिः क्वचित् संचारिवर्जं दोषः । (का. अनु. 3-1)

इसे मम्मट ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत से लिया है ।

(2) अनुभावविभावयोः कष्टकल्पनया व्यक्तिः ।

(विभावानुभावक्लेशव्यक्तिः) (का. अ. 3)

(३) प्रतिकूल विभावादिग्रहः । (विरोधिरससंबन्धि विभावादिपरिग्रहः) (आनन्दवर्धन)

हेमचन्द्र ने इन विभावादिके प्रातिकूल्य का विश्लेषण किया है जिसका आधार हेमचन्द्र की उक्तियाँ हैं ।

(4) पुनः पुनः दीप्तिः (5) अकाण्डे प्रथनम्

(6) अकाण्डेच्छेदः (7) अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः

(8) अङ्गनः अनुसंधानम् (9) प्रकृतिविपर्ययः

(10) अङ्गस्य अभिधानम् ।

हेमचन्द्र ने मम्मट का अनुकरण किया है और मम्मट ने मुख्यतः आनन्दवर्धन का और थोड़ा बहुत रुद्रट का भी अनुकरण किया है । सप्तम उल्लास के अन्तिम भाग में मम्मट ने निर्देश किया है कि किस प्रकार कुछ स्थलों में ये रसदोष दोष नहीं रह जाते ।

राजशेखर

राजशेखर की काव्यमीमांसा का एक बड़ा भाग नष्ट हो गया है ग्रन्थ के प्रारम्भ में उनके द्वारा दी हुई विषय सूची के अनुसार इसमें एक पूरा अधिकरण दोषों पर था—“दोषाधिकरणं धिषणः” पृ. 1 । ग्रन्थ अनेक अधिकरणों के साथ दोषाधिकरण के भी नष्ट हो जाने से आज हमारे लिये यह कह सकना संभव नहीं है कि राजशेखर ने अन्य लेखकों से कितना उधार लिया था, कितना उन्होंने स्वयं जोड़ा था और भोज ने दोषों के संबंध में उनसे कितना उधार लिया । इसी प्रकार यहाँ दोष प्रकरण के संबंध में भट्टनायक और तीत की देन का भी मूल्याङ्कन करना संभव नहीं है । भरत शीर्षक के अन्तर्गत हमने अभिनवगुप्त की देन का उल्लेख किया ही है ।

भोज

भोज ने काव्य की प्रथम परिभाषा “दोषरहित उक्ति” यह दी है । शृ. प्र. में दोष-हान चार साहित्यों में प्रथम रखा गया है । अपने दोष प्रकरण में भोज ने भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट से सामग्री ग्रहण की है ।

भोज ने केवल तीन प्रकार के दोष बतलाये हैं—पददोष, वाक्यदोष, और वाक्यार्थ-

दोष । वामन के पदार्थदोष नामक द्वितीय वर्ग को भोज ने अनावश्यक माना है । भोज के पददोषों की संख्या 16 है । इनमें असाधु, कष्ट, अनर्थक, अन्यार्थक, अप्रतीत, क्लिष्ट, गूढार्थ, नेयार्थ, और ग्राम्य ये नौ वामन से उधार लिये हुए हैं । वामन का आधार भामह रहे हैं । अतः भोज ने भी इस विषय में भामह (अध्याय 1) का उपयोग किया । (भामह 1-37 और 47) अष्टुष्टार्थ को भोज ने रुद्रट (2-8) से लिया है । और इसी प्रकार अस-मर्थ और देश्य को भी रुद्रट के 6-2 से । इन दोषों के अतिरिक्त भोज ने अप्रयुक्त का उल्लेख किया है जो “कविभिरप्रयुक्त” है । उनके संदिग्ध और अप्रयोजक में अप्रयोजक “अवि-शेषविधायक” है । उनके द्वितीय और अन्तिम दोष पूर्ववर्ती लेखकों के ग्रन्थों में किसी न किसी अन्य रूप में मिलते हैं । यह बात इस परिच्छेद के पूर्वार्ध में देखी जा सकती है । अप्रयोजक की तुलना रुद्रट के तद्वत् नामक अर्थदोष से की जा सकती है । भोज ने अप्रयुक्त को भी ग्रहण किया है । जो कवियों द्वारा अप्रयुक्त शब्दों का वर्णन है ! गंवारू और अशिष्ट शब्दों का परित्याग करना चाहिये (देश्य और ग्राम्य) शास्त्रीय और तान्त्रिक (अप्रतीत) शब्दों के प्रयोग से भी बचना चाहिये और इसी प्रकार बचे हुए में जो शब्द काव्य में अप्र-युक्त हो उनसे भी बचना चाहिये ।

वाक्यदोषों की संख्या भी सोलह है । इनमें विसंधि, भिन्नवृत्त और भिन्नयति ये भोज और वामन दोनों में एक समान मिलते हैं । अन्य लेखकों ने भी इनकी चर्चा की है । भोज ने चार उपमा-दोषों को भी वाक्यदोष कहा है । कुछ वाक्यदोषों के लिये भोज रुद्रट के ऋणी हैं । भोज के वाक्यसंकीर्ण और वाक्यगर्भितदोष रुद्रट के 6-40 में वर्णित वाक्य-दोषों से लिये गये हैं । शब्दहीन दोष भोज ने अपनी ओर से जोड़ा है किन्तु यह अनावश्यक है क्योंकि शब्दहीन वाक्यदोष केवल असाधु पददोष है । क्रमभ्रष्ट को वामन ने अपक्रम नामक वाक्यार्थदोष बतलाया है 2-2-22 । इसी प्रकार भोज का पुनरुक्तिमत् भामह और दण्डी का एकार्थ है । वामन ने इसे वाक्यार्थदोष कहा है । 6 या 7 उपमा दोषों में से भिन्नलिङ्ग, भिन्नवचन, न्यूनापमा और अधिकोपमा ये चार शब्ददोष यहाँ वाक्यदोष गिने गये हैं । भोज ने पाँच नये वाक्यदोष बतलाये हैं शब्दहीन, व्याकीर्ण, अपद, अशरीर, और अरीतिमत् । इनमें प्रथम असाधु पददोष से युक्त वाक्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । उलटे पुलटे और इधर उधर बिखरे, अतः भ्रम पैदा करने वाले कर्त्ता और कर्म की अवस्था को व्याकीर्ण कहते हैं । अपद को कुछ स्पष्ट करने की आवश्यकता है ।

विभिन्नप्रकृतिस्यादि पदयुक्त्यपदं विदुः ।

स. क. आ 1-24 ।

तदेतत् प्रकृतिस्थ-कोमल-कठोराणां नागरोपनागराणां ग्राम्याणां वा पदानामयुक्तेः अपदम् ।

शब्द छैः प्रकार के होते हैं । प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर, ग्राम्य, नागर और उपनागर ये तीन तीन के दो वर्गों में समा सकते हैं । इनमें प्रथम तीन का एक और शेष तीन का दूसरा वर्ग है । प्रकृतिस्थ का संबन्ध वाक्यरचना और शब्दविन्यास से है । कोमल और कठोर स्वयं स्पष्ट हैं । द्वितीय वर्ग का संबन्ध प्रसिद्धि अर्थात् सर्वप्रयुक्त कतिपय विद्वज्जन प्रयुक्त तथा कुछ विद्वानों और उनसे संबन्धित व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों से है । ऐसा रत्नेश्वर का कथन है । उन्हें क्रम से ग्राम्य, नागर और उपनागर कहते हैं ।

दोष

संदर्भ के अनुसार कवि को उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। विपर्ययवस्तु की प्रकृति ही इस बात का निर्णय करती है कि कौन से शब्द वहाँ प्रकृतिस्थ, कोमल या कठोर होंगे। और इस बात का निर्णय वक्ता के स्वभाव या संबन्धित पात्र के आधार पर होता है कि शब्द ग्राम्य होंगे अथवा नागर या उपनागर। इन स्थितियों को वाच्यौचित्य और वक्त्रौचित्य कहा जाता है। जब औचित्य या उपयुक्तता के इन दो पक्षों का अभाव होता है तो अपद दोष उत्पन्न होता है। भोज ने इस अपद दोष के संबन्ध में शृं. प्र. में कुछ जोड़ दिया है। रत्नेश्वर ने भोज के अन्य ग्रन्थ में इस परिवर्धन की ओर स. क. आ. के इस भाग की टीका में संकेत किया है।

“शृङ्गारप्रकाशे तु भाषाणामपि भेदः पदमित्युक्तम्।” स. क. आ. पृ. 20।

शृं. प्र. (नवमप्रकाश जिल्द 2 पृ. 304) में अपद की यह परिभाषा दी है— “भिन्न-भाषाप्रकृत्यादिकमपदम्।” जिस प्रकार अर्थ और वक्ता के अनुकूल पद और शब्दावलि होती है उसी प्रकार विषयवस्तु और वक्ता की दृष्टि से उपयुक्त भाषा भी होती है। यथा संस्कृत या कोई एक प्राकृत। भोज ने भाषा के इस औचित्य को प्रथम शब्दालंकार माना है और उसे जाति नाम दिया है। देखिये—आगे अलंकार परिच्छेद। शृं. प्र. जात्यलंकार का विपर्यय अपददोष का एक प्रकार माना गया है। स. क. आ. में उल्लिखित इस दोष पर रत्नेश्वर की टीका बहुत विशद है। अशरीर दोष वाक्य में क्रिया के अभाव का नाम है। वाग्भट ने जो अपने दोष प्रकरण के लिये भोज के ऋणी हैं भोज के इस अशरीर को स्वीकार किया है। अरीतिमत् दोष का निर्माण भोज ने दण्डी के काव्यादर्श के प्रथम अध्याय से किया है। प्रत्येक गुण की परिभाषा और उदाहरण देते हुए उन्होंने इसके विपर्यय का भी निर्देश किया है और उसके लिये एक उदाहरण भी दिया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वामन भी स्वीकार करते हैं कि गुणों के विपर्यय दोष होते हैं और इस श्रेणी से संबन्धित दोष सूक्ष्मदोष की श्रेणी में आते हैं। भोज ने दण्डी के गुण विपर्ययों से दोषों का एक नया वर्ग अथवा एक विशेषदोष बना लिया है उन्होंने इस दोष को अरीतिमत् नाम दिया है। केवल नौ गुणों पर विचार गया है। और समाधि को छोड़ दिया है। यद्यपि इसका स्वरूप स्वाभाविक तौर पर इसे एक विलकुल पृथक् वर्ग से संबन्धित होने के कारण अन्यो से पृथक् कर देता है।

श्लेष-शैथिल्य	}	तीन शब्दप्रधान विपर्यय
समता-विषमता		
सीकुमार्य-कठोरता		
प्रसाद-अप्रसाद	}	तीन अर्थप्रधान विपर्यय]
अर्थव्यक्ति-नेयार्थत्व		
कान्ति-ग्राम्यत्व		
भोजस्-असमस्तत्व	}	तीन उभयप्रधान विपर्यय
माधुर्य-अनिर्व्यूढत्व		
औदार्य-अनलंकार		

इन विपर्ययों में से दण्डी ने अपने ग्रन्थ में न तो सबका समर्थन किया है और न सबका एक ही ढंग से औचित्य सिद्ध किया है। उनके ग्रन्थ में श्लेष-शैथिल्य, प्रसाद-व्युत्पन्न

या अनतिरुद्ध, जो भोज के अप्रसन्न के समान है, और सम-विषम, का समावेश हुआ है। दण्डी ने सुकुमारता का विपर्यय निष्ठुर माना है। भोज के कठोर का भी यही अर्थ है। दण्डी ने इसका उदाहरण दिया है—“न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति।” दण्डी ने इसे कृच्छ्रोग्र बतलाया है। अर्थात् इसे बोलने में कष्ट होता है। उन्होंने इसे दीप्त भी कहा है। भोज ने भामह (1-46) से एक श्लोक उद्धृत किया है जो कठोरता का उदाहरण है। भामह ने इसे गूढशब्दाभिधान नामक अपने दोष का उदाहरण माना। भोज ने दण्डी के गुणों और गुण-विपर्ययों का पूरी तरह विश्लेषण नहीं किया है। दण्डी ने सौकुमार्य के दो भेद बतलाये हैं—एक शब्दविषयक और दूसरा अर्थविषयक। “मण्डलीकृत्य बर्हाणि” इत्यादि अनूजितार्थ-अर्थ सौकुमार्य का उदाहरण है। इसके विपर्यय की ओर इङ्गित नहीं किया गया है और न उसका उदाहरण ही दिया गया है। हम इसके विपर्यय को स्पष्ट रूप से अलंकार मान सकते हैं। यहाँ सीधे, सरल, स्पष्ट और कोमल शब्दचित्रों का ऊँची उड़ान, कल्पना और अलंकार युक्त से वैपरीत्य बतलाया गया है अर्थात् अनूजित सुकुमारार्थ का उज्जितालं-कृतार्थ के साथ विरोध। शब्द सौकुमार्य का उदाहरण भी “मण्डलीकृत्य बर्हाणि” आदि श्लोक की ही कोमल शब्दावली हो सकती है जिसका ठीक विपर्यय “न्यक्षेण क्षपितः” आदि के दुर्वाच्य शब्द हैं। यहाँ शब्द सौकुमार्य का विपर्यय शब्दनैष्ठ्य या कृच्छ्रोद्यत्व अथवा दीप्तत्व है। यहाँ दण्डी ने एक और बात की ओर निर्देश किया है कवि को एक अन्य अति-रेक से भी बचना चाहिये। निश्चय ही नैष्ठ्य का वर्जन और सौकुमार्य का ग्रहण होना चाहिए किन्तु बहुत अधिक मृदु या सर्वकोमल बन्ध रचना को दूषित कर देता है।

“बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दक्षितः सर्वकोमले।”—दण्डी।

वस्तुतः सौकुमार्य और ओजस्वित्व का समशक्तिक गुम्फन काव्य में होना चाहिये। वामन ने अपने श्लेष और प्रसाद अर्थात् गाढता और शैथिल्य (3-2-5 से 8) के द्वारा इसी श्रेष्ठ तत्त्व पर जोर दिया है।

भोज ने अर्थव्यक्ति का विपर्यय नेयार्थत्व को बताकर ठीक ही किया है क्योंकि दण्डी ने कहा है—

“अर्थव्यक्तिनेयत्वमर्थस्य” तथा “नेयत्वमुरगासृजः।” यह विपर्यय बड़ा दोष है। गौडी शैली के समर्थकों को भी इससे बचना चाहिए। भोज द्वारा दण्डी के अपर्याप्त विश्लेषण के प्रसङ्ग हैं माधुर्य, कान्ति और ओज के विपर्यय। दण्डी का माधुर्य दो प्रकार का है प्रथम शब्दमाधुर्य जो मृदु अनुप्रास और शब्दों की अग्राम्यता से उत्पन्न होता है और दूसरा होता है अर्थमाधुर्य जो अर्थ की अग्राम्यता से जन्य है। अनुप्रास—माधुर्य का विपर्यय है—उल्लवण अनुप्रास। अतः भोज द्वारा माधुर्य विपर्यय के रूप में अनिवार्यता का निरूपण और उसका उदाहरण दण्डी के कथन की दृष्टि से से कोई अर्थ नहीं रखते। वे उससे समाधित भी नहीं हैं। फिर भोज ने दण्डी द्वारा बतलाये हुए माधुर्य के व्यत्यय—ग्राम्य को कान्ति का व्यत्यय बतलाया है। दण्डी द्वारा वर्णित कान्ति गुण से यह स्पष्ट है कि यह लौकिकार्थ अनतिक्रम है और इसका व्यत्यय है अत्युक्ति।

इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद् गौडोपलालितम् ।

और यह कान्ति विपर्यय वस्तुतः अतिमात्र दोष है। रुद्रट ने 12-17 में इसका प्रतिपादन किया है। दण्डी के ओज और औदार्य के ऊपर पर्यालोचित श्लेष तथा अन्य गुणों से भिन्न ढंग के हैं। समाज के समान औदार्य का भी कोई स्पष्ट विपर्यय नहीं है। इसका प्रयोग सामान्य रूप में होता है। इसी प्रकार ओज वैदर्भी का प्राण नहीं है। यह गद्य का प्राण या जीवित है—“एतद् गद्यस्य जीवितम्।” वैदर्भी लोग केवल गद्य में इसका आशय लेते हैं। जबकि गौड लोग छन्द में भी इसका प्रयोग। ओज के विषय में इन दोनों में केवल यही एक अन्तर है। भोज ने एक प्रकार के अनुप्रासादि से जन्य बन्ध पारुष्य और शैथिल्य के लिये दण्डी (1-59) के दृष्टान्त को ही ले लिया है। और उसे असमस्त दोष के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने असमस्त को ओज का व्यत्यय माना है। भोज का औदार्य—व्यत्यय मनोरञ्जक है। यह अनलंकार के लिये आया है। श्लाघ्य विशेषण अथवा उत्कर्षवत् गुणप्रतीति इन दोनों में से एक तो अच्छे श्लोक में मिलना ही चाहिये। तभी दण्डी उस श्लोक को उदार कह सकते हैं। और जब दोनों में से एक भी न हो तो वर्णित गुण तुच्छ होंगे और अर्थ भी क्षुद्रत्व से पूर्ण होगा। कुल मिलाकर हमें अपुष्टार्थ या निरलंकार मिलता है।

दीर्घपुच्छश्चतुष्पादः ककुदमान् गलकम्बलः ।

गोरपत्यं बलीवर्दः तृणमत्ति सुखेन सः ॥

तदिदं अपुष्टार्थत्वात् अनुत्कृष्टविशेषणमनुदारात् निरलंकारमाचक्षते ॥ स० क०
आ० पृ० 30 ।

इस प्रकार के एक दोष की वस्तुतः आवश्यकता है जिससे सारे चमत्कारहीन कथनों को काव्य से बहिष्कृत किया जा सके किन्तु भोज को अनलंकार नामक औदार्य विपर्यय की आवश्यकता का औचित्य सिद्ध करने में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। साथ ही साथ रुद्रट से लिये हुए निरलंकार नामक वाक्यार्थ दोष के साथ साथ भोज के समक्ष यह कठिनाई उपस्थित होगी। गुण परिच्छेद में भी इस विषय पर विचार किया गया है।

भोज ने सोलह वाक्यार्थ दोष बतलाये हैं—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम और विरुद्ध। ये छैः भामह और दण्डी से लिये गये हैं। अतिमात्र और विरस रुद्रट के अर्थदोषों में से हैं। अश्लील पूर्ववर्त्ती लेखकों से लिया गया है और यही बात हीनोपमा अधिकोपमा असदृशोपमा और अप्रसिद्धोपमा नामक उपमा दोषों के विषय में कही जा सकती है। अन्तिम दोष रुद्रट से लिया गया है। निरलंकार भी उन्हीं से उधार लिया हुआ है। रुद्रट ने 6-40 और 46 में अनलंकार वाक्यदोष का उल्लेख किया है। भोज ने इनमें केवल दो जोड़ दिये हैं—खिन्न और परुष। खिन्न की परिभाषा है—वर्णन के लिये गृहीत अर्थ का विशदता से वर्णन करने या उसे जारी रखने में कवि की अक्षमता। परुष अतिमात्र का एक भेद है। यह क्रूरार्थ कहकर परिभाषित किया गया है। इसकी अनुपस्थिति माधुर्य नामक अर्थगुण कहलाती है। भोज ने इसकी परिभाषा दी है—अतीव्रता।

यत्तु क्रूरार्थमत्यर्थं परुषं तु तदुच्यते ।

और—माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्य तीव्रता ।

विरस के संबन्ध में यही बात ध्यान में रखनी है कि भोज ने रुद्रट के विरस के दो भेदों में से प्रथम भेद को ही स्वीकार किया है। उन्होंने अप्रस्तुत या क्रमापेत रस को ही स्वीकार किया है। प्रस्तुत रस की भी अतिवृद्धि को जो कि रुद्रट के विरस का द्वितीय भेद है, उन्होंने छोड़ दिया है। भोज ने विरोध के प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये वर्ग किये हैं।

प्रत्यक्षविरोध	अनुमानविरोध	आगमविरोध
देश	युक्ति	धर्म-काम
काल	औचित्य	अर्थादिशास्त्र
लोक आदि	प्रतिज्ञा	

यहाँ भोज ने भामह की प्रतिज्ञाहानि को अनुमान-विरोध के अन्तर्गत लिया है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि औचित्य विरोध को अनुमान विरोध के अन्तर्गत रखना समझ के परे है।

प्रबन्धदोष

अभिनवगुप्त द्वारा भरत की व्याख्या की समीक्षा करते हुए हमने देखा है कि किस प्रकार अभिनवगुप्त ने एक पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार द्वारा भरत के अर्थान्तर या अवर्ण्यवर्णन प्रबन्ध-दोष मानने पर आपत्ति की है। अभिनवगुप्त ने इसे वाक्यदोष माना है और कहा है कि संधि संध्यङ्गों पर इतना अधिक जोर प्रबन्ध में अर्थान्तर जैसी अप्रासङ्गिकताओं को बचाने के लिये दिया जाता है। रुद्रट ने गतार्थ वाक्य (शब्द) दोष को प्रबन्ध-दोष माना है।

“तदिति प्रबन्ध-विषयं गतार्थमेतत् ततो विद्यात्” । 6-45 ।

“तदेतत् प्रबन्धविषयं विपुलग्रन्थगोचरम्” आदि । नमिसाधु ।

भोज ने भी ऐसे ही प्रबन्ध-दोषों की चर्चा की है। जिस प्रकार दोषों के वर्णन और गुणों तथा अलंकारों के आदान से वाक्य में रसमयता की प्राप्ति होती है उसी प्रकार बड़े प्रबन्ध दोषों के वर्जन के संयोग तथा संपूर्ण ग्रन्थ में गुणों और अलंकारों से संपूर्ण प्रबन्ध में रसावियोग की उपलब्धि होती है। भोज ने औचित्य नामक व्यापक शीर्षक के अन्तर्गत सारे प्रबन्ध-दोषों को एकत्र कर दिया है और उदाहरण स्वरूप एक दृष्टान्त भी दिया है।

प्रबन्ध-विषयः (रसावियोगः) उच्यते । सोऽपि दोषहानेन गुणोपादानेन अलंकारसंकरेण च प्रकाशमानः मनीषिणां मनःप्रकर्षहेतुर्भवति ।

तत्र दोषहानम् अनौचित्यादि परिहारेण । यथा माताकैकेयीदशरथाभ्यां रामः प्रवासितः । न मातापितृभ्यां निर्दोषदशरथे आदि । शृं. प्र. जिल्द 2 प्रकाश 11 पृ. 410 । देखिये स. क. आ. पृ. 642-43

वाक्यवत् च प्रबन्धेषु रसालंकारसंकरान् ।

निवेशयन्त्यनौचित्यपरिहारेण सूरयः ॥ कारिका 126 स. क. आ. ।

मूल कथा के उन भागों के परित्याग अथवा परिवर्तन से, जो कवि द्वारा उद्दिष्ट रस अथवा अर्थ के विकास में सहायता नहीं पहुँचाते, मूलकथा के आधार पर किसी आख्यायिका अथवा नाट्यकृति का निर्माण किया जाता है।

मूल कथावस्तु के ऐसे ही अनौचित्यपूर्ण प्रसंगों का वर्जन करके कवि को अपनी कल्पना शक्ति के प्रयोग द्वारा वस्तु को गढ़ना पड़ता है। आनन्दवर्धन ने 3-2 में इस बात का बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वा ननु गुणां स्थितिम् ।

उत्प्रेक्ष्योऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥

पृ० 147-48 पर इसकी वृत्ति भी देखिये। कुन्तक ने चतुर्थ परिच्छेद में प्रकरण वक्रता के एक भेद के रूप में इसकी चर्चा की है।

प्रकरणवक्रता

इतिवृत्तप्रयुक्तेऽपि कथावैचित्त्यवर्त्मनि ।

उत्पाद्यलवलावण्यादन्या भवति वक्रता ॥

+ + + +

निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।

गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ।

दे का संस्करण पृ. 224-5

दोष प्रकरण के सम्बन्ध में शृं. प्र. और स. क. आ. में बहुत कम अन्तर हैं। स. क. आ. में भोज ने इस विषय का प्रतिपादन धीरे-धीरे निश्चित ढंग से किया है। वहाँ वे एक पंक्ति या पूरे श्लोक में प्रत्येक दोष की परिभाषा देते गये हैं। किन्तु शृं प्र. में वे जल्दी जल्दी आगे बढ़े हैं। उन्होंने शृं. प्र. में स. क. आ. की परिभाषाओं को ही संक्षिप्त गद्य सार के रूप में दे दिया है। दो अन्तर और हैं जिनमें एक महत्त्वपूर्ण है और दूसरा बहुत मामूली स. क. आ. के अरीतिमत् का व्याख्यात्मक ढंग से शृं. प्र. में श्लेषादि गुण विपर्यय यह पुनर्नामकरण किया गया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पद दोष केवल अनुचित शब्द या पदजाति ही नहीं, अपितु अनुचित भाषा अर्थात् भाषा-जाति भी बतलाया गया है। जहाँ तक शब्दगुणों का सम्बन्ध है, उन्हें वैशेषिक गुण कहा है। दोष को अनित्य परिभाषित करते समय इस विषय पर काफी कहा गया है। भामह ने अपने प्रारम्भिक परिच्छेद के शुरू में ही यह बात स्पष्ट की है कि किस प्रकार कभी कभी दोष भी गुण बन जाते हैं। दण्डी ने अपने दोष प्रकरण में इस बात को सिद्ध किया है और रुद्रट ने उन्हीं का अनुसरण किया है। भोज ने उन्हीं का आश्रय लेकर गुणों का एक वर्ग ही बना दिया है। और उसे वैशेषिक नाम दिया है। (आगे गुण परिच्छेद और मेरे “सम कान्सेप्ट्स” में औचित्य परिच्छेद देखिये) इस विषय पर “सन्निवेशात्” आदि भामह का (1-54) श्लोक और “किञ्चदाश्रयसौंदर्याद्” आदि (1-55) श्लोक भोज ने ज्यों का त्यों उद्धृत किया है।

महिमभट्ट

दोष प्रकरण के संबन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण देन महान् दोषज्ञ, जिन्हें हम पुरोभागी कह सकते हैं, महिमभट्ट की है। इनके व्यक्ति विवेक का दूसरा परिच्छेद दोष प्रकरण से ही संबन्धित है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि महिमभट्ट ने समस्त दोषों को अनौचित्य

कहकर परिभाषित किया है। अनौचित्य का संबन्ध शब्द से भी होता है। और अर्थ से भी। महिमभट्ट का कथन है कि अयं दोष विभावादि के निरूपण पर लागू होता है। पूर्ववर्ती लेखकों तथा आनन्दवर्धन ने (तृतीय उद्योत में) इसका प्रतिपादन किया है। शब्ददोष बहिरङ्ग है और उसके बहुत से प्रकार हैं। जिनमें से पाँच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषयं शब्दविषयं चेति। तत्र विभावानुभाव-व्यभिचारिरामग्रथायथं रसेषु यो विनियोगः तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गम् आद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। अपरं पुनर्बहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति तद्यथा (1) विधेयाविमर्शः (2) प्रक्रमभेदः (3) क्रमभेदः (4) पौनरुक्त्यम् (5) वाच्यावचनम् चेति। दुःश्रावत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव तस्याप्यनुप्रासादेरिव रसानुगुण्येन प्रवृत्तेरिष्टत्वाद् एतस्य च विवक्षितरसादि प्रतीतिविघ्नविघ्रायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। अन्तरङ्गबहिरङ्गभावश्चानयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्ग हेतुत्वादिष्टः। त एते विधेयाविमर्शादयो दोषाः इत्युच्यन्ते।

व्य. वि. 2 पृ. 37 त्रिवे. सं. सी. सं.।

शब्ददोषाणामनौचित्योपगमात्। व्य. वि. 31।

पारम्पर्येण साक्षात् च तदेतत् प्रतिपद्यते।

कवेर्जागरूकस्य रसभङ्गनिमित्तात् ॥

यच्चेतत् शब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते

तस्य प्रक्रमभेदाद्या दोषाः पञ्चैव योनयः ॥

श्लोक 90-91।

इन पाँच प्रमुख दोषों में से प्रथम विधेयाविमर्श का संबन्ध समास से है। कुछ शब्दों पर दिये जाने वाले बल को बिना नष्ट होने देकर समास कर सकना बड़ा कठिन है। इसलिये महिमभट्ट का कथन है कि वैदर्भी रीति ही सर्वोत्तम और सर्वाधिक शङ्कारहित होती है क्योंकि उसमें समास नहीं होते। जिसको हम महत्त्व देना चाहते हैं उसको आवश्यक महत्त्व न दे पाना ही विधेयाविमर्श है। प्रकरणभेद और क्रमभेद परस्पर संबन्धित दोष हैं। वे नवीन हैं और पुराने अपक्रम का ही विशदीकृत रूप हैं। पौनरुक्त्य प्राचीन दोष है जिसे पूर्ववर्ती लेखकों ने एकार्थ नाम दिया था। पादपूरण अप्रयोजक और तद्वत् जैसे पुनरुक्तिजन्य अथवा पुनरुक्ति के सहचर दोषों का उल्लेख महिमभट्ट ने एक विशिष्ट शब्द अवकर द्वारा किया है जिसका अर्थ है केवल धूल या कूड़ा। अवश्यकथनीय का कथन न किये जाने को वाच्यावचन कहते हैं। इसी से संबन्धित है इस दोष का दूसरा पक्ष—अवाच्यवचन अर्थात् अनावश्यक का कथन। पृ. 100। समस्त अवाच्यवचन अवकर होता है।

यत् स्वरूपानुवादैकफलं फलगुविशेषणम्।

अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम् ॥

तद्वाच्यमिति जेयं वचनं तस्य दूषणम्।

तद्वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते ॥ पृ. 107।

“स्वरूपानुवादैकफल” विशेषण रुद्रट के तद्वत् और भोज के अप्रयोजक का ही दूसरा रूप है पादपूरक आदि भी इनसे संबन्धित है। जब कोई बात सीधे सीधे सपाट कही जाय तो इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह कथन कोरा वक्तव्य बन कर न रह

जाय। चित्र को स्पष्ट करने वाले विशेषणों और विवरणों को बिना प्रस्तुत किये केवल प्रसिद्ध एवं सामान्य विवरणों के उपस्थित कर देने से वस्तु का चित्रण प्रतिवेदन मात्र बन-कर रह जाता है। अनावश्यक ढूस-ढाँस अवाच्यवचन या अवकर हो जाती है। इसलिये कवि की उक्ति साफ सीधी किन्तु साथ ही प्रभावोत्पादक होनी चाहिये। यदि उसका कथन प्रभावजनक नहीं है तो उसमें एक दोष माना जायगा जिसे रुद्रट ने अपुष्टार्थ कहा है। महिमभट्ट ने भी अपुष्टार्थ का उल्लेख किया है।

वस्तुमात्रानुवादस्तु पूरणकफलो मतः।

अर्थदोषस्स दोषजैरपुष्ट इति गीयते ॥ 1

व्य. वि. 2-122 पृ. 109।

व्यक्तिविवेक का द्वितीय परिच्छेद बड़ा विद्वत्तापूर्ण है। इसमें उच्चकोटि की समी-क्षण शक्ति का परिचय मिलता है किन्तु विवश होकर कहना पड़ता है कि महिमभट्ट के दोष इतने अतिरेकपूर्ण हैं कि उन पर ध्यान देने से काव्य रचना ही असंभव हो जायगी। राघवभट्ट ने कुछ हद तक उनका अनुसरण किया है और उन्होंने प्रक्रमभेद दोष को बचाने के लिये कालिदास के कुछ श्लोकों का शाकुन्तल की अपनी टीका में पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की है। किन्तु पूर्णस्वामी ने मेघदूत के उत्तरार्ध के प्रथम श्लोक की अपनी टीका में ठीक ही कहा है कि “विद्युत्वन्तं” आदि श्लोक में प्रक्रमभेद जैसे क्षुद्र दोष कवि के गौरव को कोई क्षति नहीं पहुँचाते। स्वयं महिमभट्ट ने ही कहा है कि सामान्य कथन शैली से भिन्न होने के कारण काव्योक्तियों का प्रक्रमभेद से विरहित होना संभव नहीं है।

तदेतद् उक्तं भवति-सर्व एव भणितिप्रकारः प्रक्रमभेदस्यविषय इति। इसलिये सीमित क्षेत्र में ही इन दोषों का प्रयोग होना चाहिये। 2

मम्मट

दोषों का एक परिगणन भोज ने किया है और दूसरा मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में। मम्मट ने इस प्रसङ्ग में महिमभट्ट की मान्यताओं पर भी विचार किया है। मम्मट आनन्दवर्धन के अनुयायी थे। तदनुरूप उन्होंने अपने दोष विषयक विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि दोष वह है जो काव्य के मुख्य तत्त्व—रस को दूषित कर दे। अतः वह मुख्यतया रस का धर्म है। गौरा रूप से उसे शब्ददोष, अर्थदोष, वर्णदोष और रचनादोष इन रूपों में भी वर्णित किया है। “शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद् वर्णरचने।” त्रिवेन्द्रम सं. सी. सं. भाग

1. त्रिवे. सं. सी. सं. के व्य. वि. में यह पंक्ति नहीं मिलती। अपने वर्तमान रूप में त्रिवे. सं. सी. सं. में पृ. 109 पर संग्रह श्लोक हैं जो आधी पंक्ति के साथ समाप्त हो जाते हैं। मैंने जो खोई हुई पंक्ति ऊपर दी है वह मुझे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन से मिली है। इसमें पूर्ववर्ती कृतियों के सुन्दर उद्धरणों का अलम्ब्य संग्रह है। देखिये हेमचन्द्र का काव्यानुशासन व्याख्या पृ. 275।

2. आगे चलकर एकावली के लेखक विद्याधर ने दोषों के विषय में महिमभट्ट का अनुसरण किया है। तो भी उन्होंने क्रमभङ्ग को छोड़ दिया है और महिमभट्ट के शेष चार दोषों—अविमृष्ट—विधेयांश, प्रक्रमभङ्ग, वाच्यावचन (और अवाच्यवचन) तथा अर्थपौनरुक्त्य का उल्लेख किया है।

2 पृ. 8 । यद्यपि हम पहले कह चुके हैं कि दोषों की चर्चा संघटना एवं वृत्ति आदि के सम्बन्ध में की जा सकती है तो भी अभी तक हमें कोई ऐसा लेखक नहीं मिला है जिसने काव्य के इन श्रृङ्गों के संदर्भ में दोषों का वर्णन या विशदीकरण किया हो । यहाँ हम मम्मट को स्पष्टतया वर्णदोषों और रचना-दोषों की चर्चा करते पाते हैं । सर्वप्रथम मम्मट ने सोलह दोष गिनाये हैं—श्रुतिकटु, च्युतसंस्कार, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, अवाचक, अश्लील (तीन भेद) संदिग्ध, अप्रतीतिग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश, विरुद्धमतिकृत्, और तीन समासगत दोष ।

भोज के अप्रयुक्त शब्द को कवियों ने नहीं अपनाया किन्तु मम्मट ने उसे ग्रहण किया है । वामन के गूढार्थ को एक नया नाम 'निहतार्थ' देकर ले लिया है । यह दोष द्व्यर्थक शब्द का कम प्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करने पर उत्पन्न होता है । अनुचित पद, संभवतः मम्मट की अपनी उपज है । यह अनुपयुक्त शब्द का नाम है और यद्यपि इसका क्षेत्र और महत्त्व बहुत व्यापक है—तो भी मम्मट के उदाहरण ने इसे कुछ सुनिश्चित कर दिया है । क्लिष्ट, अविमृष्टविधेय और विरुद्धमतिकृत् को समासदोषों के रूप में यहाँ पहली बार साफ-साफ वर्गीकृत किया गया । मम्मट से पूर्व केवल अविमृष्ट-विधेय ही समास से संबन्धित माना जाता था । अविमृष्ट-विधेय के अन्तर्गत मम्मट ने उदाहरण व्याख्या या अन्य भी जो कुछ कहा है सब महिमभट्ट से लिया हुआ है । मम्मट के मत में कुछ अन्य दोष भी कभी कभी समासगत हो जाते हैं । समास में श्रुतिकटु इसका उदाहरण है । (पृ. 29 जिल्द 2) त्रिवे. सं. सी. सं. 7-4 में मम्मट ने संकेत किया है कि इनमें से च्युतसंस्कार, असमर्थ, और निरर्थक को छोड़कर कुछ दोष केवल पद से ही नहीं अपितु वाक्य से भी संबन्धित हैं और इनमें से कुछ पदांश से भी । "वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ।" उन्होंने वाक्य में इनका उदाहरण दिया है । इस प्रसङ्ग में भी मम्मट ने वामन और महिमभट्ट का पूरी तरह उपयोग किया है ।

इसी प्रकार उन्होंने श्रुतिकटु तथा उपर्युक्त कुछ अन्य दोषों को पदांश से संबन्धित बतलाया है । ये दोष हैं—श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, संदिग्ध आदि । 7-5 और 6 में मम्मट ने बीस वाक्यदोष गिनाये हैं । ये हैं—प्रतिकूलवर्ण, उपहतलुप्त-विसर्ग, विसंधि, हतवृत्त, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्त पुनराप्त, अर्थान्तरैकवाचक, अभवन्मतयोग अतभिहित-वाच्य, अपदस्थपद, अपदस्थ समास, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धचिन्ति, भग्न प्रक्रम-अक्रम और अमतपरार्थ । आनन्दवर्धन द्वारा तृतीय उद्योत में निरूपित वर्णध्वनि ने मम्मट को प्रतिकूल वर्ण अर्थात् रस की दृष्टि से अनुपयुक्त वर्ण नामक वाक्यगत वर्ण-दोष प्रदान किया है । मम्मट की एक दूसरी उपज है उपहत लुप्त विसर्ग अर्थात् या तो विसर्ग का लगातार ओ वन जाना या उसका बार-बार लुप्त हो जाना । मम्मट का तीसरा नया दोष है—कथित-पद अर्थात् एक ही शब्द का एक ही वाक्य में एक ही अर्थ में दो बार प्रयोग । पतत् प्रकर्ष और समाप्ति पुनराप्त क्रमशः प्रकर्ष की श्रौर जाकर एकदम नीचे उतर आने और बात को एक बार समाप्त करने के बाद उसे फिर से प्रारम्भ करने का नाम है । सभी पञ्चाद्वर्ती लेखकों ने इन दोनों को स्वीकार किया है । उनका छठा नया दोष है अर्थान्तरैक-वाचक अर्थात् छन्द के पूर्वार्ध में प्रयुक्त किसी एकाकी शब्द का उत्तरार्ध में आ जाना ।

मम्मट ने उदाहरण में इस दोष को और अधिक स्पष्ट कर दिया है और रत्नेश्वर ने इसी तरह भटके हुए शब्दों की उपमा भूली भटकी वस्तु के साथ प्रभावोत्पादक ढंग से दी है। अभवन्मत योग की सृष्टि कवि की मोड़ी या भड़ी अभिव्यक्ति से होती है जिसमें ईप्सित अन्वय व्याकरण की दृष्टि से सम्भव नहीं होता। उदाहरण में इस बात को और स्पष्ट कर दिया है। यह छन्द में यत् तत् के प्रयोग से संबन्धित है। मम्मट का अनभिहित वाच्य वही है जो महिमभट्ट का वाच्यावचन अस्थानपद किसी न जैसे महत्त्वपूर्ण शब्द का अनुचित स्थान में रख देना कहलाता है।

यह तथा अगला स्थानसमास दोष मम्मट ने अपनी ओर से जोड़े हैं। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ के तृतीय उद्योत में समास—संघटना विषयक औचित्य और अनीचित्य का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। अस्थान-समासदोष यहीं से निष्पन्न हुआ है। अगले दो संकीर्ण और गंभीत-वाक्यदोष रुद्रट से लिये गये हैं और ऊपर हमने देखा ही है कि इन्हें भोज ने भी गृहीत किया है। प्रसिद्धि च्युत अनुकरणमूलक तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों का जिनका प्रयोग कुछ विशिष्ट पदार्थों और प्राणियों के संबन्ध में होता है, दुरुपयोग का नाम है। उदाहरणार्थ हृषित का प्रयोग केवल घोड़े के हींसने के लिये हो सकता है, हाथी के चिंघाड़ने के लिये नहीं। उसके लिये पृथक् शब्द है फीटकार। रुद्रट ने इस दोष का उल्लेख किया है किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उसे अनुचित ढंग से ग्राम्य के अन्तर्गत बतलाया है। प्रक्रम और क्रमभङ्ग ये दोनों महिमभट्ट से लिये गये हैं। अमतपरार्थ यद्यपि भारी भरकम और विचित्र नाम के कारण नया प्रतीत होता है तथापि वह रुद्रट के विरस दोष के प्रथम भेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भोज ने केवल विरस को ही स्वीकार किया है। भोज ने भी अकेले इस दोष को ही स्वीकार किया है। इसके समान अन्य उदाहरणों में भी मम्मट ने कुछ तो अपने द्वारा चुने हुए आर्याछन्द के कारण कुछ ऐसे विचित्र नाम दिये हैं जिनमें प्रसाद का संस्पर्श नहीं है और जिनसे उनका अर्थ भी तुरन्त स्पष्ट नहीं होता। इसके पश्चात् मम्मट ने (7-7, 9) अर्थदोषों का निरूपण किया है। ये हैं—अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धिविरुद्ध, विद्याविरुद्ध, अनवीकृत, सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, विशेषपरिवृत्त, अविशेषपरिवृत्त, साकङ्क्ष, अपदमुक्त, सहचरमिन्न, प्रकाशित विरुद्ध, विध्यनुवादायुक्त, त्यक्त पुनः स्वीकृत और अश्लील। इनमें से अपुष्ट और निर्हेतु ये दो महत्त्वपूर्ण दोष रुद्रट से लिये हुए हैं। व्याहत और पुनरुक्ति आदि प्राचीन दोषों का ही एक वर्ग है प्रकाशित विरुद्ध और त्यक्त पुनः स्वीकृत की प्रकृति विरुद्धमतिकृत् और समाप्त पुनरात शब्ददोषों से मिलती जुलती है प्राचीन लोकविरुद्ध दोष को बदलकर प्रसिद्धिविरुद्ध नाम दे दिया गया है क्योंकि प्रसिद्धि लोक नहीं तो और क्या है? इसके अतिरिक्त प्रसिद्धि के अन्तर्गत अन्य बातों का भी समावेश हो जाता है जो प्रकृति में तो नहीं मिलती किन्तु कविसमय के अनुसार प्रसिद्ध हैं। रेखांकित दोषों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि ये पहले पहले मम्मट ने ही ग्रहण किये हैं। एक ही शब्द समुदाय अथवा वाक्यांश की बिना किसी नवीन अर्थ के आवृत्ति का नाम अनवीकृत है। किसी विशिष्ट अर्थ को विशिष्टता प्रदान न करना सनियम परिवृत्त दोष है और अनावश्यक विशिष्टता प्रदान करना अनियम परिवृत्त कहलाता है।

किसी वस्तु के अशुद्ध विशेषण अथवा उसके गुणों की ठीक ठीक विशेषता न बतलाना अथवा अतिसामान्य अर्थ में आवश्यक विशिष्टीकरण का अभाव विशेष परिवृत्ति की सीमा में आते हैं। सामान्य के स्थान पर विशेष का कथन अविशेष परिवृत्त कहलाता है। और अर्थ की अपूर्णता को साकाङ्क्ष कहते हैं। अनुचित स्थान पर अर्थ की समाप्ति या परित्याग करना अस्थान मुक्त होता है।

जब किसी अर्थ का विशदीकरण किया जा रहा हो और उसके विभिन्न पक्षों का एक-एक कर चित्रण किया जा रहा हो तो कोई कवि उसे समाप्त करते समय ऐसा वर्णन नहीं कर सकता जो पूर्वोक्त कथन के विरुद्ध हो। सहचार भिन्न साथ में या पहले वर्णित अर्थ से संगति न बैठने का नाम है। अच्छी वस्तुओं के परिगणन या वर्णन के समय बुरी वस्तुओं का समावेश नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ यह कहना अच्छा नहीं है कि बुद्धि की शोभा अध्ययन, मूर्खता और कष्ट से बढ़ती है। फिर वाक्य में जिस बात को प्रमुखता से कहा गया है उसे अन्य सहायक विचारों की तरह गौण नहीं बना देना चाहिए। अर्थात् विधेय को अनुवाद नहीं बनाया जा सकता।

इसके बाद मम्मट ने बतलाया है कि किस प्रकार ये सब दोष कुछ विशेष परिस्थितियों तथा अनुकरण वक्ता की प्रकृति आदि दशाओं में दोष नहीं रह जाते। मम्मट ने निम्नलिखित रस दोष भी गिनाये हैं— स्थायित्वव्यभिचारिणां स्वशब्दोपादानम्, कष्टव्यक्तिः, अनुभावादीनां प्रतिकूलविभावादिग्रहः, पुनः पुनः दीप्तिः, अकाण्डे प्रथनम्, अकाण्डच्छेदः, अङ्गस्यातिविस्तृतिः अङ्गिनोऽनुसन्धानम्, प्रकृति-विपर्ययः और अनङ्गस्य अभिधानम्। आनन्दवर्धन पर विचार करते समय इनका विवेचन किया जा चुका है। इनके लिये मम्मट ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत के ऋणी हैं। इन दोषों के उल्लेख के पश्चात् मम्मट ने कुछ अपवादों तथा अवस्थाओं की ओर संकेत किया है। जिनमें ये दोष गुण बन जाते हैं। मम्मट के काव्य-प्रकाश का सप्तम प्रकाश सबसे बड़ा दोष निरूपण ग्रन्थ है। और यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण भी है। अपद, अरीतिमत् और दो एक अन्य गौणदोषों को, जो कि केवल भोज में ही मिलते हैं छोड़कर शेष सब दोष, बल्कि महिमभट्ट और स्वयं मम्मट द्वारा स्वीकृत बहुत से नये दोष भी काव्यप्रकाश के सप्तम प्रकाश में मिलते हैं। दोषों का मौलिक विवेचन करने वाले लेखकों में मम्मट अन्तिम थे। अन्य बातों के समान दोषों के संबन्ध में भी परवर्ती लेखकों (संग्रहकारों) ने मम्मट का ही अनुसरण किया है। दोषों के इतिहास और विकास में मम्मट का स्थान महत्वपूर्ण है। क्योंकि उन्होंने दोषों के एक अन्य वर्ग—अलंकार दोषों का विवेचन किया है। मेघावी के समय से केवल एक अलंकार—उपमा—के दोषों का ही उल्लेख किया जाता रहा।

सामान्य अलंकारों के उचित प्रयोग के विषय में आनन्दवर्धन ने कुछ युक्तियों का प्रतिपादन किया था जिनकी ओर ध्यान न देने से सामान्य अलंकार दोष उत्पन्न होते हैं किन्तु अलग अलग अलंकारों से संबन्धित दोषों का परिगणन और विवेचन सबसे पहले मम्मट की ही कृति में रहता है। अलंकार प्रकरण (दशम उल्लास) के अन्त में हम मम्मट को कुछ अलंकारों से संबन्धित दोषों का उल्लेख करते हुए पाते हैं। किन्तु उन्हें स्वीकार न करते हुए मम्मट ने कहा है कि इन दोषों का पृथक् वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सप्तम

प्रकाश में वर्णित पद, वाक्य और वाक्यार्थ संबंधी अनेकों दोषों में से किसी न किसी के भीतर उनका अन्तर्भाव हो जाता है ।

अलंकार	संभावितदोष	सप्तम समुल्लास के वे दोष जिनमें इनका अन्तर्भाव शक्य है ।
अनुप्रास	प्रसिद्धि भाव, वैफल्य, वृत्तिविरोध	प्रसिद्धि विरोध, अपुष्टार्थत्व, प्रतिकूल वर्णता ।
यमक	पादत्रयमात्रयमनम्	यह कवि परंपरा के विरुद्ध है । अतः अप्रयुक्त के अन्तर्गत आता है ।
उपमा	जातिप्रमाणगतम्, न्यूनत्वम्, अधिकत्वम् च, धर्माश्रय न्यूनाधिकते, लिङ्गवचनभेद और कालपुरुष विध्यादिभेद अपाश्रय और असंभव	अनुचितार्थत्व हीनपाद और अधिकपाद प्रक्रमभेद अनुचितार्थत्व
उत्प्रेक्षा	ध्रुवेवादिशब्दस्थाने यथादि- शब्द प्रयोग तात्त्विकरूपेण परिवर्जित, निरूपाख्य, गगनालेख्य प्रख्य	अवाचकत्व अनुचितार्थत्व
समासोक्ति	अपुष्टार्थत्व पुनरुक्तता, और व्यङ्ग्य शस्यस्वशब्दो- पादान	स्वशब्दोपादान
अप्रस्तुत प्रशंसा	” ” ”	”

यह बड़ा रुचिकर प्रसंग है । परवर्ती काल के अनेकों अलंकार ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें केवल शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का ही विवेचन है । किन्तु उनमें से किसी में भी अलंकारदोषों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है । अलंकारों का समीक्षात्मक अनुशीलन, आनन्दवर्धन के शास्त्रीय ग्रन्थ के अनुसार उनका उचित प्रयोग, इनमें से प्रत्येक के लक्षण, इनका अनुचित प्रयोग और दोष, ये सब मनोरञ्जक हैं विषय हैं । परवर्ती लेखकों ने, जैसा कि हम अभी देखेंगे विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश के अन्तिम प्रकाश के इस अन्तिम भाग पर ध्यान दिया है और उन्होंने अपने साहित्यदर्पण के सप्तम परिच्छेद में मम्मट का पूर्ण अनुसरण करते हुए अलंकारदोषों का अन्तर्भाव पद वाक्य और वाक्यार्थ दोषों में कर दिया है ।

हेमचन्द्र

काव्यानुशासन के तृतीय अध्याय में हेमचन्द्र—कृत दोष—निरूपण मम्मट के दोषाध्याय का ही अनुवाद है। हेमचन्द्र ने मम्मट के सब रस दोषों को स्वीकार किया है। उन्होंने उनके प्रायः सभी पद दोषों और वाक्यदोषों को भी अङ्गीकार किया है और उनके अन्तिम दोष—अमृत परार्थ अनन्वित नाम दे दिया है। मम्मट के समस्त अर्थदोषों को भी मान लिया है। और इस प्रकार काव्यानुशासन का तृतीय अध्याय काव्यप्रकाश के सप्तम प्रकाश से बिलकुल मिलता जुलता है। दोनों ग्रन्थों में दोषों की संख्या, प्रकृति और उदाहरण एक समान हैं। हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ की अपनी व्याख्या में रसदोष अविमृष्टविधेय तथा प्रक्रम और क्रमभङ्ग शीर्षकों के अन्तर्गत महिमभट्ट और आनन्दवर्धन से लेकर कुछ अतिरिक्त बातें भी जोड़ दी हैं।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के सप्तम अध्याय में मम्मट का सप्तम प्रकाश ही उद्धृत कर दिया है। विश्वनाथ के ग्रन्थ में एक बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने रसदोष के पश्चात् काव्यप्रकाश के दशम उल्लास के अन्त से लेकर अलंकारदोषों को भी सम्मिलित कर लिया है। ऊपर इस बात की ओर संकेत किया ही जा चुका है किन्तु मम्मट का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी कहा है कि इनके पृथक् निरूपण की आवश्यकता नहीं है।

विद्यानाथ

प्रतापरुद्रीय के रचयिता विद्यानाथ ने पञ्चम अध्याय में दोषों का निरूपण किया है। मम्मट का अनुसरण करते हुए भी विद्यानाथ उन लेखकों में हैं जिन्होंने भोज के स. क. आ. से अधिक से अधिक सामग्री ग्रहण की है। यह बात उनके गुण और दोष दोनों के निरूपण में देखी जा सकती है। वाक्यदोषों के अन्तर्गत विद्यानाथ ने उन प्राचीन दोषों का उल्लेख किया है जिन्हें मम्मट और भोज दोनों ने स्वीकार कर नियमबद्ध किया है। अशरीर और अरीतिमत् ये दोनों उन्होंने भोज से लिये हैं। उन्होंने भोज के अरीतिमत् को और सरल बना दिया है। उन्होंने नाम तो भोज से दिया है किन्तु उसकी व्याख्या इस प्रकार दी है कि उसमें शैलीगत समस्त अनौचित्यों—रसानुगुण रीति—का समावेश हो जाता है। वस्तुतः अरीतिमत् से भोज का ठीक यही आशय नहीं था। भोज के अरीतिमत् का आशय था श्लेष तथा अन्य सात गुणों का विपर्यय। विद्यानाथ ने नाम तो भोज से लिया किन्तु उसका प्रयोग मम्मट के प्रतिकूल वर्णदोष के समान किया। इसी प्रकार मम्मट ने अपने अर्थदोषों की तालिका भी भोज और मम्मट के आधार पर प्रस्तुत की है। उनके अर्थदोषों में निरलंकृति अतिमात्र, परुष और विरस भोज से लिये गये हैं। उन्होंने पञ्चम अध्याय की अन्तिम पंक्ति में मम्मट के अनुसार रस दोषों की ओर भी संकेत किया है। विद्यानाथ उन थोड़े से परवर्ती लेखकों में हैं जिन्होंने दोषों के विषय में एक सीमा तक भोज को उपजीव्य बनाया है।

केशवमिश्र

अन्य परवर्ती लेखकों में जो दोष प्रकरण के लिये एक सीमा तक भोज के ऋणी हैं

अलंकारशेखर (१६ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण) के रचयिता केशवमिश्र का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने शेखर के द्वितीय अध्याय में दोषों का विवेचन किया है। केशवमिश्र ने वाक्यदोषों के अन्तर्गत भोज के अरीतिमत् का वर्णन किया है। किन्तु विद्यानाथ के समान उन्होंने इसे नया अर्थ दे दिया है यद्यपि उनकी और विद्यानाथ की अरीतिमत् परिभाषा में अन्तर है। विद्यानाथ की दृष्टि में अरीतिमत् रस की अनुकूल रीति का नाम है। केशव इसे रीति से प्रारम्भ करके उसका निर्वाह करने में असमर्थ होने के कारण उसके परित्याग अर्थात् प्रक्रमभङ्ग या रीतिभङ्ग को अरीतिमत् मानते हैं। आश्चर्य की बात है कि वे स्वयं रीति का अर्थ प्रक्रम या प्रारम्भक्रम मानते हैं। उन्होंने प्रक्रमभङ्ग का एक उदाहरण दिया है "गाहन्तां महिषाः" आदि। शाकुन्तल का यह उदाहरण मम्मट के द्वारा महिमभट्ट से लिया गया है। स्वयं भोज ने भी रीति का अर्थ क्रम और उपक्रम का एक प्रकार बतलाया है। और इसे शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनों स्वीकार किया है "उपक्रमस्य निर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते।" संभवतः भोज के इस रीति नामक गुण के उदाहरण से केशव को बल मिला होगा। विद्यानाथ के अरीतिमत् का भोज के अरीतिमत् से इतना संबन्ध है कि विद्यानाथ भी भोज के समान रीति का अर्थ दण्डी की रीति या मार्ग मानते हैं। किन्तु केशव की क्रमार्थक रीति ने उनके अरीतिमत् को महिमभट्ट के प्रक्रमभङ्ग का पर्याय बना दिया। केशव द्वारा निरूपित आठ अर्थदोषों में ही हम भोज के निरूपण का प्रभाव पाते हैं। यहाँ विरस का उल्लेख है जो भोज ने रुद्रट से लिया था। इसके अतिरिक्त केशव ने खिन्न का भी निरूपण किया है। जिसे सर्वप्रथम भोज ने स. क. आ. में प्रस्तुत किया था केशव ने भोज के ही विरस का पुनरुल्लेख किया है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि भोज ने विरस को विरुद्ध रससमावेश या क्रमापेत रस तक सीमित कर दिया था और एतदर्थ उन्होंने विरस के संबन्धित रस की अतिदीप्ति रूप द्वितीय भेद का परित्याग कर दिया था। केशव ने भी ऐसा ही किया है। भोज ने वर्णन के लिये उद्दिष्ट अर्थ के निर्वाह में कवि की असफलता को खिन्न दोष माना है। किन्तु केशव इसे अपेक्षित अर्थ में स्वीकार करते हैं। भोज के खिन्न का भी यही वास्तविक प्रभाव होता है। केशव ने खिन्न को अपुष्ट के समानान्तर माना है। यदि अर्थ खिन्न हो तो कवि अपने अर्थ को पोष नहीं दे सकता।

विश्वनाथ ने मम्मट का अनुसरण करते हुए पद वाक्य और वाक्यार्थ दोषों में उपमा दोषों को सम्मिलित नहीं किया है। किन्तु विद्यानाथ और केशव ने मम्मट का अनुसरण करते और उनसे बहुत कुछ उधार लेते हुए भी वाक्य और वाक्यार्थ दोषों में उपमा दोषों को सम्मिलित कर भोज का अनुगमन किया है।

संक्षेप में हमें दोषों के इतिहास में निम्नलिखित महत्वपूर्ण बात को ध्यान में रखना चाहिये। भरत और वामन के द्वारा बतलाई हुई गुण और दोष की परिभाषा कि गुणदोष के और दोषगुणों के विपर्यय है, आनन्दवर्धन द्वारा दोष को रस अर्थात् काव्य की आत्मा से संबन्धित बतलाना रस दोषों का प्रादुर्भाव, जिसमें संघटना-दोष आदि प्रमुख आते हैं। यह बात आनन्दवर्धन के पश्चात् काल की है। भामह के प्रथम अध्याय में कभी कभी दोषों के गुण बन जाने के विचार का प्रारम्भ इसी विचार का दण्डी के चतुर्थ अध्याय में विशदीकरण,

आनन्दवर्धन द्वारा दोषों को अनित्य बतलाना भोज का वैशेषिक गुण या दोषगुण प्रकरण दोषों की सहृदयोद्वेजक के रूप में परिभाषा, वामन द्वारा दोषों का शब्द, अर्थ पद और वाक्य दोषों में वर्गीकरण, रुद्रट द्वारा कही गई कुछ अतिरिक्त बातें, उनके द्वारा सर्वप्रथम प्रतिपादित विरस नामक रसदोष, महिमभट्ट द्वारा दी गई दोष की परिभाषा, अनौचित्य और उनके द्वारा जोड़े गये अविमृष्टविधेय, प्रक्रमभङ्ग क्रमभङ्ग उनके द्वारा रसदोषों का नियमबद्ध निरूपण मेधावी और भामह के उपमा दोष, रुद्रट के ग्रन्थ में उनकी संख्या घटाकर एक कर देना, दण्डी द्वारा प्रतिपादित उपमा दोषों के अपवाद, मम्मट द्वारा अन्य अलंकार दोषों का पूर्वपक्ष के रूप में ही सही, विशदीकरण, और अन्त में विद्यानाथ और केशवमिश्र के द्वारा दोषों के संबन्ध में एक सीमा तक भोज का अनुसरण ।



